प्रेमचंद



मानसरोवर भाग-4

[हिन्दीकोश]

Tittle: Manasarovar Bhag-4

Author: Premchand

Release Date: 31 May 2020

Edition: 2.0

Language: Hindi

While every precaution has been taken in the preparation of this book, the publisher assumes no responsibility for errors or omissions, or for damages resulting from the use of the information contained herein.

Suggestions and corrections are welcome.

Visit https://www.hindikosh.in for more...

मानसरोवर — भाग 4

प्रेरणा

मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज्यादा ऊधमी कोई लड़का न था, बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मेरा ऐसी विषम प्रकृति के शिष्य से सामना न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, परिश्रमी बालकों को छेड़ने और रुलाने में ही उसे आनन्द आता था। ऐसे-ऐसे षडयन्त्र रचता, ऐसे ऐसे फन्दे डालता, ऐसे-ऐसे बन्धन बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था। गिरोहबन्दी में अभ्यस्त था।

खुदाई फौजदारों की एक फौज बना ली थी और उसके आतंक से पाठशाला पर शासन करता था। मुख्य अधिष्ठाता (प्रिंसिपल) का आज्ञा टल जाए, मगर क्या मजाल कि कोई उसके हुक्म की अवज्ञा कर सके। स्कूल के चपरासी और अर्दली उससे थर-थर काँपते थी। इंस्पेक्टर का मुआइना होने वाला था, मुख्य अधिष्ठाता ने हुक्म दिया कि लड़के निर्दिष्ट समय से आध घंटा पहले आ जाए, मगर मतलब यह था कि लड़को को मुआइने के बारे में कुछ जरूरी बातें बता दी जाए। दस बज गए, इंस्पेक्टर

साहब आकर बैठ गए, और मदरसे में एक लड़का भी नहीं। ग्यारह बजे सब छात्र निकल पड़े, जैसे कोई पिंजरा खोल दिया गया हो। इंस्पेक्टर साहस ने कैफियत में लिखा — डिसिप्लिन बहुत खराब हैं।

प्रिंसिपल साहब की किरकिरी हुई, अध्यापक बदनाम हुए और यह सारी शरारत सूर्यप्रकाश की थी, मगर बहुत पूछताछ करने पर भी किसी ने सूर्यप्रकाश का नाम तक न लिया, मुझे अपनी संचालन-विधि पर गर्व था, ट्रेनिंग कॉलेज में इस विषय में मैंने ख्याति प्राप्त की थी, मगर यहाँ मेरा सारा संचालन-कौशल जैसे मोर्चा खा गया था। कुछ अक़्ल ही काम न करती कि शैतान को कैसे सन्मार्ग पर लाए। कई बार अध्यापकों की बैठक हुई, पर यह गिरह न खुली। नई शिक्षा-विधि के अनुसार में दंडनीति का पक्षपाती न था, मगर यहाँ हम इस नीति से केवल इसलिए विरक्त थे कि कहीं उपचार से रोग असाध्य न हो जाए। सूर्यप्रकाश को स्कूल से निकाल देने का प्रस्ताव भी किया गया, पर इसे अपनी अयोग्यता का प्रमाण समझकर हम इस नीति का व्यवहार करने का साहस न कर सके। बीस-बाईस अनुभवी और शिक्षा-शास्त्र से आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दंड बालक का सुधार न कर सकें, यह विचार निराशाजनक था। यों तो सारा स्कूल उससे त्राहि-त्राहि करता था, मगर सबसे ज्यादा संकट में मैं था, क्योंकि

वह मेरी कक्षा का छात्र था और उसकी शरारतों का कुफल मुझे भोगना पड़ता था।

मैं स्कूल आता, तो हरदम यही खटका लगा रहता था कि देखें आज क्या विपत्ति आती हैं। एक दिन मैंने अपनी मेज की दराज खोली, तो उसमें से एक बड़ा-सा मेढक निकल पड़ा। मैं चौंककर पीछे हटा तो क्लास में शोर मच गया। उसकी ओर सरोष नेत्रों से देखकर रह गया। सारा घंटा उपदेश में बीत गया और वह पट्ठा सिर झुकाए नीचे मुस्करा रहा था। मुझे आश्चर्य होता था कि यह नीचे की कक्षाओं में कैसे पास हुआ था।

एक दिन मैंने गुस्से से कहा — तुम इस कक्षा से उम्र भर नहीं पास हो सकते।

सूर्यप्रकाश ने अविचलित भाव से कहा — आप मेरे पास होने की चिन्ता न करें, मैं हमेश पास हुआ हूँ और अबकी भी हूँगा।

'असम्भव!'

'असम्भव सम्भव हो जाएगा!'

मैं आश्चर्य से उसका मुँह देखना लगा। जहीन-से-जहीन लड़का भी अपनी सफलता का दावा इतने निर्विवाद रूप से न कर सकता था। मैंने सोचा, वह प्रश्न-पत्र उड़ा लेता होगा। मैंने प्रतिज्ञा की,

अबकी इसकी एक चाल भी न चलने दूँगा। देखूँ, कितने दिन इस कक्षा में पड़ा रहता हैं। आप घबराकर निकल जाएगा।

वार्षिक परीक्षा के अवसर पर मैंने असाधारण देखभाल से काम लिया, मगर जब सूर्यप्रकाश का उत्तर-पत्र देखा, तो मेरे विस्मय की सीमा न रही। मेरे दो पर्चे थे, दोनों ही में उसके नम्बर कक्षा में सबसे अधिक थे। मुझे खूब मालूम था कि वह मेरे किसी पर्चे का कोई प्रश्न भी हल नहीं कर सकता। मैं इसे सिद्ध कर सकता था मगर उसके उत्तर-पत्र का क्या करता! लिपि में इतना भेद न था जो कोई सन्देह उत्पन्न कर सकता। मैंने प्रिंसिपल से कहा, तो वह भी चकरा गए, मगर उन्हें भी जान-बूझकर मक्खी निगलनी पड़ी। मैं कदाचित स्वभाव ही से निराशावादी हूँ। अन्य अध्यापकों को मैं सूर्यप्रकाश के विषय में जरा भी चिन्तित न पाता था। मानो ऐसे लड़को का स्कूल में आना कोई नई बात नहीं, मगर मेरे लिए वह एक विकट रहस्य था। अगर यही ढंग रहे, तो एक दिन या तो जेल में होगा, या पागलखाने में।

उसी साल मेरी तबादला हो गया। यद्यपि यहाँ की जलवायु मेरे अनुकूल थी, प्रिंसिपल और अन्य अध्यापकों से मैत्री हो गई थी। मैं अपने तबादले से खुश हुआ क्योंकि सूर्यप्रकाश मेरे मार्ग का काँटा न रहेगा। लड़कों ने मुझे विदाई की दावत दी और सब-के-सब स्टेशन तक पहुँचाने आए। उस वक्त सभी लड़के आँखों में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक सका। सहसा मेरी निगाह सूर्यप्रकाश पर पड़ी, जो सबसे पीछे लज्जित खड़ा था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखें भी भीगी थी। मेरा जी बार-बार चाहता था कि चलते-चलते उससे दो-चार बातें कर लूँ। शायद वह भी मुझसे कुछ कहना चाहता था, मगर न मैंने पहले बात की, न उसने, हालाँकि मुझे बहुत दिनों तक इसका खेद रहा। उसकी झिझक तो क्षमा के योग्य थी, पर मेरा अवरोध अक्षम्य था, सम्भव था, उस करुणा और ग्लानि की दशा में मेरी दो-चार निष्कपट बातें उसके दिल पर असर कर जाती, मगर इन्हीं खोये हुए अवसरों का नाम तो जीवन हैं। गाड़ी मन्द गति से चली। लड़के कई कदम तक उसके साथ दौड़े, मैं खिड़की से बाहर सिर निकालें खड़ा था। कुछ देर मुझे उनके हिलते रूमाल नजर आए। फिर वे रेखाएँ आकाश में विलीन हो गई, मगर एक अल्पकाय मूर्ति अब भी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मैंने अनुमान किया वह सूर्यप्रकाश हैं। उस समय मेरा हृदय किसी विकल

कैदी की भाँति घृणा, मालिन्य और उदासीनता के बन्धनों को तोड़-तोड़कर उसके गले मिलने के लिए तड़प उठा।

नए स्थान की नई चिन्ताओं ने बहुत जल्द मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पिछले दिनों की याद एक हसरत बनकर रह गई। न किसी का खत आया, न मैंने ही कोई खत लिखा। शायद दुनिया का यही दस्तूर हैं। वर्षा के बाद वर्षा का हरियाली कितने दिनों रहती हैं। संयोग से मुझे इंग्लैंड में विद्याभ्यास करने का अवसर मिल गया। वहाँ तीन साल लग गए।

वहाँ से लौटा तो एक कॉलेज का प्रिंसिपल बना दिया गया। यह सिद्धि मेरे लिए बिल्कुल आशातीत थी। मेरी भावना स्वप्न में भी इतनी दूर न उड़ी थी, किन्तु पद-लिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मंत्री से रब्त-जब्त पैदा किया। मंत्री महोदय मुझ पर कृपा रखते थे, मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मुझ पर डाल दिया। घोड़े पर सवार थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियों से मेरा विरोध हो गया। मुझ पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मैं सिद्धान्त रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ, मेरा विचार हैं कि हर मनुष्य को उन विषयों में ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिए, जिनका उनसे निज सम्बन्ध हैं। मेरा विचार हैं कि यूरोप में

अनिवार्य शिक्षा की जरूरत हैं, भारत में नहीं। भौतिकता पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्त्व हैं। वहाँ किसी काम की प्रेरणा, आर्थिक लाभ के आधार पर होती हैं। जिन्दगी की जरूरत ज्यादा हैं, इसलिए जीवन-संग्राम भी अधिक भीषण हैं। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चों को जल्द-से-जल्द कुछ कमाने पर मजबूर करते हैं। इसकी जगह कि यह मद का त्याग करके एक शिलिंग रोज बचत कर लें, वे अपने कमसिन बच्चों के एक शिलिंग की मजदूरी करने के लिए दबायेंगें। भारतीय जीवन में सात्विक सरलता हैं। हम उस वक्त तक बच्चों से मजदूरी नहीं कराते, जब तक परिस्थिति हमें विवश न कर दे। दरिद्र-से-दरिद्र हिन्दुस्तानी मजदूर भी शिक्षा के उपकारों का कायल हैं। उसके मन में यह अभिलाषा होती हैं कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाए। इसलिए नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा, बल्कि इसलिए की विद्या मानवी शील का एक शृंगार हैं। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चें को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिए कि वह मजबूर हैं। ऐसी दशा में उस पर कानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं हैं। इसके सिवाय मेरे विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव हैं। अर्द्ध-शिक्षित और अल्पवेतन पाने वाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते हैं कि वह कोई ऊँचा आदर्श आपके सामने रख सकें। अधिक-से-

अधिक इतना होगा कि चार-पाँच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जाएगा। मैं इसे पर्वत-खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। व्यस्कता प्राप्त हो जाने पर यह मसला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता हैं। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ? मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती हैं, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बन्द करके आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं। इसीलिए जब प्रांतीय व्यवस्थापक-सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया।

नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया, फिर क्या था, मिनिस्टर साहब की और मेरी वह ले-दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिए। व्यक्तिगत आक्षेप किए जाने लगे। मैं गरीब की बीवी था, मुझे सबकी भाभी बनना पड़ा। मुझे देशद्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का गुलाम कहा गया। मेरे कॉलेज में जरा-सी भी कोई बात होती तो कौंसिल में मुझ पर दोषारोपण की वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक किया। सारी कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड़ गई। आखिर मिनिस्टर साहब को

मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। शायद कोई भी इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिए दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कॉलेज के आंतरिक संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरी नाक में दम कर दिया था। इस नई चोट ने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम-से-कम इस विषय में न्याय-परायणता से काम लेंगे, मगर उन्होंने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गए थे। उन्हीं दिनों पत्नी का देहान्त हो गया। अन्तिम दर्शन भी न कर सका। सन्ध्या-समय नदी-तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थी। लौटा, तो उसकी लाश मिली। कदाचित हृदय की गति बन्द हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान पुरुष कृतार्थ हो गए हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और

आशीर्वाद से हुआ, वह मेरे भाग्य की विधात्री थी। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उनके माधुर्य में तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उनकी भृकुटी संकुचित देखी हो, वह निराश होना तो जानती ही न थी। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य निराश हो गए, पर वह अपने धैर्य और शान्ति से अणु-मात्र भी विचलित नहीं हुई। उन्हें विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवन-काल में मरूँगी और वही हुआ भी। मैं जीवन में अब तक उन्हीं के सहारे खड़ा था! अब वह अवलम्ब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं हैं। जीवन का नाम हैं, सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। यह लगन गायब हो गई। मैं संसार से विरक्त हो गया और एकान्तवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे से गाँव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने गंगा के किनारे एक छोटा-सा घर बना लिया और उसी में रहने लगा।

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव हैं। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैंने एक छोटी-सी पाठशाला खोल ली, एक वृक्ष की छाँह में गाँव के लड़कों का जमा करके कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन जब मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस जिले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेश में एक हाकिम से मिलते मुझे शर्म आ रही थी। डिप्टी कमिश्नर मेरे पास आए तो मैंने झेंपते हुए हाथ बढ़ाया, मगर वह मुझसे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उनपर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अंग्रेजी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ, मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार ही वस्तु हैं। अगर मैं ब्राह्मण होता तो एक बात थी। हालाँकि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिंतनीय हैं।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ देखकर कहा — आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गए, बोला — आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं हैं?

'जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।'

'बारह-तेरह वर्ष हो गए।'

सूर्यप्रकाश ने मुस्कराकर कहा — अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं, पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा — तुम जैसे लड़कों को भूलना असम्भव हैं।

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर में कहा — उन्हीं अपराधों को क्षमा कराने के लिए आपकी सेवा में आया हूँ। मैं सदैव आपकी खबर लेता रहता था। जब आप इंग्लैंड गए, तो मैंने आपके लिए बधाई का पत्र लिखा, पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिंसिपल हुए, मैं इंग्लैंड जाने को तैयार था, वहाँ मैं पत्रिकाओं में आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और किसी देहात में चले गए हैं। इस जिले में आए हुए

मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ, पर इसका जरा भी अनुमान न था कि आप यहाँ एकान्त सेवन कर रहे हैं। इस उजाड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता हैं? इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया?

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्य हुआ। अगर वह मेरा पुत्र होता तो भी इससे अधिक आनन्द न होता। मैं उसे अपने झोंपड़े में लाया और अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा — तो यह कहिए कि आप अपने ही भाई के विश्वासघात के शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम हैं, मगर इतने दिनों में मुझे मालूम हो गया हैं, कि हम लोग अभी अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर से भेंट हुई तो पूछूँगा, कि यही आपकी धर्म था।

मैंने जवाब दिया — भाई, उनका दोष नहीं हैं, सम्भव हैं, इस दशा में मैं भी वही करता, जो उन्होंने किया। मुझे अपनी स्वार्थलिप्सा की सजा मिल गई और उसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शान्ति हैं, वह और कहीं न थी। इस एकान्त-जीवन में कुछ जीवन के तत्त्वों का वह ज्ञान हुआ, जो सम्पत्ति और अधिकार की दौड़ से किसी तरह सम्भव न

था, इतिहास और भूगोल के पोथे चाटकर और यूरोप के विद्यालयों की शरण में जाकर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका, बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बगैर छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते, सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिन्दगी ही जीनों का काम देती हैं। आप कुचलकर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं. वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता हैं कि उस वक्त मैं हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ था और मेरी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों और सन्तोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं से प्रशंसा या गौरव की लालसा हैं।

यह कह कर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर गौर से देखा, कपट मुस्कान की जगह ग्लानि का रंग था। शायद यह दिखाने आया था कि आप जिसकी तरफ से इतने निराश हो गए थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा हैं। वह मुझसे अपने सदुद्योग का बखान कराना चाहता था, मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई, एक सम्पन्न आदमी के सामने समृद्धि की निन्दा उचित नहीं। मैंने तुरन्त बात पलट कर कहा — मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया पलट कैसे हुई? तुम्हारी शरारतों को याद

करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं, किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।

सूर्यप्रकाश ने मुस्कराकर कहा — आपका आशीर्वाद था।

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृतान्त सुनाना शुरू किया —

'आपके चले आने के कई दिनों बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाखिल हुआ, उसकी उम्र आठ-नौ साल से ज्यादा न थी, प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हें इस संकट में देखकर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा — उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिए।

'प्रिंसिपल साहब ने इसे नियम-विरुद्ध बतलाया, इस पर मैंने बिगड़ उसी दिन होस्टल छोड़ दिया और एक किराए का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी माँ कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमजोर और गरीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उस पर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आए दिन कोई-न-कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुआ और झपकियाँ आने लगी। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता।

रात को बहुधा चौंक कर मेरी चारपाई पर आ जाता। मेरे गले से लिपटकर सोता। मुझे उस पर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ पहले नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गरम करता। फिर उसे उठा कर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु सेवन को ले जाता। मैं जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य हैं, उसे कोई शिकायत हो जाती तो मेरे प्राण नखों मे समा जाते। डॉक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिन्ता लगी रहती थी कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न जाए, इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन हैं? मेरे चंचल मित्रों में से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता तो मेरी त्योरियाँ बदल जाती थी! कई लड़के तो मुझे बूढ़ी दाई कहकर चिढ़ाते थे, पर मैं हँस कर टाल देता था, मैं उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकालता। यह शंका होती थी कि कहीं मेरी देखा-देखी यह भी खराब न हो जाए, मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बडे

तक मटरगश्ती करना, नई-नई शरारतों के मनसूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचाकर स्कूल से उड़ जाना, सब आप-ही-आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र पालन के सिद्धान्तों का मैं शत्रु था, पर अब मुझसे बढ़कर नियमों को रक्षक दूसरा न था। मैं ईश्वर का उपहास किया करता, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे, इस प्रश्न का मजाक उड़ाना मेरे लिए असम्भव था। मैं कहता — हाँ परमात्मा तुम्हारे, हमारे सबके पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनन्द से खिल उठता था, कदाचित वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था, साल भर में मोहन कुछ से कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आए, तो उसे देकर चकित हो गए। आँखों में आँसू भरकर बोले — बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था, इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी माँ स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हें आशीर्वाद दे रही हैं।'

सूर्यप्रकाश की आँखें भी उस वक्त सजल हो गई थी।

मैंने पूछा — मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?

सूर्यप्रकाश ने सजल नेत्रों में हसरत भरा आनन्द फिर चमक उठा, फिर बोला — वह मुझे एक मिनट के लिए भी न छोड़ता था, मेरे साथ बैठता, मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता, मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वह संसार में नहीं हैं, मगर मेरे लिए वह अब भी उसी तरह जीता-जागता हैं। मैं जो कुछ हूँ, उसी का बनाया हुआ हूँ, अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथ-प्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था, अगर तुम रोज नहा न लिया करोगे तो मैं तुमसे न बोलूँगा। नहाने से वह न जाने क्यों जी चुराता था, मेरी धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा, कितनी ही सर्दी क्यों न हो, कितनी ही ठंडी हवा चले, लेकिन स्नान अवश्य करता था। देखता रहता था, मैं किस बात से खुश होता हूँ। एक दिन मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा, तो देखा कि वह बैठा हुआ हैं! मैंने पूछा — तुम सोए नहीं? उसने कहा — नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चों में प्यार की जो भूख होती है — दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक, जो माँ की गोद के सामने संसार की निधि की भी परवाह नहीं करती, मोहन की वह भूख कभी सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकराने वाली सारस की

आवाज की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूँजा करता थी। जैसे भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती हैं, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक किया जाता, तो उसकी कोमल बेल के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन में प्रकाश की एक रेखा डालकर अन्धकार नें विलीन हो गया। उस जीर्ण काया में कैसे-कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित ईश्वर ने मेरे जीवन में एक अवलम्ब की सृष्टि के लिए उसे भेजा था। उद्देश्य पूरा हो गया तो वह क्यों रहता।

4

'गर्मियों की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे साथ ही रहा था। मामाजी के आग्रह करने पर भी घर न आया। अबकी कॉलेज के छात्रों ने कश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। कश्मीर यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इसी अवसर को गनीमत समझा। मोहन को मामाजी के पास भेजकर मैं कश्मीर चला गया। दो महीने बाद लौटा तो मालूम हुआ मोहन बीमार हैं। कश्मीर में मुझे बार-बार

मोहन की याद आती थी और जी चाहता था, लौट जाऊँ। मुझे उस पर इतना प्रेम हैं, इसका अन्दाज मुझे कश्मीर जाकर हुआ, लेकिन मित्रों ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की खबर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे चेहरे पर आनन्द की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़कर उसके गले से लिपट गया। उसकी आँखों में वह दूरदृष्टि और चेहरे पर वह अलौकिक आभा थी जो मँडराती हुई मृत्यु की सूचना देती हैं। मैंने आवेश से काँपते हुए स्वर में पूछा — यह तुम्हारी क्या दशा हैं मोहन? दो महीने में यह नौबत पहुँच गई? मोहन ने सरल मुस्कान के साथ कहा — आप कश्मीर की सैर करने गए थे, मैं आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।

'मगर यह दुःख की कहानी कह कर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढ़ने लगा मानो तपस्या कर रहा हो, उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल भर की पढ़ाई दो महीने में समाप्त कर ले और स्कूल खुलने के बाद मुझसे इस श्रम का प्रशंसारूपी उपहार प्राप्त करे। मैं किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से बखान करूँगा, इन भावनाओं ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता से उसे वशीभूत कर लिया। मामाजी को दफ्तर के

कामों से इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनोरंजन का ध्यान रखें। शायद उसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते देखकर वह दिल में खुश होते थे। उसे खेलते देख कर वह जरूर डाँटते। पढ़ते देखकर भला क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा, किन्तु उस दशा में भी उसने पढना नहीं छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और बढ़ा। पर उस दशा में भी ज्वर कुछ हल्का हो जाता, तो किताबें देखने लगता था। उसके प्राण मुझमें ही बने रहते थे। ज्वर की दशा में भी नौकरों से पूछता — भैया का पत्र आया? वह कब आएँगे?

'इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी, अगर मुझे मालूम होता कि मेरी कश्मीर यात्रा इतना महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सकता था, वह मैंने किया, किन्तु बुखार टाइफाइड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिए किसी ऋषि के आशीर्वाद बनकर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल हैं कि आज आप मुझे इस दशा में देख रहे हैं। मोहन की बाल अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर मुझे यह सन्तोष होता हैं कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देखकर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी कि जिसने कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में भी

मेरा बेड़ा पार लगाया, नहीं तो मैं आज भी वहीं मन्दबुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ जिसकी सूरत से आप चिढ़ते थे।'

उस दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ। वह जब इस तरफ आ जाता हैं, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता। मोहन को वह अपना इष्टदेव समझता हैं। मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य हैं, जिसे मैं आज तक नहीं समझ सका।

सद्गति

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने-अपने काम से फुर्सत पा चुके तो चमारिन ने कहा — तो जाके पंडित बाबा से कह आओ न, कहीं ऐसा न हो कहीं चले जाएँ।

दुखी ने कहा — हाँ जाता हूँ, लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर?

झुरिया — कहीं से खटिया न मिल जाएगी? ठुकराने से माँग लाना।

दुखी ने कहा — तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती हैं कि देह जल जाती हैं। ठुकराने वाले मुझे खटिया देंगे! आग तक तो घर से निकलती नहीं खटिया देंगे! कैथाने (आँगन) में जाकर एक लोटा पानी माँगू तो न मिले, भला खटिया कौन देगा! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं कि जो चाहे उठा ले जाएँ। ले अपनी खटोली धोकर रख दे, गरमी के तो दिन हैं, उनके आते-आते सूख जाएगी।

झुरिया ने कहा — वह हमारी खटोली पर बैठेंगे नहीं, देखते नहीं कितने नेम-धरम से रहते हैं।

दुखी ने जरा चिंतित होकर कहा — हाँ, यह बात तो हैं, महुए के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाए। पत्तल में बड़े-बड़े आदमी खाते हैं, वह पवित्तर हैं, ला तो डंडा, पत्ते तोड़ लूँ।

झुरिया ने कहा — पत्तल मैं बना लूँगी, तुम जाओ। लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा, अपनी थाली में रख दूँ?

दुखी ने कहा — कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाए और थाली भी फूटें! बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी क्रोध चढ़ जाता हैं। क्रोध में पंडिताइन तक को नहीं छोड़ते, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिए फिरता हैं। पत्तल में सीधा भी देना। हाँ, मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साहू की दुकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं तो गजब हो जाएगा।

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठाई और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पंडितजी से अर्ज करने चला। खाली

हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता, नजराने के लिए उसके पास घास के सिवाय और क्या था, उसे खाली हाथ देखकर तो बाबा दूर ही से दुत्कारते।

2

पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे, नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घंटे तक चन्दन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते! ईशोपासना का तत्काल फल मिल जाता, वही उनकी खेती थी।

आज पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का गट्ठा लिए बैठा हैं। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और साष्टांग दंडवत करके हाथ बाँधकर खड़ा हो गया। यह तेजस्वी मूर्ति

देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया! कितनी दिव्य मूर्ति थी, छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चन्दन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले — आज कैसे चला रे दुखिया?

दुखी ने सिर झुकाकर कहा — बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन विचारना हैं, कब मर्जी होगी?

घासी ने कहा — आज मुझे छुट्टी नहीं हैं। हाँ, साँझ तक आ जाऊँगा।

दुखी ने कहा — नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाए। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ?

घासी ने कहा — इसे गाय के सामने डाल दे और जरा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे। यह बैठक भी कई दिनों से लीपी नहीं गई, गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर जरा आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा हैं, उसे भी उठा लाना और भुसौले में रख देना।

दुखी फौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाड़ू लगाई, बैठक को गोबर से लीपा। तब बारह बज गए। पंडितजी भोजन

करने चले गए। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी जोर की भूख लगी, पर वहाँ खाने को क्या धरा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने जाए तो पंडितजी बिगड़ जाएँ। बेचारे ने भूख दबाई और लकड़ी फाड़ने लगा। लकड़ी की मोटी-सी गाँठ थी, जिस पर पहले कितने भक्तों ने अपना जोर आजमा लिया था। वह उसी दम-खम के साथ लोहे से लोहा लेने के लिए तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाजार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता, पर गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँफता था, थककर बैठ जाता, फिर उठता था। हाथ उठाए न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर सीधी न होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था। सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं। फिर भी अपना काम किए जाता था। अगर एक चिलम तम्बाकू पीने को मिल जाती, तो शायद कुछ ताकत आती। उसने सोचा — यहाँ चिलम और तम्बाकू कहाँ मिलेगी। ब्राह्मणों का पूरा पडोस हैं। ब्राह्मण लोग हम नीच जातों की तरह तम्बाकू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड़ भी रहता हैं, उसके यहाँ जरूर चिलम-तम्बाकू होगा, तुरन्त उसके घर दौड़ा, खैर मेहनत सुफल हुई, उसने तम्बाकू भी

दी और चिलम भी, पर आग वहाँ न थी। दुखी ने कहा — आग की चिन्ता न करो भाई, मैं जाता हूँ, पंडितजी के घर से आग माँग लूँगा, वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी।

यह कहता हुआ वह दोनों चीजें लेकर चला आया और पंडितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला — मालिक, रचिक (थोड़ी-सी) आग मिल जाए, तो चिलम पी लें।

पंडितजी भोजन कर रहे थे। पंडिताइन ने पूछा — यह कौन आदमी आग माँग रहा हैं?

पंडित ने कहा — अरे वही ससुरा दुखिया चमार हैं, कहा हैं थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे, आग तो हैं, दे दो।

पंडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा — तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाए घर में चला आए। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाए, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूँगी, आग माँगने चले हैं।

पंडितजी ने समझाकर कहा — भीतर आ गया, तो क्या हुआ, तुम्हारी कोई चीज तो नहीं छुई, धरती पवित्र हैं, जरा-सी आग दे क्यों नहीं देती, काम तो हमारा ही कर रहा हैं, कोई लोनिया यही लकड़ी फाड़ता, तो कम-से-कम चार आने लेता।

पंडिताइन ने गरज कर कहा — वह घर में आया क्यों!

पंडित ने हारकर कहा — ससुरे का अभाग था और क्या!

पंडिताइन ने कहा — अच्छा, इस बखत तो आग दिए देती हूँ, लेकिन फिर जो इस तरह घर में आएगा, तो उसका मुँह ही जला दूँगी।

दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही था। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आए। बड़े पवित्तर होते हैं यह लोग, तभी तो संसार पूजता हैं, तभी तो इतना मान हैं, भर-चमार थोड़े ही हैं, इसी गाँव में बूढ़ा हो गया, मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।

इसलिए जब पंडिताइन आग लेकर निकलीं, तो वह मानो स्वर्ग का वरदान पा गया। दोनों हाथ जोड़कर जमीन पर माथा टेकता हुआ बोला — पंडाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया, चमार की अकल ही तो ठहरी, इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते।

पंडिताइन चिमटे से पकड़कर आग लाई थी, पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ आग फेंकी, आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर पर पड़ गई, जल्दी से पीछे हट कर सिर के झोटे देने लगा। उसने मन में कहा — 'यह एक पवित्तर

बराम्हन के घर को अपवित्तर करने का फल हैं, भगवान ने कितनी जल्दी फल दिया, इसी से तो संसार पंडितों से डरता हैं, और सबके रुपए मारे जाते हैं, बराम्हन के रुपए भला कोई मार तो ले! घर भर का सत्यानाश हो जाए, पाँव गल-गलकर गिरने लगे।

बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाड़ी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाजें आने लगी। उस पर आग पड़ गई, तो पंडिताइन को उस पर कुछ दया आ गई। पंडितजी भोजन करके उठे, तो बोली — इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है, भूखा होगा।

पंडितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से दूर समझकर पूछा — रोटियाँ हैं?

पंडिताइन ने कहा — दो-चार बच जाएँगी।

पंडित ने कहा — दो-चार रोटियों में क्या होगा? चमार हैं, कम-से-कम सेर भर चढ़ा जाएगा।

पंडिताइन कानों पर हाथ रखकर बोली — अरे बाप रे बाप! सेर भर! तो फिर रहने दो।

पंडित ने अब सेर बनकर कहा — कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्ट ठोंक दो, साले का पेट भर जाएगा, पतली रोटियों से इन नीचो का पेट नहीं भरता, इन्हें तो जुआर का लिट्ट चाहिए।

पंडिताइन ने कहा — अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।

3

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से जरा हाथों में ताकत आ गई थी। कोई आध घंटे तक फिर कुल्हाड़ी चलाता रहा, फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया।

इतने में गोंड़ आ गया और बोला — क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गाँठ न फटेगा, नाहक हलाकन होते हो।

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा — अभी गाड़ी-भर भूसा ढोना हैं भाई!

गोंड़ ने कहा — कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं, जाके माँगते क्यों नहीं?

दुखी ने कहा — कैसी बात करते हो चिखुरी, बाह्मन की रोटी हमको पचेगी!

गोंड़ ने कहा — पचने को पच जाएगी, पहले मिले तो, मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोए, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया, जमींदार भी कुछ खाने को देता हैं, हाकिम भी बेगार लेता हैं, तो थोड़ी बहुत मजूरी देता हैं, यह उनसे भी बढ़ गए. उस पर धर्मात्मा बनते हैं।

दुखी ने कहा — धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें तो आफत आ जाए।

यह कहकर दुखी फिर सँभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उस पर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छ्रान ली और आध घंटे खूब कस-कसकर कुल्हाड़ी चलाई, गाँठ में दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फैंक दी और यह कह कर चला गया — तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाए।

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पड़ती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सौ काम पड़े हैं। कार-परोजन का घर हैं, एक-न-एक चीज घटी ही रहती हैं, पर इन्हें क्या चिन्ता।

चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ। कह दूँगा, बाबा, आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा।

उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा। खलिहान यहाँ से दो फरलांग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भर कर लाता तो काम जल्द खत्म हो जाता, फिर झौवे को उठाता कौन। अकेले भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं भूसा खत्म हुआ। पंडितजी की नींद खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया और बाहर निकले, देखा, तो दुखी झौवा सिर पर रखे सो रहा हैं।

पंडितजी जोर से बोला — अरे, दुखिया तू सो रहा हैं? लकड़ी तो अभी ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई हैं, इतनी देर तू करता क्या रहा? मुट्ठी भर भूसा ढोने में साँझ कर दी! उस पर सो रहा हैं। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल, तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती, फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना! इसी से कही हैं नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँखें बदली।

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठाई, जो बातें पहले से सोच रखी थी, वह सब भूल गया। पेट पीठ में धँसा जाता था, आज सवेरे से जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना ही पहाड़

मालूम होता था। जी डूबा जाता था, पर दिल को समझाकर उठा। पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारे तो फिर सत्यानाश ही हो जाए। जभी तो संसार में इतना मान हैं। कही साइत ही का तो सब खेल हैं। जिसे चाहे बिगाड़ दे। पंडितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गए और बढ़ावा देने लगे — हाँ, मार कसके, और मार, कसके मार, अबे जोर से मार, तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं हैं, लगा कसके, खड़ा सोचने क्या लगता हैं, हाँ, बस फटा ही चाहती हैं! दे उसी दरार में!

दुखी अपने होश में न था। न-जाने कौन-सी गुप्तशक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकान, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गई। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं विश्वास नही हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आध घंटे तक वह इसी उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक की लकड़ी बीच से फट गई और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूट कर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।

पंडितजी ने पुकारा — उठ के दो-चार हाथ और लगा दे, पतली-पतली चैलियाँ हो जाए।

दुखी न उठा। पंडितजी ने अब उसे दिक करना उचित न समझा। भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गए, स्नान किया और पंडिताइन बाना पहनकर बाहर निकले! दुखी अभी तक वही पड़ा हुआ था।

पंडित ने जोर से पुकारा — अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ, सब सामान ठीक-ठाक हैं न?

दुखी फिर भी न उठा।

अब पंडितजी को कुछ शंका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पंडिताइन से बोले — दुखिया तो जैसे मर गया।

पंडिताइन हकबकाकर बोली — वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न?

पंडित न कहा — हाँ, लकड़ी चीरते-चीरते मर गया, अब क्या होगा?

पंडिताइन ने शान्त होकर कहा — होगा क्या चमरौने में कहला भेजो मुर्दा उठा ले जाए।

एक क्षण में गाँव भर में खबर हो गई। पूरे में ब्राह्मणों की बस्ती थी। केवल एक घर गोड़ का था। लोगों ने इधर का

रास्ता छोड़ दिया। कुँए का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाए! चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाए।

एक बुढ़िया ने पंडितजी से कहा — अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं? कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं।

इधर गोंड़ ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया — खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना, अभी पुलिस की तहकीकात होगी, दिल्लगी हैं कि एक गरीब की जान ले ली। पंडितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे, लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़े जाओगे।

इसके बाद ही पंडितजी पहुँचे, पर चमरौने का कोई आदमी लाश उठाने को तैयार न हुआ। हाँ, दुखी की स्त्री और कन्या दोनो हाय-हाय करती वहाँ के लिए चल पड़ी और पंडितजी के द्वार पर आकर सिर पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके साथ दस-पाँच और चमारिनें थी। कोई रोती थी, कोई समझाती थी, पर चमार एक भी न था। पंडितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की, पर चमारों के दिल पर पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न माना, आखिर पंडित निराश होकर लौट गए।

आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया और ब्राह्मण चमार की लाश कैसे उठाते! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा हैं? कहीं कोई दिखा दे।

पंडिताइन ने झुँझलाकर कहा — इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली, किसी का गला भी नहीं पकता।

पंडित ने कहा — रोने दो चुड़ैलों को, कब तक रोयेगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था, मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब-की-सब आ पहुँची।

पंडिताइन ने कहा — चमार को रोना मनहूस हैं।

पंडित ने कहा — हाँ, बहुत मनहूस।

पंडिताइन ने कहा — अभी से दुर्गन्ध उठने लगी।

पंडित ने कहा — चमार था ससुरा कि नहीं। साध-असाध किसी का विचार हैं इन सबों को।

पंडिताइन ने कहा — इन सबों को घिन भी नहीं लगती।

पंडित ने कहा — भ्रष्ट हैं सब।

रात तो किसी तरह कटी, मगर सबेरे भी कोई चमार न आया। चमारिनें भी रो-पीटकर चला गई। दुर्गन्ध कुछ-कुछ फैलने लगी।

पंडितजी ने एक रस्सी निकाली। उसका फन्दा बनाकर मुर्दे के पैर में डाला और फन्दे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुंधलका था। पंडितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गए। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़, गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।

तगादा

सेठ चेतराम ने स्नान किया, शिवजी को जल चढ़ाया, दो दाने मिर्च के चबाये, दो लोटे पानी पिया और सोटा लेकर तगादे पर चले।

सेठजी की उम्र कोई पचास साल की थी। सिर के बाल झड़ गए थे और खोपड़ी ऐसी साफ-सुथरी निकल आई थी, जैसे ऊसर खेत। आपकी आँखें थी तो छोटी, लेकिन बिल्कुल गोल। चेहरे के नीचे पेट था और पेट के नीचे टाँगे, मानो किसी पीपे में दो मेखें गाड़ दी गई हो, लेकिन यह खाली-पीपा न था। इसमें सजीवता और कर्म-शीलता कूट-कूटकर भरी हुई थी। किसी बाकीदार असामी के सामने इस पीपे का उछलना-कूदना और पैंतरे बदलना देखकर किसी नट का चिंगिया भी लज्जित हो जाता। ऐसी आँखें लाल-पीला करते, ऐसे गरजते कि दर्शकों की भीड़ लग जाती थी। उन्हें कंजूस तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब वह दुकान पर होते, तो हरेक भिखमंगे के सामने एक कौड़ी फेंक देते। हाँ, उस समय उनके माथे पर कुछ ऐसा बल पड़ जाता, आँखें कुछ ऐसे प्रचंड हो जाती, नाक कुछ ऐसी सिकुड़ जाती कि भिखारी फिर दुकान पर न आता। लहने का बाप का तगादा

हैं, इस सिद्धान्त के वह अनन्य भक्त थे। जलपान करने के बाद सन्ध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के माथे दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त का भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं हैं! एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षो के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिए थे। फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिए भी दूध, दही, तेल, तरकारी, उपले ईधन मिल जाते थे। बहुधा सन्ध्या का भोजन भी न करना पड़ता था इसलिए तगादे से न चूकते थे। आसमान फटा पड़ता हो, आग बरस रही हो, आँधी आती हो, पर सेठजी प्रकृति के अटल नियम की भाँति तगादे पर जरूर निकल जाते।

सेठानी ने पूछा — भोजन?

सेठजी ने गरजकर कहा — नहीं।

'साँझ का?'

'आने पर देखी जाएगी।'

2

सेठजी के एक किसान पर पाँच रुपये आते थे। छः महीने से दुष्ट ने सूद-ब्याज कुछ न दिया था और न कभी कोई सौगात लेकर हाजिर हुआ था। उसका घर तीस कोस से कम न था, इसलिए सेठजी टालते जाते थे। आज उन्होंने उसी गाँव चलने का निश्चय कर लिया। आज दुष्ट से बिना रुपए लिए न मानूँगा, चाहे कितना ही रोये, घिघियाये। मगर इतनी लम्बी यात्रा पैदल करना निन्दास्पद था। लोग कहेंगे — नाम बड़े दर्शन थोड़े, कहलाने के सेठ। चलते हैं पैदल, इसलिए मन्थर गति से इधर-उधर ताकते, राहगीरों से बातें करते चले जाते थे कि लोग समझें वायु-सेवन करने जा रहे हैं।

सहसा एक खाली इक्का उनकी तरफ आता हुआ मिल गया। इक्केवान ने पूछा — कहो लाला, कहाँ जाना हैं?

सेठजी ने कहा — जाना तो कहीं नहीं हैं, दो परग तो और हैं, लेकिन लाओ बैठ जाएँ।

इक्केवाले ने चुभती हुई आँखों से सेठजी को देखा, सेठजी ने भी अपनी लाल आँखों से उसे घूरा। दोनो समझ गए, आज लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

इक्का चला। सेठजी ने पहला वार किया — कहाँ घर हैं मियाँ साहब?

'घर कहाँ हैं हुजूर, जहाँ पड़ रहूँ, वही घर हैं। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेदर हूँ और सबसे बड़ी बात यह हैं कि बेपर हूँ। तकदीर ने पर काट लिए। लँडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकलेदार थे हुजूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहें तोप-दम कर दें, फाँसी पर लटका दें। निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ नजर चढ़ जाती थी हुजूर। नवाब साहब भाई की तरह मानते थे। एक दिन वह थे, एक दिन यह हैं कि हम आप लोगों की गुलामी कर रहे हैं। दिनों का फेर हैं।

सेठजी को हाथ मिलाते ही मालूम हो गया, पक्का फिकैत हैं, अखाड़ेबाज, इससे पेश पाना मुश्किल हैं, पर अब तो कुश्ती बद ही गई थी, अखाड़े में उतर पड़े थे फिर बोले — तो कहो कि बादशाही घराने के हो। यह सूरत ही गवाही दे रही हैं, दिनों का फेर हैं भाई, सब दिन बराबर नहीं होते। हमारे यहाँ लक्ष्मी को चंचला कहते हैं, बराबर चलती रहती हैं, आज मेरे घर, कल तुम्हारे घर। तुम्हारे दादा ने रुपए तो खूब छोड़े होंगे?

इक्केवाले ने कहा — अरे सेठ, उस दौलत का कोई हिसाब न था, न जाने कितने तहखाने भरे हुए थे! बोरों में सोने-चाँदी के डले रखे

हुए थे, जवाहरात टोकरियों में भरे पड़े थे, एक-एक पत्थर पचास-पचास लाख का। चमक-दमक ऐसी थी, कि चिराग मात, मगर तकदीर भी तो कोई चीज हैं, इधर दादा का चालीसवाँ हुआ, उधर नवाबी बुर्द हुई, सारा खजाना लुट गया, छकड़ों पर लाद-लाद कर लोग जवाहरात ले गए। फिर भी घर में इतना बचा रहा कि अब्बाजान ने जिन्दगी भर ऐश किया, कि क्या कोई भकुवा करेगा, सोलह कहारों के सुखपाल पर निकलते थे। आगे-पीछे चोबदार दौड़ते चलते थे, फिर भी मेरे गुजर भर को उन्होंने बहुत छोड़ा, अगर हिसाब-किताब से रहता तो आज भला आदमी होता, लेकिन रईस का बेटा रईस ही तो होगा, एक बोतल चढ़ाकर बिस्तर से उठता था, रात-रात भर मुजरे होते रहते थे। क्या जानता था, एक दिन यह ठोकरें खानी पड़ेगी?

सेठ ने कहा — अल्ला मियाँ का सुकुर करो भाई कि ईमानदारी से अपने बाल-बच्चों की परवरिश तो करते हो, नहीं तो हमारे-तुम्हारे कितने ही भाई रात-दिन कुकर्म करते रहते हैं, फिर भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। ईमान की सलामती चाहिए, दिन तो सब के कट जाते हैं, दूध-रोटी खाकर कटे तो क्या, सूखे चने चबाकर कटे तो क्या। बड़ी बात तो ईमान हैं, मुझे तो तुम्हारी सूरत देखकर ही मालूम हो गया था, कि नीयत के साफ सच्चे आदमी हो, बेईमानों की तो सूरत ही से फटकार बरसती हैं।

इक्केवाले ने कहा — सेठजी, आपने ठीक कहा कि ईमान सलामत रहे, तो सब कुछ हैं। आप लोगों से चार पैसे मिल जाते हैं, वही बाल-बच्चों को खिला-पिलाकर पड़ा रहता हूँ। हुजूर, और इक्केवालों को देखिए, तो कोई किसी मर्ज मे मुब्तिला हैं, कोई किसी मर्ज में, मैंने तौबा बोला! ऐसा काम ही क्यों करें, कि मुसीबत में फँसे, बड़ा कुनबा हैं हुजूर, माँ हैं, बच्चे हैं, कई बेवाएँ हैं और कमाई यही इक्का हैं, फिर भी अल्लाह मियाँ किसी तरह निबाहे जाते हैं।

सेठ ने कहा — वह बड़ा कारसाज हैं खाँ साहब, तुम्हारी कमाई में हमेशा बरकत होगी।

इक्केवाले ने कहा — आप लोगों की मेहरबानी चाहिए।

सेठ — भगवान की मेहरबानगी चाहिए। तुमसे खूब भेंट हो गई हैं, मैं इक्केवालों से बहुत घबराता हूँ, लेकिन अब मालूम हुआ, अच्छे-बुरे सभी जगह होते हैं, तुम्हारे जैसा सच्चा, दीनदार आदमी मैंने देखा। कैसी साफ तबियत पाई हैं तुमने कि वाह!'

सेठजी की ये लच्छेदार बातें सुनकर इक्केवाला समझ गया कि यह महाशय परले सिरे के बैठकबाज हैं। यह सिर्फ मेरी तारीफ करके मुझे चकमा दिया चाहते हैं। अब और किसी पहलू से अपना मतलब निकालना चाहिए। इनकी दया से तो कुछ ले मरना मुश्किल हैं, शायद इनसे भय से कुछ ले मरूँ, फिर बोला —

मगर लाला, यह न समझिए कि मैं जितना सीधा और नेक नजर आता हूँ, उतना सीधा और नेक हूँ भी। नेकों के साथ नेक हूँ लेकिन बुरों के साथ पक्का बदमाश हूँ, यों कहिए आपकी जूतियाँ सीधी कर दूँ, लेकिन किराए के मामले में किसी के साथ रिआयत नहीं करता, रिआयत करूँ तो खाऊँ क्या?

सेठजी ने समझा था, इक्केवाले को हत्थे पर चढ़ा लिया, अब यात्रा निर्विघ्न और निःशुल्क समाप्त हो जाएगी! लेकिन यह अलाप सुना, तो कान खड़े हुए, फिर बोले — भाई, रुपए-पैसे के मामले में मैं भी किसी से रिआयत नहीं करता, लेकिन कभी-कभी जब यार-दोस्तों का मामला आ पड़ता हैं तो झक मार कर दबना ही पड़ता हैं। तुम्हें भी कभी-कभी बल खाना ही पड़ता होगा, दोस्तों से बेमुरौवती तो नहीं की जाती।

इक्केवाले ने रूखेपन से कहा — मैं किसी के साथ मुरौवत नहीं करता। मुरौवत का सबक तो उस्ताद ने पढ़ाया ही नहीं, एक ही चंडूल हूँ। मजाल क्या कि कोई एक पैसा दबा ले, घरवाली तक को मैं एक पैसा देता नहीं हूँ, दूसरों की बात ही क्या हैं, और इक्केवाले अपने महाजन की खुशामद करते हैं, उसके दरवाजे पर खड़े रहते हैं, यहाँ महाजनों को भी धता बताता हूँ, सब मेरे नाम को रोते हैं, रुपए लिए और साफ डकार गया। देखें, अब कैसे वसूल करते हो बच्चा, नालिश करो, घर में धरा हैं, जो ले लोगे।

सेठजी को मानो जूड़ी चढ़ आई। समझ गए, यह शैतान बिना पैसा लिए न मानेगा। अगर यह जानते कि यह विपत्ति गले पड़ेगी, तो भूलकर भी इक्के पर पाँव न रखते। इतनी दूर पैदल चलने में कौन से पैर टूट जाते थे। अगर रोज इसी तरह पैसे देने पड़े, तो फिर लेन-देन हो चुका।

सेठजी भक्त जीव थे। शिवजी को जल चढ़ाने में, जब से होश सँभाला हैं, एक दिन भी नागा न किया। क्या भक्तवत्सल शंकर भगवान इस अवसर पर मेरी सहायता न करेंगे।

सेठजी इष्टदेव का सुमिरन करके बोले — खाँ साहब और किसी से चाहो न दबो, पर पुलिस से तो दबना ही पड़ता होगा, वह तो किसी के सगे नहीं होते।

इक्केवाले ने हँसकर कहा — कभी नहीं, उनसे उल्टे और कुछ-न-कुछ वसूल करता हूँ। जहाँ कोई शिकार मिला, झट सस्ते भाड़े पर बैठाता हूँ और थाने पर पहुँचा देता हूँ। किराया भी मिल जाता हैं और इनाम भी, क्या मजाल कि कोई बोल सके। लाइसन नहीं लिया आज तक लाइसन! मजे से सदर में इक्का दौड़ाता फिरता हूँ। कोई साला चूँ नही कर सकता। मेले-ठेलों में अपनी खूब बन आती हैं, अच्छे-अच्छे माल चुनकर कोतवाल पहुँचता हूँ, वहाँ कौन किसी की दाल गलती हैं। जिसे चाहे रोक

लें, एक दिन, दो दिन, तीन दिन। बीस बहाने हैं, कह दिया, शक था कि यह औरत भगाए लिए जाता था, फिर कौन बोल सकता हैं, साहब भी छोड़ना चाहें, तो नहीं छोड़ सकते, मुझे सीधा न समझिएगा, एक ही हरामी हूँ, सवारियों से पहले किराया तय नहीं करता, ठिकाने पर पहुँचा कर एक के दो लेता हूँ। जरा भी चीं-चपड़ किया, तो आस्तीन चढ़ा, पैतरे बदलकर खड़ा हो जाता हूँ, फिर कौन हैं जो सामने ठहर सके।

सेठजी को रोमांच हो आया। हाथ में एक सोटा तो था, पर उसका व्यवहार करने की शक्ति का उनमें अभाव था। आज बुरे फँसे, न-जाने किस मनहूस का मुँह देखकर घर से चले थे। कहीं यह दुष्ट उलझ पड़े, तो पाँच-दस दिन हल्दी-सोंठ पीना पड़े। अब से भी कुशल हैं, यहाँ उतर जाऊँ, तो बच जाए वही सही।

सेठजी भीगी बिल्ली बनकर बोले — अच्छा, अब रोक लो, खाँ साहब, मेरा गाँव आ गया। बोलो, तुम्हें क्या दूँ?

इक्केवाले ने घोड़ी को एक चाबुक और लगाया और निर्दयता से बोला — मजूरी सोच लो भाई, तुमको न बिठाया होता तो तीन सवारियाँ बैठा लेता, तीनों चार-चार आने भी देते, तो बारह आने हो जाते, तुम आठ ही आने दे दो।

सेठजी की बघिया बैठ गई। इतनी बड़ी रकम उन्होंने उम्र भर इस मद में नहीं खर्च की थी। इतनी-सी दूरी के लिए इतना किराया, वह किसी तरह न दे सकते थे। मनुष्य के जीवन में एक ऐसा अवसर भी आता हैं, जब परिणाम की उसे चिन्ता नहीं रहती। सेठजी के जीवन में यह ऐसा ही अवसर था, अगर आने दो-आने की बात होती, तो खून का घूँट पीकर दे देते, लेकिन आठ आने के लिए कि जिसका द्विगुण एक कलदार होता हैं, अगर तू-तू मैं-मैं ही नहीं हाथापाई की भी नौबत आए, तो वह करने को तैयार थे। यह निश्चय करके वह दृढ़ता के साथ बैठे रहे।

सहसा सड़क के किनारे एक झोंपड़ा नजर आया। इक्का रुक गया, सेठजी उतर पड़े और कमर से एक दुअन्नी निकालकर इक्केवान की ओर बढ़ाई।

इक्केवान ने सेठजी के तीवर देखें तो समझ गया, ताव बिगड़ गया। चाशनी कड़ी होकर कठोर हो गई। अब यह दाँतों से लड़ेगी। इसे चुबल कर ही मिठास का आनन्द लिया जा सकता हैं। इक्केवाले ने नम्रता से कहा — मेरी ओर से इसकी रेवड़ियाँ लेकर बाल-बच्चों को खिला दीजिएगा, अल्लाह आपको सलामत रखे।

सेठजी ने एक आना और निकालकर बोले — बस, अब जबान न हिलाना एक कौड़ी भी बेसी न दूँगा।

इक्केवाले ने कहा — नहीं मालिक, आप ही ऐसा कहेंगे तो हम गरीबों के बाल-बच्चें कहाँ से पलेंगे, हम लोग भी आदमी पहचानते हैं हुजूर।

इतने में झोपड़ी में से एक स्त्री गुलाबी साड़ी पहने, पान चबाती हुई निकल आई और बोली — आज बड़ी देर लगाई (एकाएक सेठजी को देखकर) अच्छा आज लालाजी तुम्हारे इक्के पर थे, फिर आज तुम्हारा मिजाज काहे को मिलेगा, एक चेहरेशाही (सिक्का) तो मिली ही होगी, इधर बढ़ा दो सीधे से।

यह कहकर वह सेठजी के समीप आकर बोली — आराम से चरपैया पर बैठो लाला! बड़े भाग थे कि आज सवेरे-सवेरे आपके दर्शन हुए।

उसके वस्त्र मन्द-मन्द महक रहे थे। सेठजी की दिमाग ताजा हो गया। उसकी ओर कनखियों से देखा। औरत चंचल, बाँकी-कटीली, तेज-तर्रार थी। सेठानीजी की मूर्ति आँखों के सामने आ गई — भद्दी, थल-थल, पिल-पिल, पैरों में बेवाय फटी हुई, कपड़ों से दुर्गन्ध उड़ती हुई। सेठजी नाममात्र को भी रसिक न थे, पर इस समय आँखों से हार गए। आँखों को उधर से हटाने की चेष्टा करने चारपाई पर बैठ गए। अभी कोस-भर की मंजिल बाकी हैं, इसका ख्याल ही न रहा।

स्त्री एक छोटी-सी पंखिया उठा लाई और सेठजी को झलने लगी। हाथ की प्रत्येक गति के साथ सुगन्ध का एक झोंका आकर सेठजी को उन्मत्त करने लगा।

सेठजी ने जीवन में ऐसा उल्लास कभी अनुभव न किया था। उन्हें प्रायः सभी घृणा की दृष्टि से देखते थे, चोला मस्त हो गया। उसके हाथ से पंखिया छीन लेनी चाही।

'तुम्हें कष्ट हो रहा होगा, लाओ मैं झल लूँ।'

'यह कैसी बात हैं लालाजी! आप हमारे दरवाजे पर आए हैं, क्या इतनी खातिर भी न करने दीजिएगा, और हम किस लायक हैं। इधर कहीं दूर जाना हैं? अब तो बहुत देर हो गई, कहाँ जाइएगा।'

सेठजी ने पापी आँखों को फेर कर और पापी मन को दबा कर कहा — यहाँ से थोड़ी दूर पर एक गाँव हैं वहीं जाना हैं, साँझ को इधर ही से लौटूँगा।

सुन्दरी ने प्रसन्न होकर कहा — तो फिर आज यहीं रहिएगा। साँझ को फिर कहाँ जाइएगा, एक दिन घर के बाहर की हवा भी खाइए, फिर न जाने कब मुलाकात होगी।

इक्केवाले ने आकर सेठजी के कान में कहा — पैसे निकालिए तो दाने-चारे का इन्तजाम करूँ।

सेठजी ने चुपके से अठन्नी निकालकर दे दी।

इक्केवाले ने फिर पूछा — आपके लिए कुछ मिठाई लेता आऊँ? यहाँ आपके लायक मिठाई क्या मिलेगी, हाँ मुँह मीठा हो जाएगा।

सेठजी बोले — मेरे लिए कोई जरूरत नहीं, हाँ बच्चों के लिए चार आने की मिठाई लिवाते आना।

चवन्नी निकालकर सेठजी ने उसके सामने ऐसे गर्व से फेंकी मानो इसकी उसके सामने कोई हकीकत नहीं हैं। सुन्दरी के मुँह का भाव तो देखना चाहते थे, पर डरते थे कि कहीं वह यह न समझे, लाला चवन्नी क्या दे रहे हैं, मानो किसी को मोल ले रहे हैं।

इक्केवाले चवन्नी उठाकर जा ही रहा था कि सुन्दरी ने कहा — सेठजी की चवन्नी लौटा दो, लपककर उठा ली शर्म नहीं आती, यह मुझसे रुपए ले लो, आठ आने की ताजी मिठाई बनवाकर लाओ।

उसने रुपया निकाल कर फेंका! सेठजी मारे लाज के गड़ गए। एक इक्केवान की भठियारिन जिसकी टके की भी औकात नहीं,

इतनी खातिरदारी करे कि उनके लिए पूरा रुपया निकालकर दे दे, भला यह कैसे सह सकते थे।

सेठजी बोले — नहीं, नहीं, यह नहीं सो सकता, तुम अपना रुपया रख लो, (रसिक आँखों को तृप्त करके) मैं रुपया दिए देता हैं, यह लो, आठ आने की ले लेना।

इक्केवान तो उधर मिठाई और दाना-चारे की फ्रिक में चला गया, इधर सुन्दरी ने सेठ से कहा — वह तो अभी देर में आएगा लाला, तब तक पान तो खाओ।

सेठजी ने इधर-उधर ताककर कहा — यहाँ तो कोई तम्बोली नहीं हैं।

सुन्दरी उनकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखकर बोली — क्या मेरे लगाए पान तम्बोली के पानों से भी खराब होंगे?

सेठजी ने लज्जित होकर कहा — नहीं, नहीं, यह बात नहीं, तुम मुसलमान हो न?

सुन्दरी ने विनोदमय आग्रह से कहा — खुदा की कसम, इसी बात पर मैं तुम्हें पान खिलाकर छोड़ूँगी!

यह कहकर उसने पानदान से एक बीड़ा निकाला और सेठजी की तरफ चली। सेठजी ने एक मिनट तक तो हाँ! हाँ! किया, फिर

दोनों हाथ बढ़ाकर उसे हटाने की चेष्टा की, फिर जोर से दोनों होंट बन्द कर लिए पर जब सुन्दरी किसी तरह न मानी, तो सेठजी अपना धर्म लेकर बेतहाशा भागे। सोंटा वहीं चारपाई पर रह गया। बीस कदम पर जाकर वह रुक गए और हाँफकर बोले — देखो, इस तरह किसी का धर्म नहीं लिया जाता। हम लोग तुम्हारा छुआ पानी पी लें तो धर्म भ्रष्ट हो जाए।

सुन्दरी ने फिर दौड़ाया। सेठजी फिर भागे। इधर पचास वर्षो से उन्हें इस तरह भागने का अवसर न पड़ा था। धोती खिसककर गिरने लगी मगर इतना समय न था कि धोती बाँध लें। बेचारे धर्म को कन्धे पर रखें दौड़े चले जाते थे। न मालूम कब कमर से रुपयों का बटुआ खिसक पड़ा। जब पचास कदम पर फिर रुके और धोती ऊपर उठाई तो बटुआ नदारद। पीछे फिर कर देखा सुन्दरी लिए उन्हें दिखा रही थी और इशारे से बुला रही थी, मगर सेठजी को धर्म रुपए से कहीं ज्यादा प्यारा था, दो-चार कदम चले फिर रुक गए।

एकाएक धर्म-बुद्धि ने डाँट बताई। थोड़े रुपए के लिए धर्म छोड़े देते हो। रुपए बहुत मिलेंगे। धर्म कहाँ मिलेगा।

यह सोचते हुए वह अपनी राह चले, जैसे कोई कुत्ता झगड़ालू कुत्तों के बीच से आहत, दुम दबाए भागा जाता हो और बार-बार फिरकर देख लेता हो कि कहीं वे दुष्ट आ तो नहीं रहे।

दो कब्रें

अब न वह यौवन हैं, न वह नशा, न वह उन्माद। वह महफिल उठ गई, वह दीपक बुझ गया, जिससे महफिल की रौनक थी। वह प्रेममूर्ति कब्र की गोद में सो रही हैं। हाँ, उसके प्रेमी की छाप अब भी हृदय पर हैं और उसकी अमर स्मृति आँखों के सामने। वीरांगनाओं में ऐसी वफा, ऐसा प्रेम, ऐसा व्रत दुर्लभ हैं और रईसों में ऐसा विवाह, ऐसा समर्पण, ऐसी भक्ति और भी दुर्लभ। कुँवर रनवीर सिंह रोज बिना नागा सन्ध्या समय जुहरा की कब्र के दर्शन करने जाते, उसे फूलों से सजाते, आँसुओं से सींचते। पन्द्रह साल गुजर गए, एक दिन भी नागा नहीं हुआ। प्रेम की उपासना ही उसके जीवन का उद्देश्य था, उस प्रेम का जिसमें उन्होंने जो कुछ देखा वही पाया और जो अनुभव किया, उसी की याद अब भी उन्हें मस्त कर देती हैं। इस उपासना में सुलोचना भी उनके साथ होती, जो जुहरा का प्रसाद और कुँवर साहब की सारी अभिलाषाओं का केन्द्र थी।

कुँवर साहब ने दो शादियाँ की थी, पर दोनों स्त्रियों में से एक भी सन्तान की मुँह न देख सकी। कुँवर साहब ने फिर विवाह न

किया। एक दिन एक महफिल में जुहरा के दर्शन हुए। उस निराश पति और अतृप्त युवती में ऐसा मेल, मानो चिरकाल से बिछुड़े हुए दो साथी फिर मिल गए हों। जीवन का बंसत विकास, संगीत और सौरभ से भरा हुआ आया मगर अफसोस! पाँच वर्षों के अल्पकाल में उसका भी अन्त हो गया। वह मधुर मिलन स्वप्न निराशा से भरी हुई जागृति में लीन हो गया। वह सेवा और व्रत की देवी तीन साल की सुलोचना को उनकी गोद में सौंपकर सदा के लिए सिधार गई।

कुँवर साहब ने इस प्रेमादेश का इतने अनुराग से पालन किया कि देखने वालों को आश्चर्य होता था। कितने ही तो उन्हें पागल समझते थे। सुलोचना ही की नींद सोते, उसी की नींद जागते, खुद पढ़ाते, उसके साथ सैर करते — इतनी एकाग्रता के साथ, जैसे कोई विधवा अपने अनाथ बच्चे को पाले।

जब से वह यूनिवर्सिटी में दाखिल हुई, उसे खुद मोटर में पहुँचा आते और शाम को खुद जा कर ले आते। वह उसके माथे पर से वह कलंक धो डालना चाहते थे, जो मानो विधाता ने क्रूर हाथों से लगा दिया था। धन तो उसे न धो सका, शायद विद्या धो डाले।

2

एक दिन शाम को कुँवर साहब जुहरा के मजार को फूलों से सजा रहे थे और सुलोचना कुछ दूर पर खड़ी अपने कुत्ते को गेंद खिला रही थी कि सहसा उसने अपने कॉलेज के प्रोफेसर डॉक्टर रामेन्द्र को आते देखा। सकुचाकर मुँह फेर लिया, मानो उन्हें देखा ही नहीं। शंका हुई कही रामेन्द्र इस मजार के विषय में कुछ पूछ न बैठें।

यूनिवर्सिटी में दाखिल हुए उसे एक साल हुआ। इस साल में उसने प्रणय के विविध रूपों को देख लिया था। कहीं क्रीड़ा थी, कही विनोद था, कहीं कुत्सा थी, कहीं लालसा थी, कहीं उच्छृंखलता थी, किन्तु कहीं वह सहृदयता न थी, जो प्रेम का मूल हैं। केवल रामेन्द्र ही एक ऐसे सज्जन थे, जिन्हें अपनी ओर ताकते देखकर उसके हृदय में सनसनी होने लगती थी, पर उसकी आँखों में कितनी विवशता, कितनी पराजय, कितनी वेदना छिपी होती थी।

रामेन्द्र ने कुँवर साहब की ओर देखकर कहा — तुम्हारे बाबा इस कब्र पर क्या कर रहें हैं?

सुलोचना का चेहरा कानों तक लाल हो गया फिर बोली — यह इनकी पुरानी आदत हैं।

रामेन्द्र ने कहा — किसी महात्मा की समाधि हैं?

सुलोचना ने इस सवाल को उड़ा देना चाहा। रामेन्द्र यह तो जानते थे कि सुलोचना कुँवर साहब की दाश्ता औरत की लड़की हैं, पर उन्हें यह न मालूम था कि यह उसी की कब्र हैं और कुँवर साहब अतीत-प्रेम के इतने उपासक हैं। मगर यह प्रश्न उन्होंने बहुत धीमे स्वर में न किया था। कुँवर साहब जूते पहन रहे थे। यह प्रश्न उनके कान में पड़ गया। जल्दी से जूता पहन लिया और समीप जाकर बोले — संसार की आँखों में तो वह महात्मा न थी, पर मेरी आँखों में थी और हैं, यह मेरे प्रेम की समाधि हैं।

सुलोचना की इच्छा होती थी, यहाँ से भाग जाऊँ लेकिन कुँवर साहब को जुहरा के यशोगान में आत्मिक आनन्द मिलता था। रामेन्द्र का विस्मय देखकर बोलें — इसमें वह देवी सो रही हैं, जिसने जीवन को स्वर्ग बना दिया था। यह सुलोचना उसी का प्रसाद हैं।

रामेन्द्र ने कब्र की ओर देख आश्चर्य से कहा — अच्छा!

कुँवर साहब ने मन में उस प्रेम का आनन्द उठाते हुए कहा — यह जीवन और ही था, प्रोफेसर साहब। ऐसी तपस्या मैं और कहीं नहीं देखी, आपको फुरसत हो, तो मेरे साथ चलिए, आपको उन यौवन-स्मृतियों ...।

सुलोचना बोल उठी — वे सुनाने की चीज नहीं हैं, दादा!

कुँवर ने कहा — मैं रामेन्द्र बाबू को गैर नहीं समझता।

रामेन्द्र को प्रेम का यह अलौकिक रूप मनोविज्ञान का एक रत्न-सा मालूम हुआ। वह कुँवर साहब के साथ ही उनके घर आए और कई घंटो तक उन हसरत में डूबी हूँ प्रेम-स्मृतियों को सुनते रहे।

जो वरदान माँगने के लिए उन्हें साल भर से साहस न होता था, दुविधा में पड़कर रह जाते थे, वह आज उन्होंने माँग लिया।

3

लेकिन विवाह के बाद रामेन्द्र को नया अनुभव हुआ। महिलाओं का आना-जाना प्रायः बन्द हो गया। इसके साथ ही मर्द दोस्तों की आमदरफ्त बढ़ गई। दिन-भर उनका ताँता लगा रहता था।

सुलोचना उनके आदर-सत्कार में लगी रहती। पहले एक-दो महीने तक तो रामेन्द्र ने इधर ध्यान नहीं दिया, लेकिन जब कई महीने गुजर गए और स्त्रियों ने बहिष्कार का त्याग न किया तो उन्होंने एक दिन सुलोचना से कहा — यह लोग आजकल अकेले ही आते हैं!'

सुलोचना ने धीरे से कहा — हाँ देखती तो हूँ।

रामेन्द्र बोला — इनकी औरतें तो तुमसे परहेज नहीं करती?

सुलोचना ने कहा — शायद कहती हो।

रामेन्द्र फिर बोला — मगर वे लोग तो विचारों के बड़े स्वाधीन हैं, इनकी औरतें भी शिक्षित हैं, फिर क्या बात हैं?

सुलोचना ने दबी जबान से कहा — मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता।

रामेन्द्र ने कुछ देर तक असमंजस में पड़कर कहा — हम लोग किसी दूसरी जगह चले जाए, को क्या हर्ज? वहाँ तो कोई हमें न जानता होगा।

सुलोचना ने अबकी तीव्र स्वर में कहा — दूसरी जगह क्यों जाए, हमने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं हैं, किसी से कुछ माँगते नहीं। जिसे आना हो आए, न आना हो न आए, मुँह क्यों छिपाये।

धीरे-धीरे रामेन्द्र पर एक और रहस्य खुलने लगा, जो महिलाओं के व्यवहार से अधिक घृणास्पद और अपमानजनक था। रामेन्द्र को अब मालूम होने लगा कि ये महाशय जो आते हैं और घंटों बैठे सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर बहस किया करते हैं, वास्तव में विचार-विनिमय के लिए नहीं बल्कि रूप की उपासना के लिए आते हैं। उनकी आँखें सुलोचना को खोजती रहती हैं। उनके कान उसी की बातों की ओर लगे रहते हैं। उसके रूप माधुर्य का आनन्द उठाना ही उनका अभीष्ट हैं। यहाँ उन्हें वह संकोच नहीं होता, जो किसी भले आदमी की बहू-बेटी की ओर आँखें नहीं उठाने देता। शायद सोचते हैं, यहाँ कोई रोक-टोक नहीं हैं।

कभी-कभी जब रामेन्द्र की अनुपस्थिति में कोई महाशय आ जाते, तो सुलोचना को बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता। अपनी चितवनों से, कुत्सित संकेतों से, अपनी रहस्यमयी बातों से, अपनी लम्बी साँसों से उसे दिखाना चाहते थे, कि हम भी तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं। अगर रामेन्द्र का तुम पर सोलहों आना अधिकार हैं, तो थोड़ी-सी दक्षिणा के अधिकारी हम भी हैं। सुलोचना उस वक्त जहर का घूँट पीकर रह जाती।

अब तक रामेन्द्र ओर सुलोचना क्लब जाया करते थे। वहाँ उदार सज्जनों का अच्छा जमघट रहता था। जब तक रामेन्द्र को किसी की ओर सन्देह न था, वह उसे आग्रह करके अपने साथ ले

जाते थे। सुलोचना के पहुँचते ही यहाँ एक स्फूर्ति-सी उत्पन्न हो जाती थी। जिस मेज पर सुलोचना बैठती, उसे लोग घेर लेते थे। कभी-कभी सुलोचना गाती थी। उस वक्त सब-के-सब उन्मत्त हो जाते।

क्लब में महिलाओं की संख्या अधिक न थी। मुश्किल से पाँच-छः औरतें थी, मगर वे भी सुलोचना से दूर-दूर रहती थी, बल्कि अपनी भाव-भंगिमाओं और कटाक्षों से वे उसे जता देना चाहती थी कि तुम पुरुषों का दिल खुश करो, हम कुल-वधुओं के पास तुम नहीं आ सकती।

लेकिन जब रामेन्द्र पर इस कटु सत्य का प्रकाश हुआ, तो उन्होंने क्लब जाना छोड़ दिया, मित्रों के यहाँ आना-जाना भी कम कर दिया और अपने यहाँ आने वालों की भी उपेक्षा करने लगे। वह चाहते थे कि मेरे एकान्तवास में कोई विघ्न न डाले। आखिर उन्होंने बाहर आना-जाना छोड़ दिया। अपने चारों ओर छल-कपट का जाल-सा बिछा हुआ मालूम होता था, किसी पर विश्वास न कर सकते थे, किसी से सद्व्यवहार की आशा नहीं।

रामेन्द्र सोचते — ऐसे धूर्त, कपटी दोस्ती की आड़ में गला काटने वाले आदमियों से मिलें ही क्यों?

वे स्वभाव से मिलनसार आदमी थे। पक्के यारबाश। यह एकान्तवास जहाँ न कोई सैर थी, न विनोद, न कोई चहल-पहल, उनके लिए कठिन कारावास से कम न था। यद्यपि कर्म और वचन से सुलोचना की दिलजोई करते रहते थे, लेकिन सुलोचना की सूक्ष्म और सशंक आँखों से अब यह बात छिपी न थी कि यह अवस्था इनके लिए दिन-प्रतिदिन असह्य होती जाती थी।

सुलोचना दिल में सोचती — इनकी यह दशा मेरे ही कारण तो हैं, मैं ही इनके जीवन का काँटा हो गई!

एक दिन रामेन्द्र से कहा — आजकल क्लब क्यों नहीं चलते? कई सप्ताह हुए घर से निकलते तक नहीं।

रामेन्द्र ने बेदिली से कहा — मेरा जी कहीं जाने को नहीं चाहता, अपना घर सबसे अच्छा हैं।

सुलोचना ने कहा — जी तो ऊबता ही होगा, मेरे कारण यह तपस्या क्यों करते हो? मैं तो न जाऊँगी, उन स्त्रियों से मुझे घृणा होती हैं, उनमें एक भी ऐसी नहीं, जिसके दामन पर काले दाग न हो, लेकिन सब सीता बनी फिरती हैं, मुझे तो उनकी सूरत से चिढ़ हो गई हैं, मगर तुम क्यों नहीं जाते? कुछ दिल ही बहल जाएगा।

रामेन्द्र ने कहा — दिल नहीं पत्थर बहलेगा, जब अन्दर आग लगी हुई हो, तो बाहर शान्ति कहाँ?

सुलोचना चौंक पड़ी। आज पहली बार रामेन्द्र के मुँह से ऐसी बात सुनी। वह अपने ही को बहिष्कृत समझती थी। अपना अनादर जो कुछ था, उसका था। रामेन्द्र के लिए तो अब भी सब दरवाजे खुले हुए थे। वह जहाँ चाहे जा सकते थे, जिससे चाहें मिल सकते थे, उनके लिए कौन-सी रूकावट हैं। लेकिन नहीं, अगर उन्होंने किसी कुलीन स्त्री से विवाह किया होता, तो उनकी यह दशा क्यों होती? प्रतिष्ठित घरानों की औरतें आती, आपस में मैत्री बढ़ती, जीवन सुख से कटता, रेशम का पैबन्द लग जाता। अब तो उसमें टाट का पैबन्द लग गया। मैंने आकर सारे तालाब को गन्दा कर दिया। उसके मुख पर उदासी छा गयी।

रामेन्द्र को भी तुरन्त मालूम हो गया कि उनकी जबान से एक ऐसी बात निकल गई जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। उन्होंने फौरन बात बनाई — क्या तुम समझती हो कि हम और तुम अलग-अलग हैं, हमारा और तुम्हारा जीवन एक हैं। जहाँ तुम्हारा आदर नहीं, वहाँ मैं कैसे जा सकता हूँ? फिर मुझे भी समाज के इन रँगे सियारों से मुझे घृणा हो रही हैं, मैं इन सबों के कच्चे चिट्ठे जानता हूँ, पद या उपाधि या धन से किसी की आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती। जो ये लोग करते हैं, वह अगर कोई नीचे दरजे का आदमी करता, उसे कहीं मुँह दिखाने की हिम्मत न होती।

मगर यह लोग अपनी सारी बुराइयाँ उदारतावाद के पर्दे में छिपाते हैं, इन लोगों से दूर रहना ही अच्छा।

सुलोचना का चित्त शान्त हो गया।

4

दूसरे साल सुलोचना की गोद में एक चाँद-सी बालिका का उदय हुआ। उसका नाम रखा गया शोभा। कुँवर साहब का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ अच्छा न था। मंसूरी गए थे। यह खबर पाते ही रामेन्द्र को तार दिया कि जच्चा और बच्चा को लेकर यहाँ आ जाओ।

लेकिन रामेन्द्र इस अवसर पर न जाना चाहते थे। अपने मित्रों की सज्जनता और उदारता की अन्तिम परीक्षा लेने का इससे अच्छा और कौन-सा अवसर हो सकता था। सलाह हुई, एक शानदार दावत दी जाए। प्रोग्राम में संगीत भी शामिल था। कई अच्छे-अच्छे गवैये बुलाए गए। अंग्रेजी, हिन्दुस्तानी, मुसलमानी सभी प्रकार के भोजन का प्रबन्ध किया गया।

कुँवर साहब गिरते-पड़ते मंसूरी से आए। उसी दिन दावत थी। नियत समय पर निमंत्रित लोग एक-एक करके आने लगे। कुँवर साहब स्वयं उनका स्वागत कर रहे थे। खाँ साहब आए, मिर्जा साहब आए, मीर साहब आए, मगर पंडितजी और बाबू जी और लाला साहब और चौधरी साहब और कक्कड़, मेहरा और कौल और हुक्कू, श्रीवास्तव और खरे किसी का पता न था।

यही सभी लोग होटलों में सब कुछ खाते थे, अंडे और शराब उड़ाते थे, इस विषय में किसी तरह का विवेक या विचार न करते थे, फिर आज क्यों तशरीफ नहीं लाए? इसलिए नहीं कि छूत-छात का विचार था, बल्कि इसलिए कि वह अपनी उपस्थिति को इस विवाह के समर्थन की सनद समझते थे और वह सनद देने की उनकी इच्छा न थी।

दस बजे रात तक कुँवर साहब फाटक पर खड़े रहे। जब उस वक्त तक कोई न आया, तो कुँवर साहब ने आकर रामेन्द्र से कहा — अब लोगों का इंतजार फजूल है, मुसलमानों को खिला दो और बाकी सामान गरीबों को दिला दो।

रामेन्द्र एक कुर्सी पर हतबुद्धि से बैठे हुए थे। कुंठित स्वर में बोले — जी हाँ, यही तो मैं सोच रहा हूँ।

कुँवर — मैंने तो पहले ही समझ लिया था।

रामेन्द्र — कितनी बड़ी तौहीन हुई।

कुँवर — हमारी तौहीन नहीं हुई। खुद उन लोगों की कलई खुल गई।

रामेन्द्र — खैर, परीक्षा तो हो गई, कहिए तो अभी जाकर एक-एक की खबर लूँ।

कुँवर साहब ने विस्मित होकर कहा — क्या उनके घर जाकर?

रामेन्द्र — जी हाँ, पूछूँ कि आप लोग जो समाज-सुधार का राग अलापते फिरते है, वह किस बल पर?

कुँवर — व्यर्थ है, जाकर आराम से लेटो। नेक और बद की सबसे बड़ी पहचान अपना दिल है। अगर हमारा दिल गवाही दे कि यह काम बुरा नहीं तो फिर सारी दुनिया मुँह फेर ले, हमें किसी की परवाह न करनी चाहिए।

रामेन्द्र — लेकिन मैं इन लोगों को यों न छोड़ूँगा — एक-एक की बखिया उधेड़ कर न रख दूँ तो नाम नहीं।

यह कहकर उन्होंने पत्तल और शकोरे उठवा-उठवाकर गरीबों को देना शुरू किया।

5

रामेन्द्र सैर करके लौट ही थे कि वेश्याओं का एक दल सुलोचना को बधाई देने के लिए आ पहुँचा। जुहरा की एक सगी भतीजी थी, गुलनार। सुलोचना के यहाँ पहले बराबर आती-जाती थी। इधर दो साल से न आई थी। यह उसी का बधावा था। दरवाजे पर अच्छी खासी भीड़ हो गई थी। रामेन्द्र न यह शोरगुल सुना।

गुलनार ने आगे बढ़कर उन्हें सलाम किया और बोली — बाबूजी, बेटी मुबारक, बधावा लाई हूँ।

रामेन्द्र पर मानो लकवा-सा गिर गया। सिर झुक गया और चेहरे पर कालिमा-सी पुत गई। न मुँह से बोले, न किसी को बैठने का इशारा किया, न वहाँ से हिले, बस मूर्तिवत् खड़े रह गए। एक बाजारी औरत से नाता पैदा करने का ख्याल इतना लज्जास्पद था, इतना जघन्य कि उसके सामने सज्जनता भी मौन रह गई। इतना शिष्टाचार भी न कर सके कि सबों को कमरे में ले जाकर बिठा तो देते। आज पहली बार उन्हें अपने अधःपतन का अनुभव हुआ। मित्रों की कुटिलता और महिलाओं की उपेक्षा को वह उनका अन्याय समझते था, अपना अपमान नहीं, लेकिन यह बधावा (उपहार) उनकी अबाध उदारता के लिए भी भारी था।

सुलोचना का जिस वातावरण में पालन-पोषण हुए था, वह एक प्रतिष्ठित हिन्दू कुल का वातावरण था। यह सच है कि अब भी सुलोचना नित्य जुहरा के मजार की परिक्रमा करने जाती थी, मगर जुहरा अब एक पवित्र स्मृति थी, दुनिया की मलिनताओं और कलुषताओं से रहित। गुलनार से नातेदारी और परस्पर का निबाह दूसरी बात थी। जो लोग तस्वीरों के सामने सिर झुकाते है, उनपर फूल चढ़ाते है, वे भी मूर्ति पूजा की निंदा करते है। एक स्पष्ट है, दूसरा सांकेतिक। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा आँखों से छिपा हुआ।

सुलोचना अपने कमरे में चिक की आड़ में खड़ी रामेन्द्र का असमंजस और क्षोभ देख रही थी। जिस समाज को उसने अपना उपास्य बनाना चाहा था, जिसके द्वार पर सिजदे करते उसे बरसों हो गए थे, उसकी तरफ से निराश होकर, उसका हृदय इस समय उससे विद्रोह करने पर तुला हुआ था। उसके जी में आता था — गुलनार को बुलाकर गले लगा लूँ? जो लोग मेरी बात भी नहीं पूछते, उनकी खुशामद क्यों करूँ? यह बेचारियाँ इतनी दूर से आई है मुझे अपना ही समझकर तो। उनके दिल में प्रेम तो है, यह मेरे दुःख-सुख में शरीक होने को तैयार तो है।

आखिर रामेन्द्र ने सिर उठाया और शुष्क मुस्कान के साथ गुलनार से बोले — आइए आप लोग अन्दर चली आइए।

यह कहकर वह आगे-आगे रास्ता दिखाते हुए दीवानखाने की ओर चले कि सहसा महरी निकली और गुलनार के हाथ में एक पुर्जा देकर चली गई, गुलनार ने यह पुर्जा लेकर देखा और उसे रामेन्द्र के हाथ में देकर वही खड़ी हो गई।

रामेन्द्र ने पुर्जा देखा, लिखा था — बहन गुलनार, तुम यहाँ नाहक आई, हम लोग यों ही बदनाम हो रहे है, अब और बदनामी मत करो, बधावा वापस ले जाओ, कभी मिलने का जी चाहे, रात को आना और अकेली, मेरा जी तुमसे गले लिपटकर रोने के लिए तड़प रहा है मगर मजबूर हूँ।

रामेन्द्र ने पुर्जा फाड़कर फेंक दिया और उद्दण्ड होकर बोले — इन्हें लिखने दो, मैं किसी से नहीं डरता, अन्दर आओ।

गुलनार ने एक कदम पीछे फिरकर कहा — नहीं बाबूजी, अब हमें आज्ञा दीजिए।

रामेन्द्र ने कहा — एक मिनट तो बैठो।

गुलनार ने कहा — जी नहीं, एक सेकिंड भी नहीं।

गुलनार के चले जाने के बाद रामेन्द्र अपने कमरे मे जा बैठे। जैसी पराजय उन्हें आज हुई, वैसी पहले कभी नहीं हुई। वह आत्माभिमान, वह सच्चा क्रोध, जो अन्याय के ज्ञान से पैदा होता है, लुप्त हो गया था। उसकी जगह लज्जा थी और ग्लानि। इसे बधावे की क्यों सूझ गई। यों तो कभी आती-जाती न थी, आज न जाने कहाँ से फट पड़ी। कुँवर साहब होंगे उदार। उन्होंने जुहरा के नातेदारों से भाईचारे का निबाह किया होगा, मैं इतना उदार नहीं हूँ, कहीं सुलोचना छिपकर इसके पास आती-जाती तो नहीं! लिखा भी तो है कि मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली। क्यों न हो, खून तो वही है, मनोवृत्ति वही, विचार वही, आदर्श वही। माना, कुँवर साहब के घर में पालन-पोषण हुआ, मगर रक्त का प्रभाव इतनी जल्दी नहीं मिट सकता। अच्छा, दोनों बहनें मिलती होगी तो उनमें क्या बातें होती होगी? इतिहास या नीति की चर्चा तो हो नहीं सकती। वही निर्लज्जता की बातें होती होगी। गुलनार अपना वृत्तान्त कहती होगी, उस बाजार के खरीदारों और दुकानदारों के गुण-दोषों पर बहस होती होगी। यह तो हो ही नहीं सकता कि गुलनार इसके पास आते ही अपने को भूल जाए और कोई भद्दी, अनर्गल और कलुषित बातें न करे।

एक क्षण में उनके विचारों ने पलटा खाया, मगर आदमी बिना किसी से मिले-जुले रह भी तो नहीं सकता, यह भी तो एक तरह

की भूख है, भूख में अगर शुद्ध भोजन न मिले तो आदमी जूठा खाने से भी परहेज नहीं करता। अगर इन लोगों ने सुलोचना को अपनाया होता, उसका यों बहिष्कार न करते, तो उसे क्यों ऐसे प्राणियों से मिलने की इच्छा होती। उसका दोष नहीं, सारा दोष परिस्थितियों का है, जो हमारे अतीत की याद दिलाती रहती है।

रामेन्द्र इन्ही विचारों में पड़े हुए थे कुँवर साहब आ पहुँचे और कटु स्वर में बोले — मैंने सुना गुलनार अभी बधावा लाई थी, तुमने उसे लौटा दिया।

रामेन्द्र का विरोध सजीव हो उठा, फिर बोले — मैंने तो नहीं लौटाया, सुलोचना ने लौटाया, पर मेरे ख्याल में अच्छा किया।

कुँवर — तो यह कहो तुम्हारा इशारा था, तुमने इन पतितों को अपनी ओर खींचने का कितना अच्छा अवसर हाथ से खो दिया! सुलोचना को देखकर जो कुछ असर पड़ा, वह तुमने मिटा दिया, बहुत सम्भव था कि एक प्रतिष्ठित आदमी से नाता रखने का अभिमान उसके जीवन में एक नये युग का आरम्भ करता, मगर तुमने इन बातों पर जरा भी ध्यान न दिया।

रामेन्द्र ने कोई जवाब न दिया। कुँवर साहब जरा उत्तेजित होकर बोले — आप लोग यह क्यों भूल जाते है कि हरेक बुराई मजबूरी से होती है। चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे

विशेष आनन्द आता है, बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर कर देती है। हाँ, वह जरूरत वास्तविक है या काल्पनिक इसमें मतभेद हो सकता है, स्त्री मैके जाते समय कोई गहना बनवाना एक आदमी के लिए जरूरी हो सकता है, दूसरे के लिए बिल्कुल गैर जरूरी। क्षुधा से व्यथित होकर एक आदमी अपना ईमान खो सकता है, दूसरा मर जाएगा पर किसी के सामने हाथ न फैलायेगा, पर प्रकृति का यह नियम आप जैसे विद्वानों को न भूलना चाहिए कि जीवन-लालसा प्राणिमात्र में व्यापक है, जिन्दा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जिन्दा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेगी। जितना ही आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिन्दा रहना, हरेक के लिए सुलभ हो। रामेन्द्र बाबू, आपने इस वक्त इन लोगों के साथ वही व्यवहार किया जो दूसरे आपके साथ कर रहे है और जिससे आप बहुत दुःखी है।

रामेन्द्र ने इस लम्बे व्याख्यान को इस तरह सुना, जैसे कोई पागल बक रहा हो। इस तरह की दलीलों का वह खुद कितनी ही बार समर्थन कर चुके थे। पर दलीलों से व्यथित की अंग पीड़ा नहीं शान्त होती। पतित स्त्रियों का नातेदार की हैसियत से द्वार पर आना इतना अपमानजनक था कि रामेन्द्र किसी दलील से

पराभूत होकर उसे भूल न सकते थे, फिर बोले — मैं ऐसे प्राणियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, यह विष अपने घर में नहीं फैलाना चाहता!

सहसा सुलोचना भी कमरे में आ गई। प्रसवकाल का असर अभी बाकी था, पर उत्तेजना ने चेहरे को आरक्त कर रखा था। रामेन्द्र सुलोचना को देखकर तेज हो गए। वह उसे जता देना चाहते थे कि इस विषय में मैं एक रेखा तक जा सकता हूँ, उसके आगे किसी तरह नहीं जा सकता, फिर बोले — मैं यह कभी पसन्द न करूँगा कि कोई बाजारी औरत किसी भेष में मेरे घर में आए, रात को अकेले या सूरत बदलकर आने से इस बुराई का असर नहीं मिट सकता, मैं समाज के दंड से नहीं डरता, इस नैतिक विष से डरता हूँ।

सुलोचना अपने विचार में मर्यादा-रक्षा के लिए काफी आत्मसमर्पण कर चुकी थी। उसका आत्मा ने अभी तक उसे क्षमा न किया था। तीव्र स्वर में बोली — क्या तुम चाहते हो कि मैं इस कैद में अकेले जान दे दूँ! कोई तो हो जिससे आदमी हँसे, बोले!

रामेन्द्र ने गर्म होकर कहा — हँसने-बोलने का इतना शौक था, तो मेरे साथ विवाह नहीं करना चाहिए था, विवाह का बन्धन बड़ी हद तक त्याग का बन्धन है, जब तक संसार में इस विधान का राज्य

है और स्त्री कुल-मर्यादा की रक्षक समझी जाती है, उस वक्त तक कोई मर्द यह स्वीकार न करेगा कि उसकी पत्नी बुरे आचरण के प्राणियों से किसी प्रकार का संसर्ग रक्खे।

कुँवर साहब समझ गए कि इस वाद-विवाद से रामेन्द्र और भी जिद पकड़ लेंगे और मुख्य विषय लुप्त हो जाएगा, इसलिए नम्र स्वर में बोले — लेकिन बेटा, यह क्यों ख्याल करते हो कि ऊँचे दरजे की पढ़ी-लिखी स्त्री दूसरों के प्रभाव में आ जाएगी, अपना प्रभाव न डालेगी?

रामेन्द्र — इस विषय में शिक्षा पर मेरा विश्वास नहीं, शिक्षा ऐसी कितनी बातों को मानती है, जो रीति-नीति और परम्परा की दृष्टि से त्याज्य है, अगर पाँव फिसल जाए तो हम उसे काटकर फेंक नहीं देते, पर मैं इस अनालोजी (analogy) के सामने झुकने को तैयार नहीं हूँ, मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरे साथ रहकर पुराने सम्बन्धों का त्याग करना पड़ेगा! इतना नहीं, मन को ऐसा बना लेना पड़ेगा कि ऐसे लोगों से उसे खुद घृणा हो, हमें इस तरह अपना संस्कार करना पड़ेगा कि समाज अपने अन्याय पर लज्जित हो, न यह कि हमारे आचरण ऐसे भ्रष्ट हो जाए कि दूसरों की निगाह में यह तिरस्कार औचित्य का स्थान पा जाए।

सुलोचना ने उद्धत होकर कहा — स्त्री इसके लिए मजबूर नहीं है कि वह आपकी आँखों से देखे और आपने कानों से सुने, उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौन-सी चीज उसके हित की है, कौन-सी नहीं।

कुँवर साहब भयभीत होकर बोले — सिल्लो, तुम भूली जाती हो कि बातचीत में हमेशा मुलायम शब्दों का व्यवहार करना चाहिए, हम झगड़ा नहीं कर रहे है, केवल एक प्रश्न पर अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे है।

सुलोचना ने निर्भीकता से कहा — जी नहीं, मेरे लिए बेड़ियाँ तैयार की जा रही है, मैं इन बेड़ियों को नहीं पहन सकती। मैं अपनी आत्मा को उतना ही स्वाधीन समझती हूँ, जितना कोई मर्द समझता है।

रामेन्द्र ने अपनी कठोरता पर कुछ लज्जित होकर कहा — मैंने तुम्हारी आत्मा की स्वाधीनता को छीनने की कभी इच्छा नहीं की और न मैं इतना विचारहीन हूँ। शायद तुम भी इसका समर्थन करोगी, लेकिन क्या तुम्हें विपरीत मार्ग पर चलते देखूँ तो मैं तुम्हें समझा भी नहीं सकता?

सुलोचना — उसी तरह जैसे मैं तुम्हें समझा सकती हूँ, तुम मुझे मजबूर नहीं कर सकते।

रामेन्द्र — मैं इसे नहीं मान सकता।

सुलोचना — अगर मैं अपने किसी नातेदार से मिलने जाऊँ, तो आपकी इज्जत में बट्टा लगता है, क्या इसी तरह आप यह स्वीकार करेंगे कि आपका व्यभिचारियों से मिलना-जुलना मेरी इज्जत में दाग लगाता है?

रामेन्द्र — हाँ, मैं मानता हूँ।

सुलोचना — आपका कोई व्यभिचारी भाई आ जाए, तो आप उसे दरवाजे से भगा देंगे?

रामेन्द्र ने कहा — तुम मुझे इसके लिए मजबूर नहीं कर सकती।

सुलोचना — और आप मुझे मजबूर कर सकते है?

'बेशक।'

'क्यों?'

'इसलिए कि मैं पुरुष हूँ, इस छोटे-से परिवार का मुख्य अंग हूँ, इसलिए कि तुम्हारे ही कारण मुझे...।' रामेन्द्र कहते-कहते रुक गए। पर सुलोचना उनके मुँह से निकलने वाले शब्दों को ताड़ गई। उसका चेहरा तमतमा उठा, मानो छाती में बरछी-सी लग गई। मन में ऐसा उद्वेग उठा कि इसी क्षण घर छोड़कर, सारी

दुनिया से नाता तोड़कर चली जाऊँ और फिर इन्हें कभी मुँह न दिखाऊँ। अगर इसी का नाम विवाह है कि किसी की मर्जी की गुलाम होकर रहूँ, अपमान सहन करूँ, तो ऐसे विवाह को दूर ही से सलाम है।

वह तैश में आकर कमरे से निकलना चाहती थी कि कुँवर साहब ने लपककर उसे पकड़ लिया और बोले — क्या करती हो बेटी, घर में जाओ और क्यों रोती हो? अभी तो मैं जिन्दा हूँ, तुम्हें क्या गम है? रामेन्द्र बाबू ने कोई ऐसी बात नहीं कही और न कहना चाहते थे, फिर आपस की बातों का क्या बुरा मानना, किसी अवसर पर तुम भी जो जी में आए वह कह लेना।

यों समझाते हुए कुँवर साहब उसे अन्दर ले गए। वास्तव में सुलोचना कभी गुलनार से मिलने की इच्छुक न थी। वह उससे स्वयं भागती थी। एक क्षणिक आवेश में उसने गुलनार को वह पुर्जा लिख दिया था। मन में स्वयं समझती थी, इन लोगों से मेल-जोल रखना मुनासिब नहीं, लेकिन रामेन्द्र ने विरोध किया, यही उसके लिए असह्य था। यह मुझे मना क्यों करें? क्या मैं इतना भी नहीं समझती? क्या इन्हें मेरी ओर से इतनी शंका है! इसीलिए तो मैं कुलीन नहीं हूँ!

मैं अभी-अभी गुलनार से मिलने जाऊँगी, जिद्दन जाऊँगी, देखूँ मेरा क्या करते है?

लाड़-प्यार में पली हुई सुलोचना को कभी किसी ने इतनी तीखी आँखों से न देखा था। कुँवर साहब उसकी मर्जी के गुलाम थे। रामेन्द्र भी इतने दिनों उसका मुँह जोहते रहे। आज अकस्मात यह तिरस्कार और फटकार पाकर उसकी स्वेच्छा प्रेम और आत्मीयता के सारे नातों को पैरो से कुचल डालने के लिए विकल हो उठी। वह सब कुछ सह लेगी पर यह धौंस, यह अन्याय. यह अपमान उससे न सहा जाएगा।

उसने खिड़की से सिर निकालकर कोचवान को पुकारा — गाड़ी लाओ, मुझे चौक जाना है, अभी लाओ।

कुँवर साहब ने चुमकार कर कहा — बेटी सिल्लो, क्या कर रही हो, मेरे ऊपर दया करो, इस वक्त कहीं मत जाओ, नहीं तो हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा। रामेन्द्र बाबू भी बड़े गुस्सेवर आदमी है, फिर तुमसे बड़े है, ज्यादा विचारवान है, उन्हीं का कहना मान जाओ। मैं तुमसे सच कहता हूँ, तुम्हारी माँ जब थीं, तो कई बार ऐसी नौबत आई कि मैंने उनसे कहा — घर से निकल जाओ, पर उस प्रेम की देवी ने कभी ड्योढ़ी के बाहर पाँव नहीं निकाला।' इस वक्त धैर्य से काम लो! मुझे विश्वास है, जरा देर में रामेन्द्र

बाबू खुद लज्जित होकर तुम्हारे पास अपराध क्षमा कराने आएँगे।

सहसा रामेन्द्र ने आकर पूछा — गाड़ी क्यों मँगवाई? कहाँ जा रही हो?

रामेन्द्र का चेहरा इतना क्रोधोन्मत्त हो रहा था, कि सुलोचना सहम उठी। दोनों आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। नथने फड़क रहे थे, पिंडलियाँ काँप रही थी। यह कहने की हिम्मत न पड़ी कि गुलनार के घर जाती हूँ। गुलनार का नाम सुनते ही शायद यह मेरी गर्दन पर सवार हो जाएँगे, इस भय से वह काँप उठी। आत्मरक्षा का भाव प्रबल हो गया फिर बोली — जरा अम्माँ के मजार तक जाऊँगी।

रामेन्द्र ने डाँटकर कहा — कोई जरूरत नहीं वहाँ जाने की।'

सुलोचना ने कातर स्वर में कहा — क्यों अम्मा के मजार तक जाने की भी रोक है?

रामेन्द्र ने उसी ध्वनि में कहा — हाँ।'

सुलोचना ने कहा — तो फिर अपना घर सम्भालो, मैं जाती हूँ।

रामेन्द्र ने कहा — जाओ, तुम्हारे लिए क्या, यह न सही दूसरा घर सही!

अभी तक तस्मा बाकी था, वह कट गया। यों शायद सुलोचना वहाँ से कुँवर साहब के बंगले पर जाती, दो-चार दिन रूठी रहती, फिर रामेन्द्र उसे मना लाते और मामला तय हो जाता, लेकिन इस चोट ने समझौते और संधि की जड़ काट दी। सुलोचना दरवाजे तक पहुँची थी, वहीं चित्रलिखित-सी खड़ी रह गई। मानो किसी ऋषि ने शाप ने उसके प्राण खींच लिए हो, वहीं बैठ गई, न कुछ बोल सकी, न कुछ सोच सकी। जिसके सिर पर बिजली गिर पड़ी हो, वह क्या सोचे, क्या रोये, क्या बोले। रामेन्द्र के वे शब्द बिजली से कही अधिक घातक थे।

सुलोचना कब तक वहाँ बैठी रही, उसे कुछ खबर न थी। जब उसे होश आया तो घर में सन्नाटा छाया हुआ था। घड़ी की तरफ आँख उठी, एक बज रहा था। सामने आरामकुर्सी पर कुँवर साहब नवजात शिशु को गोद में लिए सो गए थे। सुलोचना ने उठकर बरामदे में झाँका, रामेन्द्र पलंग पर लेटे हुए थे। उसके जी में आया, इसी वक्त इन्हीं के सामने जाकर कलेजे में छुरी मार लूँ, और इन्हीं के आगे तड़प-तड़प कर मर जाऊँ। वह घातक शब्द याद आ गए, इनके मुँह से ऐसे शब्द निकले क्यों इतने चतुर, इतने उदार और इतने विचारशील होकर भी यह जबान पर ऐसे शब्द क्योंकर ला सके।

उसका सारा सतीत्व, भारतीय आदर्शों की गोद में पली हुई भूमि पर आसक्त पड़ी हुई अपनी दीनता पर रो रहा था। वह सोच रही थी, अगर मेरे नाम पर यह दाग न होता, मैं भी कुलीन होती, तो क्या यह शब्द इनके मुँह से निकल सकते थे? लेकिन मैं बदनाम हूँ, दलित हूँ, त्याज्य हूँ, मुझे सब कुछ कहा जा सकता है। उफ! इतना कठोर हृदय। क्या वह किसी दशा में भी रामेन्द्र पर इतना कठोर प्रहार कर सकती थी?

बरामदे में बिजली की रोशनी थी। रामेन्द्र के मुख पर क्षोभ या ग्लानि का नाम भी न था। क्रोध की कठोरता अब तक उसके मुख को विकृत किए हुए थी। शायद इन आँखों में आँसू देखकर अब भी सुलोचना के आहत हृदय को तसकीन होती, लेकिन वहाँ तो अभी तक तलवार खिंची हुई थी। उसकी आँखों में सारा संसार सूना हो गया।

सुलोचना फिर अपने कमरे में आई। कुँवर साहब की आँखें बन्द थी। इन चन्द घंटों ही में उनका तेजस्वी मुख कांतिहीन हो गया था। गालों पर आँसुओं की रेखाएँ सूख गई थी। सुलोचना ने उनके पैरो के पास बैठकर सच्ची भक्ति के आँसू बहाये। हाय! मुझ अभागिनी के लिए इन्होंने कौन-कौन से कष्ट नहीं झेले, कौन-कौन से अपमान नहीं सहे, अपना सारा जीवन ही मुझ पर अर्पण कर दिया और उसका यह हृदय-विदारक अन्त।

सुलोचना ने फिर बच्ची को देखा, मगर उसका गुलाब का-सा विकसित मुँह देखकर भी उसके हृदय में ममता की तरंग न उठी, उसने उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। यही वह अपमान की मूर्तिमान वेदना है, जो इतने दिनों तक मुझे भोगनी पड़ी। मैं इसके लिए क्यों अपने प्राण संकट में डालूँ। अगर उसके निर्दयी पिता को उसका प्रेम है, तो उसको पाले और एक दिन वह भी उसी तरह रोये, जिस तरह आज मेरे पिता को रोना पड़ रहा है। ईश्वर अबकी अगर जन्म देना, तो किसी भले आदमी के घर जन्म देना...।

जहाँ जुहरा का मजार था उसी के बगल में एक दूसरा मजार बना हुआ है, जुहरा का मजार पर घास जम आई है, जगह-जगह से चूना गिर गया है, लेकिन दूसरा मजार बहुत साफ-सुथरा और सजा हुआ है। उसके चारों तरफ गमले रखे हुए है और मजार तक जाने के लिए गुलाब की बेलों की रविशें बनी हुई है।

शाम हो गई है। सूर्य की क्षीण, उदास, पीली किरणें मानो उस मजार पर आँसू बहा रही है। एक आदमी एक तीन-चार साल की बालिका को गोद में लिए हुए आया और उस मजार को अपने रूमाल से साफ करने लगा। रविशों में जो पत्तियाँ पड़ी थी, उन्हें चुनकर साफ किया और मजार पर सुगन्ध छिड़कने लगा। बालिका दौड़-दौड़कर तितलियों को पकड़ने लगी।

यह सुलोचना का मजार है। उसकी आखिरी नसीहत थी कि मेरी लाश जलाई न जाए, मेरी माँ की बगल में मुझे सुला दिया जाए। कुँवर साहब तो सुलोचना के बाद छः महीने से ज्यादा न चल सके। हाँ, रामेन्द्र अपने अन्याय का पश्चात्ताप कर रहे थे।

शोभा अब तीन साल की हो गई है और उसे विश्वास है कि एक दिन उसकी माँ इसी मजार से निकलेगी!

ढपोरसंख

मुरादाबाद में मेरे एक पुराने मित्र है, जिन्हें दिल में तो मैं एक रत्न समझता हूँ पर पुकारता हूँ ढपोरसंख कहकर और वह बुरा नहीं मानते। ईश्वर ने उन्हें जितना हृदय दिया है, उसकी आधी बुद्धि दी होती, तो आज वह कुछ और होते! उन्हें हमेशा तंगहस्त ही देखा, मगर किसी के सामने कभी हाथ फैलाते नहीं देखा। हम और वह बहुत दिनों तक साथ पढ़े है, खासी बेतकल्लुफी है, पर यह जानते हुए भी कि मेरे लिए सौ-पचास रुपये से उनकी मदद करना कोई बड़ी बात नहीं और मैं बड़ी खुशी से करूँगा, कभी मुझसे एक पाई के रवादार न हुए। अगर हीले से बच्चे को दो-चार रुपये दे देता हूँ, तो बिदा होते समय उसकी दुगनी रकम के मुरादाबादी बर्तन लादने पड़ते है। इसलिए मैंने यह नियम बना लिया है कि जब उसके पास जाता हूँ, तो एक-दो दिन में जितनी बड़ी-से-बड़ी चपत दे सकता हूँ, देता हूँ। मौसम में जो महँगी-से-महंगी चीज होती है, वही खाता हूँ और माँग-माँगकर खाता हूँ। मगर दिल के ऐसे बेहया है, कि अगर एक बार भी उधर से निकल जाऊँ और उससे न मिलूँ तो बुरी तरह डाँट बताते है।

इधर दो-तीन साल से मुलाकात हुई थी। जी देखने को चाहता था। मई में नैनीताल जाते हुए उनसे मिलने के लिए उतर पड़ा। छोटा-सा घर है, छोटा-सा परिवार, छोटा-सा डील। द्वार पर आवाज दी — ढपोरसंख! तुरन्त बाहर निकल आए और गले लिपट गए। तांगे पर से मेरे ट्रंक को उतारकर कन्धे पर रखा, बिस्तर बगल में दबाया और घर में दाखिल हो गए। कहता हूँ, बिस्तर मुझे दे दो मगर कौन सुनता है। भीतर कदम रखा तो देवीजी के दर्शन हुए। छोटे बच्चे ने आकर प्रणाम किया। बस यही परिवार है।

कमरे में गया तो देखा खतों का एक दफ्तर फैला हुआ है। खतों को सुरक्षित रखने की तो इनकी आदत नहीं। इतने खत किसके है? कुतूहल से पूछा — यह क्या कूड़ा फैला रखा है जी, समेटो।

देवीजी मुस्कराकर बोली — कूड़ा न कहिए, एक-एक पत्र साहित्य का रत्न है। आप तो इधर आए नहीं, इनके एक नये मित्र पैदा हो गए है, यह उन्हीं के कर-कमलों का प्रसाद हैं।

ढपोरसंख ने अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखें सिकोड़कर कहा — तुम उसके नाम से क्यों इतना जलती हो, मेरी समझ में नहीं आता? अगर तुम्हारे दो-चार रुपए उस पर आते हैं, तो उनका देनदार मैं हूँ, वह भी अभी जीता-जागता है, किसी को बेईमान क्यो समझती हो? यह क्यों नहीं समझती कि उसे अभी सुविधा नहीं है और फिर

दो-चार रुपए एक मित्र के हाथों डूब ही जाएँ, तो क्यों रोओ? माना हम गरीब है, दो-चार सौ रुपए हमारे लिए दो-चार लाख से कम नहीं, लेकिन खाया तो एक मित्र ने!

देवीजी जितनी रूपवती थी, उतनी ही जबान की तेज भी थी और बोली — अगर ऐसों ही का नाम मित्र है, तो मैं नहीं समझती, शत्रु किसे कहते है।

ढपोरसंख ने मेरी तरफ देखकर, मानो मुझसे हामी भराने के लिए कहा — औरतों का हृदय बहुत ही संकीर्ण होता है।

देवीजी नारी-जाति पर यह आक्षेप कैसे सह सकती थीं, आँखें तरेर कर बोलीं — यह क्यों नहीं कहते कि उल्लू बनाकर ले गया। ऊपर से हेकड़ी जताते हो। दाल गिर जाने पर तुम्हें भी सूखा अच्छा लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं जानती हूँ, रुपया हाथ का मैल है। यह भी समझती हूँ कि जिसके भाग्य का जितना होता है, उतना वह खाता है। मगर यह कभी न मानूँगी कि वह सज्जन था और आदर्शवादी था और यह था, वह था। साफ-साफ क्यों नहीं कहते, लंपट था दगाबाज था! बस, मेरा तुमसे कोई झगड़ा नहीं है।'

ढपोरसंख ने गर्म होकर कहा — मैं यह नहीं मान सकता।

देवीजी भी गर्म होकर बोली — तुम्हें यह मानना पड़ेगा, महाशयजी आ गए है। मैं इन्हें पंच बदती हूँ, अगर यह कह देंगे कि सज्जनता का पुतला था, आदर्शवादी था, वीरात्मा था, तो मैं मान लूँगी और फिर उसका नाम न लूँगी, और यदि इनका फैसला मेरे अनुकूल हुआ तो लाला तुम्हें इनको अपना बहनोई कहना पड़ेगा!

मैंने पूछा — मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है, आप किसका जिक्र कर रही है? वह कौन था?

देवीजी ने झेंपकर कहा — इन्हीं से पूछो, कौन था? इनका बहनोई था!

ढपोरसंख ने झेंपकर कहा — अजी, एक साहित्य-सेवी था, करुणाकर जोशी। बेचारा विपत्ति का मारा यहाँ आ पड़ा था! उस वक्त तो यह भी भैया-भैया करती थी, हलवा बना-बनाकर खिलाती थीं, उसकी विपत्ति-कथा सुनकर टेसवे बहाती थीं और आज वह दगाबाज है, लंपट है, लबार है?

देवीजी ने कहा — वह तुम्हारी खातिर थी, मैं समझती थी, लेख लिखते हो, व्याख्यान देते हो, साहित्य के मर्मज्ञ बनते हो, कुछ तो आदमी को पहचानते होगा, पर अब मालूम हो गया कि कलम घिसना और बात है, मनुष्य की नाड़ी पहचानना और बात।

मैं इस जोशी का वृतांत सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। ढपोरसंख तो अपना पचड़ा सुनाने को तैयार थे, मगर देवीजी ने कहा खाने-पीने से निवृत्त होकर पंचायत बैठे, मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया।

देवीजी घर में जाती हुई बोली — तुम्हें कसम है जो अभी जोशी के बारे में एक शब्द भी इनसे कहो। मैं भोजन बनाकर जब तक खिला न लूँ, तब तक दोनों आदमियों पर दफा 144 है।

ढपोरसंख ने आँख मारकर कहा — तुम्हारा नमक खाकर यह तुम्हारी तरफदारी करेंगे ही।

इस बार देवीजी के कानों में यह जुमला न पड़ा। धीमे स्वर में कहा भी गया था, नहीं तो देवीजी ने कुछ-न-कुछ जवाब जरूर दिया होता। देवीजी चूल्हा जला चुकी और ढपोरसंख उनकी ओर से निश्चिन्त हो गए, तो मुझसे बोले — जब तक वह रसोई में है, मैं संक्षेप में तुम्हें वह वृत्तान्त सुना दूँ?

मैंने धर्म की आड़ लेकर कहा — नहीं भाई, मैं पंच बनाया गया हूँ और इस विषय में कुछ न सुनूँगा। उन्हें आ जाने दो।

'मुझे भय है कि तुम उन्ही का-सा फैसला कर दोगे और फिर वह मेरा घर में रहना अपाढ़ कर देगी।'

मैंने ढाढ़स दिया — यह आप कैसे कह सकते है, मैं क्या फैसला करूँगा?

'मैं तुम्हें जानता हूँ, तुम्हारी अदालत में औरत के सामने मर्द कभी जीत ही नहीं सकता।'

'तो क्या चाहते हो तुम्हारी डिग्री कर दूँ!'

'क्या दोस्ती का इतना हक भी नहीं अदा कर सकते?'

'अच्छा लो, तुम्हारी जीत होगी, चाहे गालियाँ ही क्यों न मिले।'

खाते-पीते दोपहर हो गई। रात का जागा था। सोने की इच्छा हो रही थी पर देवीजी कब मानने वाली थी। भोजन करके आ पहुँची। ढपोरसंख ने पत्रों का पुलिंदा समेटा और वृत्तांत सुनाने लगे।

देवीजी ने सावधान किया — एक शब्द भी झूठ बोले, तो जुर्माना होगा।

ढपोरसंख ने गम्भीर होकर कहा — झूठ वह बोलता है, जिसका पक्ष निर्बल होता है, मुझे तो अपनी विजय का विश्वास है।

इसके बाद कथा शुरू हो गई —

'दो साल से ज्यादा हुए, एक दिन मेरे पास एक पत्र आया, जिसमें साहित्य सेवा के नाते एक ड्रामे की भूमिका लिखने की प्रेरणा की

गई थी। करुणाकर का पत्र था। इस साहित्यक रीति से मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। साहित्यकारों की इस जमाने में जो दुर्दशा है, उसका अनुभव कर चुका हूँ और करता रहता हूँ और यदि भूमिका तक बात रहे, तो उनकी सेवा करने में पसोपेश नहीं होता। मैंने तुरन्त जवाब दिया — आप ड्रामा भेज दीजिए। एक सप्ताह में ड्रामा आ गया, पर अबके पत्र में भूमिका लिखने ही की नहीं कोई प्रकाशक ठीक कर देने की भी प्रार्थना की गई थी। मैं प्रकाशकों के झंझट में नहीं पड़ता। दो-एक बार पड़कर कई मित्रों को जानी दुश्मन बना चुका हूँ। मैंने ड्रामे को पढ़ा, उस पर भूमिक लिखी और हस्तलिपि लौटा दी। ड्रामा मुझे सुन्दर मालूम हुआ इसलिए भूमिका भी प्रशंसात्मक थी। कितनी ही पुस्तकों की भूमिका लिख भी चुका हूँ, इसमें कोई नई बात नहीं थी। पर अब की भूमिका लिखकर पिंड ने छूटा। एक सप्ताह बाद एक लेख आया कि इसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दीजिए। (ढपोरसंख एक पत्रिका के सम्पादक है) इसे गुण कहिए या दोष, मुझे दूसरों पर विश्वास बहुत जल्द आ जाता है, और जब किसी लेखक का मामला हो, तो मेरी विश्वास-क्रिया और भी तीव्र हो जाती है। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ जो साहित्यकारों के साए से भागते है। वह खुद निपुण लेखक है, बड़े ही सज्जन है, बड़े ही जिन्दा-दिल। अपनी शादी करके लौटने पर जब-जब रास्ते में मुझसे भेंट

हुई। कहा — आपकी मिठाई रखी हुई है, भिजवा दूँगा।' पर वह मिठाई आज तक न आई। हालाँकि अब ईश्वर की दया से विवाह-तरु में फल भी लग लाए, लेकिन खैर, मैं साहित्यसेवियों से इतना चौकन्ना नहीं रहता। इन पत्रों में इतनी विनय, इतना आग्रह, इतनी भक्ति होती थी कि मुझे जोशी से बिना साक्षात्कार के ही स्नेह हो गया। मालूम हुआ, एक बड़े बाप का बेटा, घर से इसीलिए निर्वासित है कि उसके चाचा दहेज की लम्बी रकम लेकर उसका विवाह करना चाहते थे। यह उसे मंजूर न हुआ। इस पर चाचा ने घर से निकाल दिया। बाप के पास गया। बाप आदर्श भ्रातृ-भक्त था। उसने चाचा के फैसले की अपील न सुनी। ऐसी दशा में सिद्धान्त का मारा युवक सिवाए घर से बाहर निकल भागने के और क्या करता? यों वन-वन के पत्ते तोड़ता, द्वार-द्वार ठोकरें खाता वह ग्वालियर आ गया था। उस पर मंदाग्नि का रोगी, जीर्ण ज्वर से ग्रस्त। आप ही बतलाइए, ऐसे आदमी से क्या सहानुभूति न होती? फिर जब एक आदमी आपको 'प्रिय भाई साहब' लिखता है, अपने मनोरहस्य आपके सामने खोलकर रखता है। विपत्ति में भी धैर्य और पुरुषार्थ को हाथ से नहीं, कड़े से कड़ा परिश्रम करने को तैयार है, तो यदि आप में सौजन्य का अणुमात्र भी है, तो आप उसकी मदद जरूर करेंगे।

'अच्छा, अब फिर ड्रामे की तरफ आइए। कई दिनों बाद जोशी का पत्र प्रयाग से आया। वह वहाँ एक मासिक-पत्रिका मे सम्पादकीय-विभाग में नौकर हो गया था। यह पत्र पाकर मुझे कितना सन्तोष और आनन्द हुआ, कह नहीं सकता। कितना उद्यमशील आदमी है! उसके प्रति मेरा स्नेह और भी प्रगाढ़ हो गये। पत्रिका का सम्पादक सख्ती से पेश आता था, जरा-सी देर हो जाने पर दिन-भर की मजदूरी काट लेता था, बात-बात पर घुड़कियाँ जमाता था। पर यह सत्याग्रही वीर सब-कुछ सहकर भी अपने काम में लगा रहता था। अपना भविष्य बनाने का ऐसा अवसर पाकर वह उसे कैसे छोड़ देता। यह सारी बातें स्नेह और विश्वास को बढ़ाने वाली थीं। एक आदमी को कठिनाइयों का सामना करते देखकर किसे उससे प्रेम न होगा, गर्व न होगा!

'प्रयाग में वह ज्यादा न ठहर सका। उसने मुझे लिखा, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ, भूखों मरने को तैयार हूँ, पर आत्मसम्मान में दाग नहीं लगा सकता, कुवचन नहीं सह सकता।

'ऐसा चरित्र यदि आप पर प्रभाव न डाल सके, तो मैं कहूँगा, आप चालाक चाहे जितने हों पर हृदय-शून्य है।

'एक सप्ताह के बाद प्रयाग से फिर पत्र आया — यह व्यवहार मेरे लिए असह्य हो गया। आज मैंने इस्तीफा दे दिया। यह न

समझिए कि मैंने हलके दिल से लगी-लगाई रोजी छोड़ दी। मैंने वह सब किया, जो मुझे करना चाहिए था, पर आत्मसम्मान का खून नहीं कर सकता। अगर यह कर सकता, तो मुझे घर छोड़कर निकलने की क्या आवश्यकता थी। मैंने बम्बई जाकर अपनी किस्मत आजमाने का निश्चय किया है। मेरा दृढ़ संकल्प है कि अपने घरवालों के सामने हाथ न फैलाऊँगा। उनसे दया की भिक्षा न माँगूँगा। मुझे कुलीगिरी करनी मंजूर है, टोकरी ढोना मंजूर है, पर अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता।

'मेरी श्रद्धा और बढ़ गई। यह व्यक्ति अब मेरे लिए केवल ड्रामा का चरित्र न था, जिसके सुख से सुखी और दुख से दुखी होने पर भी हम दर्शक ही रहते है। वह अब मेरे इतने निकट पहुँच गया था कि उस पर आघात होते देखकर मैं उसकी रक्षा करने को तैयार था, उसे डूबते देखकर पानी में कूदने से भी न हिचकता।

'मैं बड़ी उत्कंठा से उसके बम्बई से आने वाले पत्र का इन्तजार करने लगा। छठवें दिन पत्र आया। वह बम्बई में काम खोज रहा था। घबराने की कोई बात नहीं है, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ। फिर दो-दो, चार-चार दिन के अन्तर से कई पत्र आए। वह वीरों की भाँति कठिनाइयों के सामने कमर कसे खड़ा था, हालाँकि तीन दिन से उसे भोजन न मिला था।

ओह! कितना ऊँचा आदर्श है। कितना उज्जवल चरित्र! मैं समझता हूँ, मैंने उस समय बड़ी कृपणता की। मेरी आत्मा ने मुझे धिक्कारा — वह बेचारा इतने कष्ट उठा रहा है और तुम बैठे देख रहे हो, क्यों उसके पास कुछ रुपए नहीं भेजते? मैंने आत्मा के कहने पर अमल न किया, पर अपनी बेदर्दी पर खिन्न अवश्य था।

'जब कई दिनों की बेचैनी भरे हुए इन्तजार के बाद यह समाचार आया कि वह एक साप्ताहिक पत्र में सम्पादकीय विभाग में जगह पा गया है, तो मैंने आराम का साँस ली और ईश्वर को सच्चे दिल से धन्यवाद दिया।

'साप्ताहिक पत्र में जोशी के लेख निकलने लगे। उन्हें पढ़कर मुझे गर्व होता था। कितने सजीव, कितने विचार से भरे लेख थे। उसने मुझसे भी लेख माँगे, पर मुझे अवकाश न था। क्षमा माँगी, हालाँकि इस अवसर पर उसको प्रोत्साहन न देने पर मुझे बड़ा खेद होता था।

'लेकिन शायद बाधाएँ हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी थी। पत्र के ग्राहक कम थे। चन्दे और डोनेशन से काम चलता था। रुपए हाथ आ जाते, तो कर्मचारियों को थोड़ा-थोड़ा मिल जाता, नहीं तो आसरा लगाए काम करते रहते। इस दशा में गरीब ने तीन

महीने काटे होंगे। आशा थी, तीन महीने का हिसाब होगा, तो अच्छी रकम हाथ लगेगी, मगर वहाँ सूखा जवाब मिला। स्वामी ने टाट उलट दिया, पत्र बन्द हो गया और कर्मचारियों को अपना-सा मुँह लिए बिदा होना पड़ा। स्वामी की सज्जनता में सन्देह नहीं, लेकिन रुपए कहाँ से लाता! सज्जनता के नाते लोग आधे वेतन पर काम कर सकते थे लेकिन पेट बाँधकर काम करना कब तक मुमकिन था, और फिर बम्बई का खर्च, बेचारे जोशी को फिर ठोकरें खानी पड़ी! मैंने खत पढ़ा, तो बहुत दुःख हुआ। ईश्वर ने मुझे इस योग्य न बनाया, नहीं तो बेचारा क्यों पेट के लिए यों मारा-मारा फिरता।

'अबकी बार बहुत हैरान न होना पड़ा। किसी मिल में गाँठों पर नम्बर लिखने का काम मिल गया। एक रुपया रोज मजूरी थी। बम्बई में एक रुपया, इधर के चार आने के बराबर समझो! कैसे उसका काम चलता था, ईश्वर ही जाने।

'कई दिनों के बाद एक लम्बा पत्र आया। एक जर्मन एजेंसी उसे रखने पर तैयार थी, अगर तुरन्त सौ रुपए की जमानत दे सके। एजेंसी यहाँ की फौजों में जूते, सिगार, साबुन आदि सप्लाई करने का काम करती थी। अगर यह जगह मिल जाती, तो उसके दिन आराम से कटने लगते। लिखा था, अब जिन्दगी से तंग आ गया हूँ। हिम्मत ने जवाब दे दिया, आत्महत्या करने के सिवा और

कोई उपाय नहीं सूझता। केवल माताजी की चिन्ता है। रो-रोकर प्राण दे देंगी! पिताजी के साथ उन्हें शारीरिक सुखों की कमी नहीं, पर मेरे लिए उनकी आत्मा तड़पती रहती है। मेरी यही अभिलाषा है कि कहीं बैठने का ठिकाना मिल जाता, तो एक बार उन्हें अपने साथ रखकर उनकी जितनी सेवा हो सकती, करता। इसके सिवा मुझे कोई इच्छा नहीं है, लेकिन जमानत कहाँ से लाऊँ? बस, कल का दिन और है। परसों कोई दूसरा उम्मीदवार जमानत देकर यह ले लेगा और मैं ताकता रह जाऊँगा। एजेंट मुझे रखना चाहता है, लेकिन अपने कार्यालय के नियमों का क्या करें।

'इस पत्र ने मेरी कृपण प्रकृति को भी वशीभूत कर लिया। इच्छा हो जाने पर कोई-न-कोई राह निकल आती है। मैंने रुपए भेजने का निश्चय कर लिया। अगर इतनी मदद से एक युवक का जीवन सुधर रहा हो, तो कौन ऐसा है, जो मुँह छिपा ले। इससे बड़ा रुपयों का और क्या सदुपयोग हो सकता है। हिन्दी में कलम घिसने वालों के पास इतनी बड़ी रकम जरा मुश्किल ही से निकलती है, पर संयोग से उस वक्त मेरे कोष में रुपए मौजूद थे। मैं इसके लिए अपनी कृपणता का ऋणी हूँ। देवीजी की सलाह ली। वह बड़ी खुशी से राजी हो गई, हालाँकि अब सारा दोष मेरे ही सिर मढ़ा जाता है। कल रुपयों का पहुँचना आवश्यक था,

नहीं तो अवसर हाथ से निकल जाएगा। मनीआर्डर तीन दिन में पहुँचेगा। तुरन्त तार घर गया और तार से रुपए भेज दिए। जिसने बरसों की कतर-ब्योंत के बाद इतने रुपए जोड़े हो और जिसे भविष्य भी अभावमय ही दीखता हो, वही उस आनन्द का अनुभव कर सकता है, जो इस समय मुझे हुआ। सेठ अमीरचन्द को दस लाख का दान करके भी इतना आनन्द न हुआ होगा। दिया तो मैंने ऋण समझकर ही, पर दोस्ती का ऋण था, जिसका अदा होना स्वप्न का यथार्थ होना है।

'उस पत्र को मैं कभी न भूलूँगा, जो धन्यवाद के रूप में चौथे दिन मुझे मिला। कैसे सच्चे उद्‌गार थे! एक-एक शब्द अनुग्रह में डूबा हुआ। मैं उसे साहित्य का एक चीज समझता हूँ।'

देवीजी ने चुटकी ली — सौ रुपए में उससे बहुत अच्छा पत्र मिल सकता है!

ढपोरसंख ने कुछ जवाब न दिया। कथा कहने में तन्मय थे।

'बम्बई में वह किसी प्रसिद्ध स्थान पर ठहरा था। केवल नाम और पोस्ट-बॉक्स लिखने ही से उसे पत्र मिल जाता था। वहाँ से कई पत्र आए। वह प्रसन्न था।'

देवीजी बोली — प्रसन्न क्यों न होता, कम्पे में एक चिड़िया जो फँस गई थी।

ढपोरसंख ने चिढ़कर कहा — या तो मुझे कहने दो, या तुम कहो, बीच में बोलो मत।

'बम्बई में कई दिन के बाद एक पत्र आया कि एजेंसी ने उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे काशी में नियुक्त कर दिया है और वह काशी आ रहा है। उसे वेतन के उपरान्त भत्ता भी मिलेगा। काशी में उसके एक मामा थे जो वहाँ के प्रसिद्ध डॉक्टर थे, पर वह उनके घर न उतरकर अलग ठहरा। इससे उसके आत्मसम्मान का पता चलता है, मगर एक महीने मेम काशी से उसका जी भर गया। शिकायत से भरे पत्र आने लगे — सुबह से शाम तक फौजी आदमियों की खुशामद करनी पड़ती है, सुबह से गया हुआ दस बजे रात को घर आता हूँ। उस वक्त अकेला अंधेरा घर देखकर चित्त दुख से भर जाता है, किससे बोलूँ, किससे हँसूँ। बाजार की पूरियाँ खाते-खाते तंग आ गया हूँ। मैंने समझा था, अब कुछ दिन चैन से कटेंगे, लेकिन मालूम होता है अभी किस्मत में ठोकरें खाना लिखा है। मैं इस तरह जीवित नहीं रह सकता। रात-रात भर पड़ा रोता रहता हूँ, आदि।

'मुझे इन पत्रों से वह अपने आदर्श से गिरता हुआ मालूम हुआ। मैंने उसे समझाया, लगी रोजी न छोड़ो, काम किए जाओ।

जवाब आया, मुझसे अब यहाँ नहीं रहा जाता! फ़ौजियों का व्यवहार असह्य है, फिर मैनेजर साहब मुझे रंगून भेज रहे है और रंगून जाकर मैं बच नहीं सकता। मैं कोई साहित्यिक काम करना चाहता हूँ। कुछ दिन आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ।

'मैं इस पत्र का जवाब देने जा ही रहा था कि फिर पत्र आया। मैं कल देहरादून-एक्सप्रेस से आ रहा हूँ। दूसरे दिन वह आ पहुँचा, दुबला-सा आदमी, साँवला रंग, लम्बा मुँह, बड़ी-बड़ी आँखें, अंग्रेजी वेश, साथ में कई चमड़े के ट्रंक, एक सूटकेस, एक होल्डाल। मैं तो उसका ठाट देखकर दंग रह गया।'

देवीजी ने टिप्पणी की — फिर भी तो न चेते!

'मैंने समझा था, गाढ़े का कुर्ता, चप्पल, ज्यादा-से-ज्यादा फाउंटेन पेन वाला आदमी होगा, मगर यह महाशय तो पूरे साहब बहादुर निकले। मुझे इस छोटे से घर में उन्हें ठहराते हुए संकोच हुआ।'

देवीजी से बिना बोले न रहा गया — आते ही श्री-चरणों पर सिर तो रख दिया, अब और क्या चाहते थे।'

ढपोरसंख अबकी मुस्कराए — देखो श्यामा, बीच-बीच में टोको मत, अदालत की प्रतिष्ठा यह कहती है कि अभी चुपचाप सुनती जाओ, जब तुम्हारी बारी आए, तो जो चाहे कहना।'

फिर सिलसिला शुरू हुआ — था तो दुबला-पतला मगर बड़ी फुर्तिला, बातचीत में बड़ा चतुर, एक जुमला अंग्रेजी बोलता, एक जुमला हिन्दी और हिन्दी-अंग्रेजी की खिचड़ी, जैसे आप जैसे सभ्य लोग बोलते है, बातचीत शुरू हुई।

'आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। मैंने जैसा अनुमान किया था, वैसा ही आपको देखा, बस, अब मालूम हो रहा है, कि मैं आदमी हूँ। इतने दिनों तक कैदी था।

'ढपोरसंख ने कहा — 'तो क्या इस्तीफा दे दिया?

'नहीं, अभी तो छुट्टी लेकर आया हूँ, अभी इस महीने का वेतन भी नहीं मिला है। मैंने लिख दिया है, मेरे यहाँ के पते से भेज दें। नौकरी तो अच्छी है, मगर काम बहुत करना पड़ता है और मुझे कुछ लिखने का अवसर नहीं मिलता।'

'खैर, रात को मैंने इसी कमरे में उन्हें सुलाया। दूसरे दिन यहाँ के एक होटल में प्रबन्ध कर दिया। होटल वाले पेशगी रुपए ले लेते है। जोशी के पास रुपए न थे, मुझे तीस रुपए देने पड़े। मैंने समझा, इसका वेतन आता ही होगा, ले लूँगा.

यहाँ मेरे एक माथुर मित्र है। उनसे मैंने जोशी का जिक्र किया था। उसके आने की खबर पाते ही होटल दौड़े। दोनों में दोस्ती हो गई। जोशी दो-तीन बार दिन में, एक बार रात को जरूर आते

और खूब बातें करते। देवीजी उनको हाथों पर लिए रहतीं। कभी उनके लिए पकौड़ियाँ बना रही है, कभी हलवा। जोशी हरफनमौला था। गानें में कुशल, हारमोनियम में निपुण, इंद्रजाल के करतब दिखलाने में कुशल। सालन अच्छा पकाता था।

'देवीजी को गाना सीखने का शौक पैदा हो गया। उसे म्यूजिक मास्टर बना लिया।

देवीजी लाल मुँह करके बोली — तो क्या मुफ्त में हलवा, पकौड़ियाँ और पान बना-बनाकर खिलाती थी?

'एक महीना गुजर गया पर जोशी का वेतन न आया। मैंने पूछा भी नहीं। सोचा, अपने दिल में समझेगा, अपने होटल वाले रुपयों का तकाजा कर रहे है। माथुर के घर भी उसने आना-जाना शुरू कर दिया। दोनों साथ घूमने जाते, साथ रहते। जोशी जब आते, माथुर का बखान करते, माथुर जब आते जोशी की तारीफ़ करते। जोशी के पास अपने अनुभवों का विशेष भंडार था। वह फौज में रह चुका था। जब उसकी मंगेतर का विवाह दूसरे आदमी से हो गया, तो शोक में उसने फौजी नौकरी छोड़ दी थी। सामाजिक जीवन की न जाने कितनी घटनाएँ उसे याद थी और जब अपने माँ-बाप और चाचा-चाची का जिक्र करने लगता, तो उसकी आँखों में आँसू भर आते। देवीजी भी उसके साथ रोती।'

देवीजी तिरछी आँखों से देखकर रह गई, बात सच्ची थी।

'एक दिन मुझसे अपने एक ड्रामे की बड़ी तारीफ की। वह ड्रामा कलकत्ते में खेला गया और मदन कम्पनी के मैनेजर ने उसे बधाइयाँ दी थी। ड्रामे को दो-चार टुकड़े जो उसके पास पड़े थे, मुझे सुनाए। मुझे ड्रामा बहुत पसन्द आया। उसने काशी के एक प्रकाशक के हाथ वह ड्रामा बेच दिया था, कुछ पचीस रुपए पर। मैंने कहा — मँगा लो पचास रुपए ही सही। ड्रामा वी. पी. ले पास आ गया, तो मैने पचास रुपए दे दिए।'

'महीना खत्म हो रहा था। होटल वाले दूसरा महीना शुरु होते ही रुपए पेशगी माँगेंगे। मैं इस चिन्ता में था, कि जोशी ने आकर कहा — मैं अब माथुर के साथ रहूँगा, बेचारा गरीब आदमी है, अगर मैं बीस रुपए भी दे दूँगा, तो उसका काम चल जाएगा।' मैं बहुत खुश हुआ। दूसरे दिन वह माथुर के घर डट गया।

'जब आते, तो माथुर के घर का कोई-न-कोई रहस्य लेकर आते। यह तो जानता था कि माथुर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है, बेचारा रेलवे के दफ्तर में नौकर था, वह नौकरी भी छूट गई थी। मगर यह न मालूम था कि उसके यहाँ फाके हो रहे है। कभी मकान मालिक आकर गालियाँ सुना जाता है, कभी दूधवाला, कभी बनिया, कभी कपड़ेवाला। बेचारा उनसे मुँह छिपाता फिरता

है। जोशी आँखों में आँसू भर-भरकर उसके संकटों की करुण कहानी कहता और रोता। मैं तो जानता था, मैं ही एक आफत का मारा हूँ, माथुर की दशा देखकर मैं अपनी विपत्ति भूल गया। मुझे अपनी ही चिन्ता है, कोई दूसरी फ़्रिक नहीं। जिसके द्वार पर जा पड़ूँ दो रोटियाँ मिल जाएँगी, मगर माथुर के पीछे तो पूरा खटला है। माँ, दो विधवा बहनें, एक भांजी, दो भांजे, एक छोटा भाई। इतने बड़े परिवार के लिए पचास रुपए तो केवल रोटी-दाल के लिए चाहिए। माथुर सच्चा वीर है, देवता है जो इतने बड़े परिवार का पालन कर रहा है। वह अब अपने लिए नहीं माथुर के लिए दुखी था।'

देवीजी ने टीका की — जभी माथुर की भांजी पर डोरे डाल रहा था। दुःख का भार कैसे हलका करता।

ढपोरसंख ने बिगड़कर कहा — अच्छा तो अब तुम्हीं कहो।

मैंने समझाया — तुम तो यार, जरा-जरा सी बात पर तिनक उठते हो! क्या तुम समझते हो, यह फुलझड़ियाँ मुझे न्याय-पथ से विचलित कर देंगी?

फिर कहानी शुरु हुई। एक दिन आकर बोला — आज मैंने माथुर के उद्धार का उपाय सोच निकाला। मेरे एक माथुर मित्र बैरिस्टर है, उनसे जग्गो (माथुर की भांजी) के विवाह के विषय में

पत्र व्यवहार कर रहा हूँ। उसकी एक विधवा बहन को दोनों बच्चों के साथ ससुराल भेज दूँगा, दूसरी बहन अपने देवर के पास जाने पर राजी है। बस तीन-चार आदमी रह जाएँगे, कुछ मैं दूँगा, कुछ माथुर पैदा करेगा, गुजर हो जाएगी। मगर आज उसके घर का दो महीने का किराया देना पड़ेगा। मकान मालिक ने सुबह ही से धरना दे रखा है। कहता है, अपना किराया लेकर ही हटूँगा। आपके पास तीस रुपए मिल जाएँगे, एक मित्र संकट में पड़ा हुआ है, दूसरा मित्र उसकी सिफारिश कर रहा है। मुझे इनकार करने का साहस न हुआ! देवीजी ने उस वक्त नाक-भौं जरूर सिकोड़ा था, पर मैं ना माना, रुपए दे दिए।

देवीजी ने डंका मारा — यह क्यों नहीं कहते, कि वह रुपए मेरी बहन ने बर्तन खरीदकर भेजने के लिए भेजे थे।

ढपोरसंख ने गुस्सा पीकर कहा — खैर, यही सही! मैंने रुपए दे दिए, मगर मुझे यह उलझन होने लगी, कि इस तरह तो मेरा कचूमर निकल जाएगा। माथुर पर एक-न-एक संकट रोज ही सवार रहेगा, मैं कहाँ तक उन्हें उबारूँगा। जोशी भी जान खा रहा था कि कहीं कोई जगह दिला दीजिए। संयोग से उन्हीं दिनों मेंरे एक आगरा के मित्र आ निकले। काउंसिल में मेम्बर थे। अब जेल में है। गाने-बजाने का शौक है, दो-एक ड्रामे लिख चुके है। अच्छे-अच्छे रईसों से परिचय है! खुद भी बड़े रसिक है।

अबकी वह आए, तो मैंने जोशी का उनसे जिक्र किया। उसका ड्रामा भी सुनाया। फिर बोले — 'तो उसे मेरे साथ कर दीजिए, अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लूँगा, मेरे घर में रहे, मेरे साथ घर के आदमी की तरह रहे। जेब खर्च के लिए तीस रुपए महीना लेता जाए, मेरे साथ ड्रामे लिखें।'

'मैं फूला न समाया। जोशी से कहा। जोशी भी तैयार हो गया, लेकिन जाने से पहले उसे कुछ रुपयों की जरुरत हुई। एक भले आदमी के साथ फटेहालों तो जाते नहीं बनता और न यही उचित था कि पहले दिन से रुपए का तकाजा होने लगे!

'बहुत काट-छाँट करने पर भी चालीस रुपए का खर्च निकल आया। जूते टूट गए थे, धोतियाँ फट गई थीं और भी कई खर्च थे, जो इस वक्त याद नहीं आते। मेरे पास रुपए न थे। श्यामा से माँगने का साहस न हुआ।

देवीजी बोली — मेरे पास तो कारूँ का खजाना रखा था न! कई हजार रुपए महीने लाते हो, सौ-दो-सौ रुपए बचत में आ जाते होंगे।'

ढपोरसंख इस व्यंग्य पर ध्यान न देकर अपनी कथा कहते रहे — 'रुपए पाकर जोशी ने ठाट बनाया और काउन्सिलर साहब के

साथ चले। मैं स्टेशन तक पहुँचाने गया, माथुर भी था। वहाँ से लौटा, तो मेरे दिल पर से एक बोझ उतर गया था।

'माथुर ने कहा — बड़ा मुहब्बती आदमी है।

'मैंने समर्थन किया — बड़ा, मुझे तो भाई-सा मालूम होता है।

'मुझे तो अब घर अच्छा न लगेगा, घर के सब आदमी रोते रहे, मालूम ही न होता था कि कोई गैर आदमी है। अम्माँ से लड़के की तरह बातें करता था, बहनों से भाई की तरह।'

'बदनसीब आदमी है, नहीं, जिसका बाप दो हजार रुपए माहवारी कमाता हो, वह यों मारा-मारा फिरे।'

'दार्जिलिंग में इनके बाप की दो कोठियाँ है?'

'आई. एम. एस. है!'

'जोशी मुझे भी मुझे वहीं ले जाना चाहता है, साल-दो-साल में तो वहाँ जाएगा ही, कहता है, तुम्हें मोटर की एजेंसी खुलवा दूँगा।'

'इस तरह ख्याली पुलाव पकाते हुए हम लोग घर आए।

'मैं दिल में खुश था कि चलो अच्छा हुआ, जोशी के लिए अच्छा सिलसिला निकल आया। मुझे यह आशा भी बँध चली कि अबकी उसे वेतन मिलेगा, तो मेरे रुपए देगा। चार-पाँच महीने में चुकता कर देगा। हिसाब लगाकर देखा, तो अच्छी खासी रकम हो गई

थी। मैंने दिल में समझा, यह भी अच्छा ही हुआ। यों जमा करता, तो कभी जमा न होते। इस बहाने से किसी तरह जमा तो हो गए। मैंने सोचा कि अपने मित्र से जोशी के वेतन के रुपए पेशगी क्यों न ले लूँ। कह दूँ, उसके वेतन से महीने-महीने काटते रहिएगा।

'लेकिन अभी मुश्किल में एक सप्ताह हुआ होगा कि एक दिन देखता हूँ तो जोशी और माथुर दोनों चले आ रहे है। मुझे भय हुआ, कहीं जोशीजी फिर तो नौकरी नहीं छोड़ आए, लेकिन शंका को दबाता हुआ बोला — कहो भाई, कब आए? मजे में तो हो?

'जोशी ने बैठकर एक सिंगार जलाते हुए कहा — बहुत अच्छी तरह हूँ। मेरे बाबू साहब बड़े ही सज्जन आदमी है। मेरे लिए अलग एक कमरा खाली करा दिया है, साथ ही खिलाते है, बिल्कुल भाई का तरह रखते है। आजकल किसी काम से दिल्ली गए है, मैंने सोचा, यहाँ पड़े-पड़े क्या करूँ, तब तक आप ही लोगों से मिलता आऊँ। चलते वक्त बाबू साहब ने मुझसे कहा था, मुरादाबाद से थोड़े से बर्तन लेते आना, मगर शायद उन्हें रुपए देने की याद नहीं रही। मैंने उस वक्त माँगना भी उचित न समझा। आप एक पचास रुपए दे दीजिएगा, मैं परसों तक जाऊँगा और वहाँ से जाते ही भिजवा दूँगा। आप तो जानते ही है, रुपए का मामले में वह कितने खरे है।

'मैंने जरा रुखाई के साथ कहा — रुपए तो इस वक्त मेरे पास नहीं है।

देवीजी ने टिप्पणी की — क्यों झूठ बोलते हो? तुमने रुखाई से कहा था कि रुपए नही है?

ढपोरसंख ने पूछा — और क्या चिकनाई के साथ कहा था।

देवीजी ने कहा — तो फिर कागज के रुपए क्यों दे दिए थे? बड़ी रुखाई करने लगे!

ढपोरसंख ने कहा — अच्छा साहब, मैंने हँसकर रुपए दे दिए। बस, अब खुश हुई। तो भई, मुझे बुरा तो लगा, लेकिन अपने सज्जन मित्र का वास्ता था। मेरे ऊपर बेचारे बड़ी कृपा रखते है। मेरे पास पत्रिका का कागज खरीदने के लिए पचास रुपए रखे हुए थे, वह मैंने जोशी को दे दिये।

'शाम को माथुर ने आकर कहा — जोशी तो चले गए। कहते थे बाबू साहब का तार आया गया है। बड़ा उदार आदमी है, मालूम ही नहीं होता, कोई बाहरी आदमी है। स्वभाव भी बालकों का-सा है। भांजी की शादी तय करने को कहते थे, लेन-देन का तो कोई जिक्र है ही नहीं। पर कुछ नजर तो देनी ही पड़ेगी। बैरिस्टर साहब, जिनसे विवाह हो रहा है, दिल्ली के रहने वाले है, उनके

पास जाकर नजर देनी होगी। जोशीजी चले जाएगे, आज मैंने रुपए भी दे दिए। चलिए, एक बड़ी चिन्ता सिर से टली।

'मैंने पूछा — रुपए तो तुम्हारे पास न होंगे?

'माथुर ने कहा — रुपए कहाँ थे साहब! एक महाजन से स्टाम्प लिखकर लिए, दो रुपए सैकड़े सूद पर।

देवीजी ने क्रोध भरे स्वर में कहा — मैं तो उस दुष्ट को पा जाऊँ, तो मुँह नोंच लूँ, पिशाच ने इस गरीब को भी न छोड़ा।

ढपोरसंख बोला — यह क्रोध आपको अब आ रहा है न, तब तो आप भी समझती थी कि जोशी दया और धर्म का पुतला है।'

देवीजी ने विरोध किया — मैंने उसे पुतला-पुतली कभी नहीं समझा। हाँ, तुम्हारी तकलीफों के भुलावे में पड़ जाती थी।

ढपोरसंख ने कहा — तो साहब, इस तरह कोई दो महीने गुजरे। इस बीच में भी जोशी दो-तीन बार आए, मगर कुछ माँगा नहीं। हाँ, बाबू साहब के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें की, जिनसे मुझे दो-चार गल्प लिखने की सामग्री मिल गई।

'मई का महीना था। एक दिन प्रातःकाल जोशी आ पहुँचे। मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, उनके बाबू नैनीताल चले गए। इन्हें भी

लिए जाते थे, पर उन्होंने हम लोगों के साथ यहां रहना अच्छा समझा और चले आए।'

देवीजी ने फुलझड़ी छोड़ी — कितना त्यागी था बेचारा, नैनीताल की बहार छोड़कर यहाँ गर्मी में प्राण देने चला आया।

ढपोरसंख ने इसकी ओर कुछ ध्यान न देकर कहा — मैंने पूछा, कोई नई बात तो नहीं हुई वहाँ?

'जोशी ने हँसकर कहा — भाग्य में नई-नई विपत्तियाँ लिखी है, उनसे कैसे जान बच सकती है। अबकी भी एक नई विपत्ति सिर पर पड़ी, यह कहिए, आपका आशीर्वाद था, जान बच गई, नहीं तो अब तक जमुनाजी में बहा चला जाता होता। एक दिन जमुना किनारे सैर करने चला गया। वहाँ तैराकी का मैच था, बहुत से आदमी तमाशा देखने आए थे। मैं भी एक जगह खड़ा होकर देखने लगा। मुझे थोड़ी दूर पर एक और महाशय एक युवती के साथ खड़े थे। मैंने बातचीत की तो मालूम हुआ, मेरी ही बिरादरी के है। यह भी मालूम हुआ, मेरे पिता और चाचा, दोनों से उनका परिचय है। मुझसे स्नेह की बातें करने लगे। तुम्हें इस तरह ठोकरे खाते तो बहुत दिन हो गए, क्यों नहीं चले जाते, अपने माँ-बाप के पास। माना कि उनका लोक-व्यवहार तुम्हें पसन्द नहीं,

लेकिन माता-पिता का पुत्र पर कुछ-न-कुछ अधिकार तो होता है, तुम्हारी माताजी को कितना दुःख हो रहा होगा।

'सहसा एक युवक किसी तरफ से आ निकला और वृद्ध महाशय तथा युवती को देखकर बोला — आपको शर्म नहीं आती कि आप अपनी युवती कन्या को इस तरह मेले में लिए खड़े है।'

'वृद्ध महाशय का मुँह जरा-सा निकल आया और युवती तुरन्त घूँघट निकालकर पीछे हट गई। मालूम हुआ कि उसका विवाह इसी युवक से ठहरा हुआ है। वृद्ध उदार, सामाजिक विचारों के आदमी थे, परदे के कायल न थे। युवक, वयस में युवक होकर भी खूसट विचारों का आदमी था, परदे का कट्टर पक्षपाती। वृद्ध थोड़ी देर तक तो अपराधी भाव से बातें करते रहे, पर युवक प्रतिक्षण गर्म हो जाता था। आखिर बूढ़े बाबा भी तेज हुए।

'युवक ने आँखें निकालकर कहा — मैं ऐसी निर्लज्जा से विवाह करना अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ।

'वृद्ध ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में कहा — और मैं तुम-जैसे लंपट से अपनी कन्या का विवाह करना लज्जा की बात समझता हूँ।

'युवक ने क्रोध के आवेश में वृद्ध का हाथ पकड़कर धक्का दिया। बातों से न जीतकर अब वह हाथों से काम लेना चाहता था। वृद्ध

धक्का खाकर गिर पड़े। मैंने लपककर उन्हें उठाया और युवक को डाँटा।

'वह वृद्ध को छोड़कर मुझसे लिपट गया। मैं कोई कुश्तीबाज तो हूँ नहीं, वह लड़ना जानता था, मुझे उसने बात-ही-बात में गिरा दिया और मेरा गला दबाने लगा। कई आदमी जमा हो गए थे। जब तक कुश्ती होती रही, लोग कुश्ती का आनन्द उठाते रहे लेकिन जब देखा मामला संगीन हुआ जाता है, तो तुरन्त बीच-बचाव कर दिया। युवक बूढ़े बाबा से जाते-जाते कह गया — 'तुम अपनी लड़की को वेश्या बनाकर बाजार में घुमाना चाहते हो, तो अच्छी तरह घुमाओ। मुझे अब उससे विवाह नहीं करना है।' वृद्ध चुपचाप खड़े थे और युवती रो रही थी। भाई साहब, तब मुझसे न रहा गया।

'मैंने कहा — महाशय, आप मेरे पिता तुल्य है और मुझे जानते है। यदि आप मुझे इस योग्य समझें तो मैं इन देवीजी को अपनी हृदयेश्वरी बनाकर अपने को धन्य समझूँगा। मैं जिस दशा में हूँ, आप देख रहे है। सम्भव है, मेरा जीवन इसी तरह कट जाए, लेकिन श्रद्धा, सेवा और प्रेम यदि जीवन को सुखी बना सकता है, तो मुझे विश्वास है कि देवीजी के प्रति मुझमें इन भावों की कमी न रहेगी।

बूढ़े बाबा ने गदगद होकर मुझे कंठ से लगा लिया। उसी क्षण मुझे अपने घर ले गए। भोजन कराया और विवाह का सगुन कर दिया। मैं एक बार युवती से मिलकर उसकी सहमति लेना चाहता था। बूढ़े बाबा ने मुझे इसकी सहर्ष अनुमति दे दी। युवती से मिलकर मुझे ज्ञात हुआ कि वह रमणियों में रत्न है।

'मैं उसकी बुद्धिमत्ता देकर चकित हो गया। मैंने अपने मन में जिस सुन्दरी की कल्पना की थी, वह उससे हू-ब-हू मिलती है। मुझे उतनी ही देर में विश्वास हो गया कि मेरा जीवन उसके साथ सुखी होगी। मुझे अब आशीर्वाद दीजिए। युवती आप की पत्रिका बराबर पढ़ती है और आपसे उसे बड़ी श्रद्धा है। जून में विवाह होना निश्चित हुआ है।

'मैंने स्पष्ट कह दिया — मैं जेवर-कपड़े नाममात्र को लाऊँगा, न कोई धूमधाम ही करूँगा।

'वृद्ध ने कहा — मैं तो स्वयं यही कहने वाला था, मैं कोई तैयारी नहीं चाहता, न धूमधाम की मुझे इच्छा है।

'जब मैंने आपका नाम लिया कि वह मेरे बड़े के तुल्य है तो वह बहुत प्रसन्न हुए। आपके लेखों को वह बड़े आदर से देखते है।

'मैंने कुछ खिन्न होकर कहा — यह तो सब कुछ है, लेकिन इस समय तुममें विवाह करने की सामर्थ्य भी नहीं है, और कुछ न हो, तो पचास रुपए की बंधी हुई आमदनी तो होनी चाहिए।

'जोशी ने कहा — भाई साहब, मेरा उद्धार विवाह से ही होगा। मेरे घर से निकलने का कारण भी विवाह ही था और घर वापस जाने का कारण भी विवाह ही होगा। जिस दिन प्रमिला हाथ बाँधे हुए जाकर पिताजी के चरणों पर गिर पड़ेगी, उनका पाषाण हृदय भी पिघल जाएगा। समझेंगे विवाह तो हो ही चुका, अब वधू पर क्यों जुल्म किया जाए। जब उसे आश्रय मिल जाएगा, तो मुझे झमक मारकर बुलाएँगे। मैं इसी जिद्द पर घर से निकला था कि विवाह अपनी इच्छानुसार बिना कुछ लिए-दिए करूँगा और वह मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई जा रही है। प्रमीला इतनी चतुर है कि वह मेरे घरवालों को चुटकियों में मना लेगी। मैंने तखमीना लगा लिया है, कुछ तीन सौ रुपए खर्च होंगे और यही तीन-चार सौ रुपए मुझे ससुराल से मिलेंगे। मैंने सोचा है, प्रमीला को पहले यहीं लाऊँगा, यहीं से वह मेरे घर पत्र लिखेगी और देखिएगा, तीसरे ही दिन चचा साहब गहनों की पिटारी लिए आ पहुँचेंगे। विवाह हो जाने पर वह कुछ नहीं कर सकते, इसलिए मैंने विवाह की खबर नहीं की है।'

'मैंने कहा — लेकिन मेरे पास तो अभी कुछ भी नहीं है भाई, मैं तीन सौ रुपए कहाँ से लाऊँगा।

'जोशी ने कहा — तीन सौ रुपए नकद थोड़े ही लगेंगे। कोई सौ रुपए के कपड़े लगेंगे, सौ रुपए की दो-एक सुहाग की चीजें बनवा लूँगा और सौ रुपए राहखर्च समझ लीजिए। उनका मकान काशीपुर में है, वहीं से विवाह करेंगे। वह बंगाली सुनार जो सामने है, आपके कहने से एक सप्ताह के वादे पर जो-जो चीजें मागूँगा, दे देगा। बजाज भी आपके कहने से दे देगा, नकद मुझे कुछ सौ रुपए की जरूरत पड़ेगी और ज्यों ही उधर से लौटा त्यों ही दे दूँगा। बारात में आप और माथुर के सिवा और कोई तीसरा आदमी न होगा। मैं आपको कष्ट नहीं देना चाहता, लेकिन जिस तरह अब तक आपने मुझे भाई समझकर सहायता दी है, उसी तरह एक बार और दीजिए। मुझे विश्वास था कि आप इस शुभ कार्य में आपत्ति न करेंगे, इसीलिए मैंने वचन दे दिया अब तो आपको यह डोंगी पार लगानी ही पड़ेगी।'

देवीजी बोलीं — मैं कहती थी, उसे एक पैसा मत दो, कह दो हम तुम्हारी शादी-विवाह के झंझट में नहीं पड़ते।

ढपोरसंख ने कहा — हाँ, तुमने अबकी बार जरूर समझाया, लेकिन मैं क्या करता। शादी का मामला, उसपर उसने मुझे भी घसीट

लिया था। अपनी इज्जत का कुछ ख्याल तो करना ही पड़ता है। देवीजी में मेरा लिहाज किया और चुप हो गई।

अब मैं उस वृत्तान्त को न बढ़ाऊँगा, सारांश यह है कि जोशी ने ढपोरसंख के मत्थे सौ रुपए के कपड़े और सौ रुपए के कुछ ऊपर के गहनों का बोझ लादा। बेचारे ने एक मित्र से सौ रुपए उधार लेकर उसके सफर खर्च को दिया। खुद ब्याह में शरीक हुए, ब्याह में खासी धूमधाम रही। कन्या के पिता ने मेहमानों का आदर-सत्कार खूब किया। उन्हें जल्दी थी, इसलिए वह खुद तो दूसरे ही दिन चले आए। पर माथुर, जोशी के साथ विवाह के अन्त तक रहा। ढपोरसंख को आशा थी कि जोशी ससुराल से रुपए पाते ही माथुर के हाथों भेज देगा या खुद लेता आएगा। मगर माथुर भी दूसरे दिन आ गए। खाली हाथ और यह खबर लाए कि जोशी को ससुराल में कुछ भी हाथ नहीं लगा। माथुर से उन्हें मालूम हुआ कि लड़की से जमुना-तट पर मिलने की बात सर्वथा निर्मूल थी। इस लड़की से जोशी बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार करता रहा था। फिर तो ढपोरसंख के कान खड़े हो गए और माथुर से पूछा — अच्छा! यह बिल्कुल कल्पना थी उसकी?'

माथुर ने कहा — जी हाँ।

ढपोरसंख ने कहा — अच्छा, तुम्हारी भांजी के विवाह का क्या हुआ?

माथुर ने कहा — अभी तो कुछ नहीं हुआ।

ढपोरसंख ने कहा — मगर जोशी ने कई महीने तक तुम्हारी सहायता तो खूब की?

माथुर ने कहा — मेरी सहायता वह क्या करता। हाँ, दोनो जून भोजन भले ही कर लेता था।

ढपोरसंख ने कहा — तुम्हारे नाम पर उसने मुझसे जो रुपए लिए थे, वह तो तुम्हें दिए होंगे?

माथुर ने कहा — क्या मेरे नाम पर रुपए लिए थे?

ढपोरसंख ने कहा — हाँ भाई, तुम्हारे घर का किराया देने के लिए तो ले गया था।

माथुर ने कहा — सरासर बेईमानी, मुझे उसने एक पैसा भी नहीं दिया, उलटे और एक महाजन से मेरे नाम पर सौ रुपयों का स्टाम्प लिखकर रुपए लिए, मैं क्या जानता था कि धोखा दे रहा है।'

संयोग से उसी वक्त आगरा से वह सज्जन आ गए जिनके पास जोशी कुछ दिनों रहा था। उन्होंने माथुर को देखकर पूछा — अच्छा! आप जिन्दा है, जोशी ने तो कहा था, माथुर मर गया है।'

माथुर ने कहा — मेरे तो सिर में दर्द भी नहीं हुआ।

ढपोरसंख ने पूछा — अच्छा, आपके मुरादाबादी बर्तन तो पहुँच गए।

आगरा-निवासी मित्र ने कहा — कैसे मुरादाबादी बर्तन?'

'वही जो आपने जोशी की मारफत मँगवाए थे?'

'मैं कोई चीज उसकी मारफत नहीं मँगवाई, मुझे जरूरत होती तो आपको सीधा न लिखता!'

माथुर ने हँसकर कहा — तो यह रुपए भी उसने हजम कर लिए।'

आगरा-निवासी मित्र बोले — मुझसे भी तो तुम्हारी मृत्यु के बहाने सौ रुपए लाया था। वह तो एक जालिया निकला। उफ! कितना बड़ा चकमा दिया है इसने! जिन्दगी में यह पहला मौका है कि मैं यों बेवकूफ बना। बच्चा को पा जाऊँ तो तीन साल के को भेजवाऊँ। कहाँ है आजकल?

माथुर ने कहा — अभी तो ससुराल मे है।

ढपोरसंख का वृतान्त समाप्त हो गया। जोशी ने उन्हीं को नहीं, माथुर जैसे और गरीब, आगरा-निवासी सज्जन-जैसे घाघ को भी उलटे छूरे से मूड़ा और अगर भंडा न फूट गया होता तो अभी न जाने कितने दिनों तक मूड़ता। उसकी इन मौलिक चालों पर मैं भी मुग्ध हो गया। बेशक! अपने फन का उस्ताद है, छटा हुआ गुर्गा।

देवीजी बोली — सुन ली, आपने सारी कथा?

मैंने डरते-डरते कहा — हाँ, सुन तो ली।'

'अच्छा, तो अब आपका क्या फैसला है? (पति की ओर इशारा करके) इन्होंने घोंघापन किया या नहीं? जिस आदमी को एक-एक पैसे के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़े, वह घर के पाँच-छह रुपए इस तरह उड़ा दे, इसे आप सज्जनता कहेंगे या बेवकूफी? अगर इन्होंने यह समझकर रुपए दिए होते कि पानी में फेंक रहा हूँ, तो मुझे कोई आपत्ति न थी, मगर यह बराबर धोखे में रहे और मुझे भी उसी धोखे में डालते रहे कि वह घर का मालदार है और मेरे सब रुपए ही न लौटा देगा, बल्कि और भी कितने सलूक करेगा। जिसका बाप दो हजार रुपए महीना कमाता हो, जिसके चाचा की आमदनी एक हजार मासिक हो और एक लाख की जायदाद घर में हो, वह और कुछ नहीं तो यूरोप की सैर तो एक

बार करा ही सकता था। मैं अगर कभी मना भी करती हूँ तो आप बिगड़ जाते और उदारता का उपदेश देने लगते थे। यह मैं स्वीकार करती हूँ कि शुरू में मैं भी धोखे में आ गई थी, मगर पीछे से मुझे उस पर सन्देह होने लगा था और विवाह के समय मैंने जोर देकर कह दिया था कि अब एक पाई भी न दूँगी। पूछिए, झूठ कहती हूँ या सच? फिर अगर मुझे धोखा हुआ, तो मैं घर में रहने वाली स्त्री हूँ, मेरा धोखे में आ जाना क्षम्य है, मगर जो लेखक और विचारक और उपदेशक बनते है, यह क्यों धोखे में आए और जब मैं इन्हें समझाती थी, तो यह क्यों अपने को बुद्धिमत्ता का अवतार समझकर मेरी बातों की उपेक्षा करते थे? देखिए, रू-रिआयत न कीजिएगा, नहीं तो मैं बुरी तरह खबर लूँगी। मैं निष्पक्ष न्याय चाहती हूँ।

ढपोरसंख ने दर्दनाक आँखों से मेरी तरफ देखा, जो मानो भिक्षा माँग रही थी। उसी के साथ देवीजी का आग्रह, आवेश और गर्व से भरी आँखें ताक रही थीं। एक को अपनी हार का विश्वास था, दूसरी को अपनी जीत का। एक रिआयत चाहती थी, दूसरी सच्ची न्याय।

मैंने कृत्रिम गंभीरता से अपना निर्णय सुनाया — मेरे मित्र ने कुछ भावुकता से अवश्य काम लिया है, पर उनकी सज्जनता निर्विवाद है।

ढपोरसंख उछल पड़े और मेरे गले लिपट गए। देवीजी ने सगर्व नेत्रों से देखकर कहा — यह तो मैं जानती थी — चोर-चोर मौसेरा भाई' होंगे, तुम दोनों एक ही थाली के चट्टे-बट्टे हो, अब तक रुपए में एक पाई मर्दों का विश्वास था, आज तुमने वह भी उठा दिया। आज निश्चय हुआ, कि पुरुष छली, कपटी, विश्वासघाती और स्वार्थी होते है। मैं इस निर्णय को नहीं मानती। मुफ्त में ईमान बिगाड़ना इसी को कहते है, भला मेरा पक्ष लेते तो अच्छा भोजन मिलता। उनका पक्ष लेकर आपको सड़े सिगरटों के सिवा और क्या हाथ लगेगा। खैर, हाँडी गई, कुत्ते की जात तो पहचानी गई।

उस दिन से दी-तीन बार देवीजी से भेंट हो चुकी है और वही फटकार सुननी पड़ी है। वह न क्षमा करना चाहती है, न क्षमा कर सकती है।

डिमांस्ट्रेशन

महाशय गुरुप्रसादजी रसिक जीव हैं, गाने-बजाने का शौक हैं, खाने-खिलाने का शौक हैं और सैर-तमाशे का शौक हैं, पर उसी मात्रा में द्रव्योपार्जन का शौक नहीं हैं। यों वह किसी के मुँहताज नहीं हैं, भले आदमियों की तरह हैं, और हैं भी भले आदमी, मगर किसी काम में चिमट नही सकते। गुड़ होकर भी उनमें लस नहीं हैं। वह कोई ऐसा काम उठाना चाहते हैं, जिसमें चटपट कारूँ का खजाना मिल जाए और हमेशा के लिए बेफिक्र हो जाएँ।

बैंक से छमाही सूद चला आए, खाएँ और मजे से पड़े रहे, किसी ने सलाह दी — नाटक-कम्पनी खोलो। उनके दिल में बात जम गई। मित्रों को लिखा — मैं ड्रामेटिक कम्पनी खोलने जा रहा हूँ, आप लोग ड्रामें लिखना शुरू कीजिए।

कम्पनी का प्रास्पेक्टस बना, कई महीने उसकी खूब चर्चा रही, कई बड़े-बड़े आदमियों ने हिस्से खरीदने के वादे किए, लेकिन न हिस्से बिके, न कम्पनी खड़ी हुई। हाँ, इसी धुन में गुरुप्रसाद में एक नाटक की रचना कर डाली और यह फ्रिक हुई कि इसे किस कम्पनी को दिया जाए, लेकिन यह तो मालूम ही था कि

कम्पनी वाले एक ही घाघ होते हैं। फिर हरेक कम्पनी में उसका एक नाटककार होता भी हैं। वह कब चाहेगा कि उसकी कम्पनी में किसी बाहरी आदमी का प्रवेश हो, वह इस रचना में तरह-तरह के ऐब निकालेगा और कम्पनी के मालिक को भड़का देगा। इसलिए प्रबन्ध किया गया कि मालिकों पर नाटक का कुछ ऐसा प्रभाव जमा दिया जाए कि नाटककार महोदय की कुछ दाल न गल सके। पाँच सज्जनों की एक कमेटी बनाई गई, उसमें सारा प्रोग्राम विस्तार के साथ तय किया गया और दूसरे दिन पाँच सज्जन गुरुप्रसादजी के साथ नाटक दिखाने चले। ताँगे आ गए, हारमोनियम, तबला आदि सब उस पर रख दिए गए क्योंकि नाटक का डिमांस्ट्रेशन करना निश्चित हुआ था।

सहसा विनोदबिहारी ने कहा — यार, ताँगे पर जाने में तो कुछ बदरोबी होगी, मालिक सोचेगा, यह महाशय यों ही हैं, इस समय दस-पाँच रुपए का मुँह न देखना चाहिए। मैं तो अंग्रेजी की विज्ञापनबाजी का कायल हूँ कि रुपए में पन्द्रह आने उसमें लगाकर शेष एक आने में रोजगार करते हैं, कहीं से दो मोटरें मँगानी चाहिए।

रसिकलाल बोले — लेकिन किराए की मोटरों से वह बात न पैदा होगी, जो आप चाहते हैं। किसी रईस से दो मोटरें माँगनी चाहिए, मारिस हो या नए चाल की ऑस्टिन।

बात सच्ची हैं। भेष से भीख मिलती हैं। विचार होने लगा कि किस रईस से याचना की जाए।

'अजी, वह महा खूसट हैं। सबेरे उसका नाम ले लो तो दिन भर पानी ने मिले। अच्छा सेठजी के पास चलें तो कैसा? मुँह धो रखिए, उसकी मोटरें अफसरों के लिए रिजर्व हैं, अपने लड़के तक को कभी बैठने नहीं देता, आपको दिए देता हैं।'

'तो फिर कपूर साहब के पास चलें। अभी उन्होंने नई मोटर ली हैं। अजी, उसका नाम न लो, कोई-न-कोई बहाना करेगा, ड्राइवर नहीं हैं, मरम्मत में हैं।'

गुरुप्रसाद ने अधीर होकर कहा — तुम लोगों ने तो व्यर्थ का बखेड़ा कर दिया, ताँगों पर चलने पर क्या हरज था?

विनोदबिहारी ने कहा — आप तो घास खा गए हैं, नाटक लिख लेना दूसरी बात हैं और मामले को पटाना दूसरी बात हैं। रुपए पृष्ठ सुना देना, अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।

अमरनाथ ने कहा — मैं तो समझता हूँ, मोटर के लिए किसी राजा-रईस की खुशामद करना बेकार हैं, तारीफ तो तब हैं कि पाँव-पाँव चले और वहाँ ऐसा रंग जमाएँ कि मोटर से भी ज्यादा शान रहे।

विनोदबिहारी उछल पड़े। सब लोग पाँव-पाँव चले। वहाँ पहुँचकर किस तरह की बातें शुरू होगी, किस तरह तारीफों के पुल बाँधे जाएँगे, किस तरह ड्रामेटिस्ट साहब को खुश किया जाएगा, इस पर बहस होती जाती थी।

हम लोग कम्पनी के कैम्प में कोई दो बजे पहुँचे। वहाँ मालिक साहब, उनके ऐक्टर, नाटककार सब पहले से ही हमारा इन्तजार कर रहे थे। पान, इलायची, सिगरेट मँगा लिए थे।

ऊपर जाते ही रसिकलाल ने मालिक से कहा — क्षमा कीजिएगा, हमें आने में देर हुई, हम मोटर से नहीं, पाँव-पाँव आए हैं, आज यहीं सलाह हुई कि प्रकृति की छटा का आनन्द उठाते चलें, गुरुप्रसाद तो प्रकृति के उपासक हैं। इनका बस होता तो आज चिमटा लिए या तो कहीं भीख माँगते होते, या किसी पहाड़ी गाँव में वटवृक्ष के नीचे बैठे पक्षियों का चहकना सुनते होते।

विनोद ने रद्दा जमाया — पूरे सतजुगी आदमी हैं। नौकर-चाकर तो मोटरों पर सवार होते हैं और आप गली-गली मारे-मारे फिरते हैं, जब और रईस नींद के मजे लेते होते हैं तो आप नदी के किनारे उषा का शृंगार देखते हैं।

मस्तराम ने फरमाया — कवि होना, मानो दीन-दुनिया से मुक्त हो जाना हैं, गुलाब की एक पंखड़ी लेकर उसमें न जाने क्या घंटो

देखा करते हैं। प्रकृति के उपासना ने ही यूरोप के बड़े-बड़े कवियों को आसमान पर पहुँचा दिया हैं। यूरोप में होते तो आज इनके द्वार पर हाथी झूमता होता। एक दिन एक बालक को रोते देखकर आप रोने लगे, पूछता हूँ भाई क्यों रोते हो, तो और रोते हैं, मुँह से आवाज नहीं निकलती, बड़ी मुश्किल से आवाज निकली।

विनोद ने कहा — जनाब! कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत हैं, मधुर संगीत का भंडार हैं, अनन्त का आईना हैं।

रसिक ने कहा — क्या बात कही हैं आपने, अनन्त का आईना! वाह! कवि की सोहबत में आप भी कवि हुए जा रहे हैं।

गुरुप्रसाद ने नम्रता से कहा — मैं कवि नहीं हूँ और न मुझे कवि होने का दावा हैं। आप लोग मुझे जबरदस्ती कवि बनाए देते हैं, कवि सृष्टि की वह अद्‌भुत रचना हैं जो पंचभूतो की जगह नौ रसों से बनती हैं।

मस्तराम ने कहा — आपका यही एक वाक्य हैं, जिस पर सैंकड़ों कविताएँ न्योछावर हैं, सुनी आपने रसिकलालजी, कवि की महिमा, याद कर लीजिए, रट डालिए।

रसिकलाल ने कहा — कहाँ तक याद करें, भैया, यह तो सूक्तियों में बात करते हैं, और नम्रता का यह हाल हैं कि अपने को कुछ

समझते ही नहीं, महानता का यही लक्षण हैं। जिसने अपने को कुछ समझा, वह गया (कम्पनी के स्वामी से) आप तो अब खुद ही सुनेंगे, इस ड्रामे में अपना हृदय निकालकर रख दिया हैं, कवियों में जो एक प्रकार का अल्हड़पन होता हैं, उसकी आप में कहीं गन्ध भी नहीं। इस ड्रामे की सामग्री जमा करने के लिए आपने कुछ नहीं तो एक हजार बड़े-बड़े पोथों का अध्ययन किया होगा, वाजिदअली शाह को स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने कितना कलंकित किया है, आप लोग जानते ही है, उस लेख-राशि को छाँटकर उसमें से सत्य के तत्त्व खोज निकालना आप ही का काम था!

विनोद ने कहा — इसीलिए हम और आप दोनों कलकत्ता गए और वहाँ कोई छः महीने मटियाबुर्ज की खाक छानते रहे। वाजिदअली शाह की हस्तलिखित एक पुस्तक की तलाश की, उसमें उन्होंने खुद अपनी जीवन-चर्चा लिखी है, एक बुढ़िया की पूजा की गई, तब कहीं जाके छः महीने में किताब मिली।

अमरनाथ ने कहा — पुस्तक नहीं रत्न है।

मस्तराम ने कहा — उस वक्त तो उसकी दशा कोयले की थी, गुरुप्रसाद ने उसपर मोहर लगाकर अशर्फी बना दिया, ड्रामा ऐसा

चाहिए की जो सुने, दिल हाथों से थाम लें, एक-एक वाक्य दिल में चुभ जाए।

अमरनाथ ने कहा — संसार-साहित्य के सभी नाटकों को आपने चाट डाला और नाट्य-रचना पर सैंकड़ों किताबें पढ़ डाली।

विनोद ने कहा — जभी तो चीज भी लासानी हुई है।

अमरनाथ ने कहा — लाहौर ड्रामेटिक क्लब का मालिक हफ्त भर यहाँ पड़ा रहा, पैरों पड़ा कि मुझे यह नाटक दे दीजिए लेकिन आपने न दिया। जब ऐक्टर ही अच्छे नहीं तो उनसे अपना ड्रामा खेलवाना उसकी मिट्टी खराब कराना था, इस कम्पनी के ऐक्टर माशाअल्लाह अपना जवाब नहीं रखते और इस नाटककार की सारे जमाने में धूम है, आप लोगों के हाथों में पड़कर यह ड्रामा धूम मचा देगा।

विनोद ने कहा — एक तो लेखक साहब खुद शैतान से ज्यादा मशहूर है, उसपर यहाँ के ऐक्टरों का नाट्य-कौशल! शहर लुट जाएगा।

मस्तराम ने कहा — रोज ही तो किसी-न-किसी कम्पनी का आदमी सिर पर सवार रहता है, मगर बाबू साहब किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते।

विनोद ने कहा — बस एक कम्पनी है, जिसके तमाशे के लिए दिल बेकरार रहता है, नहीं तो और जितने ड्रामे खेले जाते हैं दो कौड़ी के, मैंने तमाशा देखना ही छोड़ दिया।

गुरुप्रसाद ने कहा — नाटक लिखना बच्चों का खेल नहीं है, खूने जिगर पीना पड़ता है, मेरे ख्याल में एक नाटक लिखने के लिए पाँच साल का समय काफी नहीं, बल्कि अच्छा ड्रामा जिन्दगी में एक ही लिखा जा सकता है, यों कलम घिसना दूसरी बात है, बड़े-बड़े धुरंधर आलोचकों का यही निर्णय है कि आदमी जिन्दगी में एक ही नाटक लिख सकता है। रूस, फ्रांस, जर्मनी सभी देशों के ड्रामे पढ़े, पर कोई-न-कोई दोष सभी में मौजूद, किसी में भाव है तो भाषा नहीं, भाषा है तो भाव नहीं, हास्य है तो गाना नहीं, गाना है तो हास्य नहीं। जब तब भाव, भाषा, हास्य और गाना चारों अंग पूरे न हो, उसे ड्रामा कहना ही न चाहिए, मैं तो बहुत ही तुच्छ आदमी हूँ, कुछ आप लोगों की सोहब्बत में शुदबुद आ गई। मेरी रचना की हस्ती ही क्या, लेकिन ईश्वर ने चाहा, तो ऐसे दोष आपको न मिलेंगे।

विनोद ने कहा — जब आप उस विषय के मर्मज्ञ है, तो दोष रह ही कैसे सकते है।

रसिकलाल ने कहा — दस साल तक तो आपने केवल संगीत-कला का अभ्यास किया है, घर के हजारों रुपए उस्तादों को भेंट कर दिए, फिर भी दोष रह जाए, तो दुर्भाग्य है।

रिहर्सल —

रिहर्सल शुरू और वाह! वाह! वाह! वाह! का तार बँधा। कोरस सुनते ही ऐक्टर और प्रोपाइटर और नाटककार सभी मानो जाग पड़े। भूमिका ने उन्हें विशेष प्रभावित किया था, पर असली चीज सामने आते ही आँखें खुलीं। समाँ बँध गया। पहला सीन आया। आँखों के सामने वाजिदअली शाह के दरबार की तस्वीर खिंच गई। दरबारियों की हाजिर-जवाबी और फड़कते हुए लतीफे! वाह! वाह! क्या कहना है! क्या वाक्य रचना थी, क्या शब्द योजना थी, रसों का कितना सुरुचि से भरा हुआ समावेश था! तीसरा दृश्य हास्यमय था। हँसते-हँसते लोगों की पसलियाँ दुखने लगी, स्थूलकाय स्वामी की संयत अविचलता भी आसन से डिग गई। चौथा सीन करुणाजनक था, हास्य के बाद करुणा, आँधी के बाद आने वाली शान्ति थी। विनोद आँखों पर हाथ रखे, सिर झुकाए जैसे रो रहे थे। इसी तरह सीन-पर-सीन और अंक-पर-अंक समाप्त

होते गए, यहाँ तक कि जब रिहर्सल समाप्त हुआ, तो दीपक बुझ चुके थे।

सेठजी अब तक सोंठ बने हुए बैठे थे। ड्रामा समाप्त हो गया, पर उनके मुखारविंद पर उनके मनोविचार का लेशमात्र भी आभास न था। जड़ बैठे हुए थे, न मुस्कराहट, न कौतूहल, न हर्ष, न कुछ। विनोदबिहारी ने मुआमले की बात पूछी — तो इस ड्रामे के बारे में श्रीमान की क्या राय है?

सेठजी ने उसी विरक्त भाव से उत्तर दिया — मैं इसके विषय में कल निवेदन करूँगा, कल यहीं भोजन भी कीजिएगा, आप लोगों के लायक भोजन क्या होगा, उसे केवल विदुर का साग समझकर स्वीकार कीजिएगा।

पंच पांडव बाहर निकले, तो मारे खुशी के सबकी बाछें खिली जाती थीं।

विनोद ने कहा — पाँच हजार की थैली है, नाक-नाक बद सकता हूँ।

अमरनाथ ने कहा — पाँच हजार की है कि दस, यह तो नहीं कह सकता, पर रंग खूब जम गया।

रसिक ने कहा — मेरा अनुमान को चार हजार का है।

मस्तराम ने कहा — और मेरा विश्वास है कि दस हजार से कम वह कहेगा ही नहीं, मैं तो सेठ के चेहरे की तरफ ध्यान से देख रहा था, आज ही कह देता, पर डरता था, कहीं ये लोग अस्वीकार न कर दें, उसके होंठों पर तो हँसी न थी, पर मगन हो रहा था।

गुरुप्रसाद ने कहा — मैंने पढ़ा भी तो जी तोड़कर।

विनोद ने कहा — ऐसा जान पड़ता था कि तुम्हारी वाणी पर सरस्वती बैठ गई है, सभी की आँखें खुल गई।

रसिक ने कहा — मुझे उसकी चुप्पी से जरा सन्देह होता है।

अमर ने कहा — आपके सन्देह का क्या कहना, आपको ईश्वर पर भी सन्देह है।

मस्तराम ने कहा — ड्रामेटिस्ट भी बहुत खुश हो रहा था, दस-बारह हजार का वारा-न्यारा है। भई, आज इस खुशी में एक दावत होनी चाहिए।

गुरुप्रसाद ने कहा — अरे, तो कुछ बोहनी-बट्टा तो जाए।

मस्तराम ने कहा — जी नहीं, तब तो जलसा होगा, आज दावत होगी।

विनोद ने कहा — भाग्य के बली हो तुम गुरुप्रसाद।

रसिकलाल ने कहा — मेरी राय है, जरा ड्रामेटिस्ट को गाँठ लिया जाए, उसका मौन मुझे भयभीत कर रहा है।

मस्तराम ने कहा — आप तो वाही हुई है, वह नाक रगड़कर रह जाए. तब भी यह सौदा होकर रहेगा। सेठजी बचकर निकल नहीं सकते।

विनोद ने कहा — हम लोगों की भूमिका भी तो जोरदार थी।

अमर ने कहा — उसी ने तो रंग जमा दिया, अब कोई छोटी रकम कहने का उसे साहस न होगा।

अभिनय —

रात को गुरुप्रसाद के घर मित्रों की दावत हुई। दूसरे दिन कोई 6 बजे पाँचों आदमी सेठजी के पास जा पहुँचे। सन्ध्या का समय हवाखोरी का है। आज मोटर पर न आने के लिए बना-बनाया बहाना था। सेठजी आज बेहद खुश नजर आते थे। कल की वह मुहर्रमी सूरत अन्तर्धान हो गई थी। बात-बात पर चहकते थे, हँसते थे, जैसे लखनऊ का कोई रईस हो। दावत का सामान तैयार था। मेजों पर भोजन चुना जाने लगा। अंगूर, संतरे, केले, सूखे मेवे, कई किस्म की मिठाइयाँ, कई तरह के मुरब्बे, शराब आदि सजा दिए गए और यारों ने खूब मजे से दावत खाई।

सेठजी मेहमाननवाजी के पुतले बने हुए हरेक मेहमान के पास आ-आकर पूछते — कुछ और मँगवाऊँ? कुछ तो और लीजिए। आप लोगों के लायक भोजन यहाँ कहाँ बन सकता है।

भोजन के उपरान्त लोग बैठे, तो मामले की बातचीत होने लगी। गुरुप्रसाद का हृदय आशा और भय से काँपने लगा।

सेठजी ने कहा — हुजूर ने बहुत ही सुन्दर नाटक लिखा है, क्या बात है।

ड्रामेटिस्ट ने कहा — यहाँ जनता अच्छे ड्रामों की कद्र नहीं करती, नहीं तो यह ड्रामा लाजवाब होता।

सेठजी ने कहा — जनता कद्र नहीं करती न करे, हमें जनता की बिल्कुल परवाह नहीं है, रत्ती बराबर परवाह नहीं है। मैं इसकी तैयारी में 50 हजार केवल बाबू साहब की खातिर खर्च कर दूँगा। आपने इतनी मेहनत से एक चीज लिखी है, तो मैं उसका प्रचार भी उतने ही हौसले से करूँगा। हमारे साहित्य के लिए क्या यह कुछ कम सौभाग्य की बात है कि आप जैसे महान पुरुष इस क्षेत्र में आ गए। यह कीर्ति हुजूर को अमर बना देगी।

ड्रामेटिस्ट ने कहा — मैंने ऐसा ड्रामा आज तक नहीं देखा, लिखता मैं भी हूँ और लोग भी लिखते है, लेकिन आपकी उड़ान को कोई

क्या पहुँचेगा! कहीं-कहीं तो आपने शेक्सपियर को भी मात कर दिया है।

सेठजी ने कहा — तो जनाब, जो चीज दिल की उमंग से लिखी जाती है, वह ऐसी ही अद्वितीय होती है। शेक्सपियर ने जो कुछ लिखा, रुपए के लोभ से लिखा, हमारे दूसरे नाटककार भी धन ही के लिए लिखते है। उनमें वह बात कहाँ पैदा हो सकती है। गोसाई जी का रामायण क्यों अमर है, इसीलिए कि वह भक्ति और प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई है। सादी की गुलिस्ताँ और बोस्ताँ, होमर की रचनाएँ, इसीलिए स्थाई है कि उन कवियों के दिल की उमंग से लिखा। जो उमंग से लिखता है वह एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, एक-एक उक्ति पर महीनों खर्च कर देता है। धनेच्छु को तो एक काम जल्दी से समाप्त करके दूसरा काम शुरू करने की फ्रिक होती है।

ड्रामेटिस्ट ने कहा — आप बिल्कुल सत्य कह रहे है, हमारे साहित्य की अवनति केवल इसलिए हो रही है कि हम सब धन के लिए या नाम के लिए लिखते है।

सेठजी ने कहा — सोचिए, आपने दस साल केवल संगीत-कला में खर्च कर दिए, लाखों रुपए कलावंतों और गायकों को दे डाले होंगे। कहाँ-कहाँ से और कितने परिश्रम और खोज से इस नाटक

की सामग्री एकत्र की। न जाने कितने राजों-महाराजों को सुनाया, इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है।

ड्रामेटिस्ट ने कहा — मुमकिन ही नही! ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरस्कार यदि कुछ है, तो वह अपनी आत्मा का सन्तोष है, वह सन्तोष आपके एक-एक शब्द से प्रकट होता है।

सेठजी ने कहा — आपने बिल्कुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा को सन्तोष है। यश तो बहुधा ऐसी रचनाओं को मिल जाता है, जो साहित्य के कलंक है। आप ड्रामा ले लीजिए और आज से ही पार्ट भी तकसीम कर दीजिए। तीन महीने के अन्दर इसे खेल डालना होगा।

मेज पर ड्रामे की हस्तलिपि पड़ी हुई थी। ड्रामेटिस्ट ने उसे उठा लिया। गुरुप्रसाद ने दीन नेत्रों से विनोद की ओर देखा, विनोद ने अमर की ओर, अमर ने रसिक की ओर, पर शब्द किसी के मुँह से न निकला। सेठजी ने मानो, सभी के मुँह सी दिए हों।
ड्रामेटिस्ट चल दिए।

सेठजी ने मुस्कराकर कहा — हुजूर को थोड़ी-सी तकलीफ और करनी होगी। ड्रामे का रिहर्सल शुरू हो जाएगा, तो आपको थोड़े दिनों तक कम्पनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा। हमारे

ऐक्टर अधिकांश गुजराती है, वह हिन्दी भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते, कहीं-कहीं शब्दों पर अनावश्यक जोर देते है। आपकी निगरानी से यह सारी बुराइयाँ दूर हो जाएँगी। ऐक्टरों ने यदि पार्ट अच्छा न किया, तो आपके सारे परिश्रम पर पानी पड़ जाएगा।

यह कहते हुए उन्होंने लड़के को आवाज दी — बॉय! इन लोगों के लिए सिगार लाओ।

सिगार आ गया। सेठजी उठ खड़े हुए। यह मित्र-मंडली के लिए विदाई की सूचना थी। पाँचों सज्जन भी उठे। सेठजी आगे-आगे द्वार तक आए। फिर सबसे हाथ मिलाते हुए कहा — आज इस गरीब कम्पनी तमाशा देख लीजिए, फिर यह संयोग न जाने कब प्राप्त हो।

गुरुप्रसाद ने मानो किसी कब्र के नीचे से कहा — हो सका तो आ जाऊँगा।

सड़क पर आकर पांचों मित्र खड़े होकर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। तब पाँचों ही जोर से ठहाका मारकर हँस पड़े।

विनोद ने कहा — यह हम सबका गुरुघंटाल निकला।

अमर ने कहा — साफ आँखों में धूल झोंक दी।

रसिक ने कहा — मैं उसी चुप्पी देखकर पहले ही डर रहा था कि यह कोई पल्ले सिरे का घाघ है।

मस्तराम ने कहा — मान गया इसकी खोपड़ी को, यह चपत उम्र भर न भूलेगी।

गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाए चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को समझ ही न पाए हों।

दारोगाजी

कल शाम को एक जरूरत से तांगे पर बैठा हुआ जा रहा था कि रास्ते में एक और महाशय तांगे पर आ बैठे। तांगेवाला उन्हें बैठाना तो न चाहता था, पर इनकार भी न कर सकता था। पुलिस के आदमी से झगड़ा कौन मोल ले। यह साहब किसी थाने के दरोगा थे। एक मुकदमें की पैरवी करने सदर आए थे! मेरी आदत हैं कि पुलिसवालों से बहुत कम बोलता हूँ। सच पूछिए तो मुझे उनकी सूरत से नफरत हैं, उनके हाथों प्रजा को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका अनुभव इस जीवन में कई बार कर चुका हूँ।

मैं जरा एक तरफ खिसक गया और मुँह फेरकर दूसरी ओर देखने लगा कि दारोगाजी बोले — जनाब, यह आम धारणा हैं कि पुलिस वाले बहुत रिश्वत लेते हैं, लेकिन यह कोई नहीं देखता कि पुलिस वाले रिश्वत लेने के लिए कितने मजबूर हैं, अगर पुलिस वाले रिश्वत लेना बन्द कर दें तो मैं हलफ से कहता हूँ, ये जो बड़े-बड़े ऊँची पगड़ियों वाले रईस नजर आते हैं, सब-के-सब जेलखाने के अन्दर बैठे दिखाई दे, अगर हर एक मामले का

चालान करने लगें, तो दुनिया पुलिस वालो को और भी बदनाम करें, आपको यकीन न आएगा जनाब, रुपए की थैलियाँ गले लगाई जाती हैं, हम हजार इनकार करें, पर चारों तरफ से ऐसे दबाव पड़ते हैं कि लाचार होकर लेना ही पड़ता हैं।

मैंने उपहास के भाव से कहा — जो काम रुपए लेकर किया जाता हैं, वही काम बिना रुपए लिए भी तो किया जा सकता हैं।

दारोगाजी हँसकर बोले — वह तो गुनाह बेलज्जत होगा, बन्दापरवर। पुलिस का आदमी इतना कट्टर देवता नहीं होता, और मेरा ख्याल हैं कि शायद इंसान भी इतना बेलौस नहीं हो सकता, और सींगों के लोगों को भी देखता हूँ, मुझे तो कोई देवता न मिलता...।

मैं अभी इसका कुछ जवाब दे ही रहा था कि एक मियाँ लम्बी अचकन पहने, तुर्की टोपी लगाए, तांगे के सामने से निकले। दारोगाजी ने उन्हें देखते ही झुककर सलाम किया और शायद मिजाज शरीफ पूछना चाहते थे कि उस भले आदमी ने सलाम का जवाब गालियों से देना शुरू किया। जब तांगा कई कदम आगे निकल आया तो वह एक पत्थर लेकर तांगे के पीछे दौड़ा। तांगेवाले ने घोड़े को तेज किया। उस भलेमानुस ने भी कदम तेज किए और पत्थर फेंका। मेरा सिर बाल-बाल बच गया।

उसने दूसरा पत्थर उठाया, वह हमारे सामने आकर गिरा। तीसरा पत्थर इतनी जोर से आया कि दारोगाजी के घुटने में बड़ी चोट आइ, पर इतनी देर में तांगा इतनी दूर निकल आया कि हम पत्थरों की मार से दूर हो गए थे। हाँ, गालियों की मार अभी तक जारी थी। जब तक वह आदमी आँखों से ओझल न हो गया, हम उसे एक हाथ में पत्थर उठाए, गालियाँ बकते हुए देखते रहे।

जब जरा चित्त शान्त हुआ, मैंने दारोगाजी से पूछा — यह कौन आदमी हैं साहब, कोई पागल को नहीं हैं?

दारोगाजी ने घुटने सहलाते हुए कहा — पागल नहीं हैं साहब, मेरा पुराना दुश्मन हैं, मैंने समझा था, पिछली बातें भूल गया होगा, वरना मुझे क्या पड़ी थी कि सलाम करने जाता।

मैंने पूछा — आपने इसे किसी मुक़दमे में सजा दिलाई होगी?

दारोगाजी ने कहा — बड़ी लम्बी दास्तान हैं जनाब! बस इतना ही समझ लीजिए कि इसका बस चले, तो मुझे जिन्दा ही निगल जाए।

'आप तो आग को और भड़का रहे हैं, अब तो वह दास्तान सुने बगैर तस्कीन न होगी।'

दारोगाजी ने पहलू बदलकर कहा — अच्छी बात हैं, सुनिए! कई साल हुए, मैं सदर में ही तैनात था। बेफिक्री के दिन थे, ताजा खून, एक माशूक से आँख लड़ गई, आमदरफ्त शुरू हुई, अब भी जब उस हसीना की याद आती हैं, तो आँखों से आँसू निकल आते हैं, बाजारू औरतों में इतनी हया, इतनी वफा, इतनी मुरव्वत मैंने नहीं देखी। दो साल उसके साथ इतने लुत्फ से गुजरे कि आज भी उसकी याद करके रोता हूँ, मगर किस्से को बढ़ाउँगा नहीं, वरना अधूरा ही रह जाएगा। मुख्तसर यह कि दो साल के बाद मेरे तबादले का हुक्म आ गया, उस वक्त दिल को जितना सदमा पहुँचा, उसका जिक्र करने के लिए दफ्तर चाहिए, बस जी चाहता था कि इस्तीफा दे दूँ, उस हसीना ने खबर सुनी, तो उसकी जान-सी निकल गई। सफर की तैयारी के लिए तीन दिन मिले थे, ये तीन दिन हमने मंसूबे बाँधने में काटे। उस वक्त मुझे अनुभव हुआ कि औरतों को अक्ल से खाली समझने में हमने कितनी बड़ी गलती की हैं, मेरे मंसूबे शेखचिल्ली के-से होते थे। कलकत्ते भाग चलें, वहाँ कोई दुकान खोल लें, या इसी तरह कोई दूसरी तजवीज करता, लेकिन वह यही जवाब देती कि अभी वहाँ जाकर अपना काम करो, जब मकान को बन्दोबस्त हो जाए, तो मुझे बुला लेना, मैं दौड़ी चली आऊँगी।

आखिर जुदाई की घड़ी आई, मुझे मालूम होता था कि अब जान न बचेगी। गाड़ी का वक्त निकला जाता था और मैं उसके पास से उठने का नाम न लेता था। मगर मैं फिर किस्से को तूल देने लगा। खुलासा यह कि मैं उसे दो-तीन दिन में बुलाने का वादा करके रुखसत हुआ। पर अफसोस! वे दो-तीन दिन कभी न आए। पहले दस-पाँच दिन तो अफसरों से मिलने और इलाके की देखभाल में गुजरे। इसके बाद घर से खत आ गया कि तुम्हारी शादी तय हो गई, रुखसत लेकर चले आओ। शादी की खुशी में उस वफा की देवी की मुझे फिक्र न रही। शादी करके महीने-भर बाद लौटा, बीवी साथ थी, रही-सही याद भी जाती रही। उसने एक महीने के बाद खत भेजा, पर मैंने जवाब न दिया। डरता रहता था कि कहीं एक दिन वह आकर सिर पर सवार न हो जाए, फिर बीवी को मुँह दिखाने लायक भी न रह जाऊँ!

साल भर के बाद मुझे एक काम से सदर आना पड़ा। उस वक्त मुझे उस औरत की याद आई। सोचा, जरा चलकर देखना चाहिए, किस हालत में है। फौरन अपने खत न भेजने और इतने दिनों तक न आने का जवाब सोच लिया और उसके द्वार पर जा पहुँचा। दरवाजा साफ-सुथरा था, मकान की हालत भी पहले से अच्छी थी, दिल को खुशी हुई कि इसकी हालत उतनी खराब नहीं

हैं, जितनी मैं समझी थी। और, क्यों खराब होने लगी। मुझ जैसे दुनिया में क्या आदमी ही नहीं हैं।

मैंने दरवाजा खटखटाया। अन्दर से वह बन्द थी, आवाज आई — कौन है?

मैंने कहा — वाह! इतनी जल्द भूल गई, मैं हूँ बशीर...

कोई जवाब न मिला, आवाज उसी की थी, इसमें कोई शक नहीं, फिर दरवाजा क्यों नहीं खोलती? जरूर मुझसे नाराज हैं। मैंने फिर किवाड़ खटखटाए और लगा अपनी मुसीबतों का किस्सा सुनाने, कोई पन्द्रह मिनट के बाद दरवाजा खुला। हसीना ने मुझे इशारे से अन्दर बुलाया और चट किवाड़ बन्द कर लिए।

मैंने कहा मुआफी माँगने आया हूँ, यहाँ से जाकर मैं बड़ी मुश्किल में फँस गया, इलाका इतना खराब कि दम मारने की मुहलत नहीं मिलती।

हसीना ने मेरी तरफ न देखकर जमीन की तरफ ताकते हुए कहा — मुआफी किस बात की? तुमसे मेरा निकाह तो हुआ न था, दिल कहीं और लग गया, तो मेरी याद क्यों आती, मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं, जैसा और लोग करते हैं, वैसा तुमने किया, यही क्या कम हैं कि इतने दिनों के बाद इधर आ तो गए, रहे तो खैरियत से?

'किसी तरह जिन्दा हूँ।'

शायद जुदाई में घुलते-घुलते यह तोंद निकल आई हैं, खुदा झूठ बुलवाए, तब से दूने हो गए हो।'

मैंने झेंपते हुए कहा — यह सारा बलगम की फिसाद हैं, भला मोटा मैं क्या होता, उधर का पानी निहायत बलगमी हैं, तुमने तो मेरी याद ही भूला दी।

उसने अबकी मेरी ओर निगाह से देखा और बोली — खत का जवाब तक न दिया, उलटे मुझी को इलजाम देते हो। मैं तुम्हें शुरू से बेवफा समझती थी और तुम वैसे ही निकले, बीवी लाए और मुझे खत तक न लिखा?

मैंने ताज्जुब से पूछा — तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मेरी शादी हो गई?'

उसने रुखाई से कहा — यह पूछकर क्या करोगे? झूठ तो नहीं कहती, बेवफा बहुत देखे, लेकिन तुम सबसे बढ़कर निकले, तुम्हारी आवाज सुनकर जी में तो आया कि दुत्कार दूँ, लेकिन यह सोचकर दरवाजा खोल दिया कि अपने दरवाजे पर किसी को क्या जलील करूँ।

मैंने कोट उतार कर खूँटी पर लटका दिया, जूते भी उतार डाले और चारपाई पर लेटकर बोला — लैली, देखो, इतनी बेरहमी से न पेश आओ, मैं अपनी खताओं को खुद तस्लीम करता हूँ, इसीलिए अब तुमसे मुआफी माँगने आया हूँ, जरा अपने नाजुक हाथों से एक पान तो खिला दो! सच कहना, तुम्हें मेरी याद काहे को आती होगी, कोई और यार मिल गया होगा।

लैली पानदान खोलकर पान बनाने लगी कि एकाएक किसी ने किवाड़ खटखटाए।

'मैंने घबराकर पूछा — यह कौन शैतान आ पहुँचा?

हसीना ने होठों पर उँगली रखते हुए कहा — यह मेरे शौहर हैं, तुम्हारी तरफ से जब निराश हो गई, तो मैंने इनके साथ निकाह कर लिया।

मैंने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा — तो तुमने मुझसे पहले ही क्यों न बता दिया, मैं उल्टे पाँव लौट न जाता, यह नौबत क्यों आती, न जाने कब की यह कसर निकाली।

'मुझे क्या मालूम कि यह इतने जल्दी आ पहुँचेंगे, रोज तो पहर रात गए आते थे, फिर तुम इतनी दूर से आए थे, तुम्हारी कुछ खातिर भी तो करनी थी।'

'यह अच्छी खातिर की, बताओ, अब मैं जाऊँ कहाँ?'

'मेरी समझ में खुद कुछ नहीं आ रहा हैं, या अल्लाह! किस अजाब में फँसी।'

इतने में उन साहब ने खटखटाया। ऐसा मालूम होता था कि किवाड़ तोड़ डालेगा, हसीना के चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था। बेचारी खड़ी काँप रही थी। बस, जबान से यही निकलता था — या अल्लाह, रहम कर।

बाहर से आवाज आई — अरे, तुम सरेशाम से सो गई? अभी तो आठ भी नहीं बजे। कहीं साँप तो नहीं सूँघ गया, अल्लाह जानता हैं, अब और देर की, तो किवाड़ चिड़वा डालूँगा।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा — खुदा के लिए मेरे छिपने की कोई जगह बताओ, पिछवाड़े कोई दरवाजा नहीं?

'ना!'

'संडास तो है?'

'सबसे पहले वहीं जाएंगे।'

'अच्छा, वह सामने कोठरी कैसी है।'

'हाँ, है तो, लेकिन कहीं कोठरी खोलकर देखा तो?'

'क्या बहुत डबल आदमी है?'

'तुम जैसे दो को बगल में दबा लें।'

'तो खोल दो कोठरी, वह ज्यों ही अन्दर आएगा, मैं दरवाजा खोलकर निकल भागूँगा।'

हसीना ने कोठरी खोल दी। मैं अन्दर जा घुसा। दरवाजा फिर बन्द हो गया।

मुझे कोठरी में बन्द करके हसीना ने जाकर सदर दरवाजा खोला और बोली — क्यों किवाड़ तोड़े डालते हो? आ तो रही हूँ।

मैंने कोठरी की किवाड़ों के दराजों से देखा। आदमी क्या पूरा देव था। अन्दर आते ही बोला — तुम सरेशाम से सो गई थी!

'हाँ, जरा आँख लग गई थी!'

'मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि तुम किसी से बातें कर रही थी।'

'वहम की दवा तो लुकमान के पास भी नहीं।'

'मैंने साफ सुना, कोई-न-कोई था जरूर, तुमने उसे कहीं छिपा रखा है।'

'इन्हीं बातों पर तुमसे मेरा जी जलता है, सारा घर तो पड़ा है, देख क्यों नहीं लेते।'

'देखूँगा तो मैं जरूर ही, लेकिन तुमसे सीधे-सीधे पूछता हूँ, बतला लो, कौन था?'

हसीना ने कुंजियों का गुच्छा फेंकते हुए कहा — और कोई था तो घर ही में न होगा। लो सब जगह देख आओ, सई तो है नहीं कि मैंने कहीं छिपा दी हो।

वह शैतान इन चकमों में न आया, शायद पहले भी ऐसा ही चरका खा चुका था।

कुंजियों का गुच्छा उठाकर सबसे पहले मेरी कोठरी के द्वार पर आया और उसके ताले को खोलने की कोशिश करने लगा! गुच्छे में उस ताले की कुंजी न थी फिर उसने कहा — इस कोठरी की कुंजी कहाँ है?

हसीना ने बनावटी ताज्जुब से कहा — अरे, तो क्या उसमें कोई छिपा बैठा है? वह तो लकड़ियों से भरी पड़ी है।

'तुम कुंजी दे दो न।'

'तुम भी कभी-कभी पागलों के-से काम करने लगते हो, अंधेरे में कोई साँप-बिच्छू निकल आए तो, ना भैया, मैं उसकी कुंजी न दूँगी।'

'बला से साँप निकल आएगा, अच्छा ही हो, निकल आए, इस बेहयाई की जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी!'

हसीना ने इधर-उधर तलाश करके कहा — न जाने उसकी कुंजी कहाँ रख दी, ख्याल नहीं आता।

'इस कोठरी में तो मैंने पहले कभी ताला नहीं देखा।'

'मैं तो रोज लगाती हूँ, शायद कभी लगाना भूल गई हूँ, तो नहीं कह सकती।'

'तो तुम कुंजी न दोगी?'

'कहती तो हूँ इस वक्त नहीं मिल रही है।'

'कह देता हूँ, कच्चा ही खा जाऊँगा।'

अब तक तो मैं किसी तरह जब्त किए खड़ा रहा। बार-बार अपने ऊपर गुस्सा आ रहा था कि यहाँ क्यों आया। न-जाने यह शैतान कैसे पेश आए। कहीं तैश में आकर मार ही न डाले। मेरे हाथों में तो कोई छुरी भी नहीं। या खुदा! अब तू ही मालिक है। दम रोके हुए खड़ा था कि एक पल का भी मौका मिले, तो निकल

भागूँ, लेकिन जब उस मरदूद ने किवाड़ों को जोर से थमथमाना शुरू किया, तब रूह ही फना हो गई। इधर-उधर निगाह डाली कि किसी कोने में छिपने की जगह है या नहीं। किवाड़ के दराजों से कुछ रोशनी आ रही थी! ऊपर जो निगाह उठाई, तो एक मचान-सा दिखाई दिया। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। उचककर चाहता था कि ऊपर चढ़ जाऊँ कि मचान पर एक आदमी को बैठे देखकर उस हालत में मेरे मुँह से चीख निकल गई। यह हजरत अचकन पहने, घड़ी लगाए, एक खूबसूरत साफा बाँधे उकडूँ बैठे हुए थे। अब मुझे मालूम हुआ कि मेरे लिए दरवाजा खोलने में हसीना ने इतनी देर क्यों की थी। अभी इनको देख ही रहा था कि दरवाजे पर मूसल की चोटें पड़ने लगी। मामूली किवाड़ तो थे ही, तीन-चार चोटों में दोनों किवाड़ नीचे आ गिरे और वह मरदूद लालटेन लिए कमरे में घुसा। उस वक्त मेरी क्या हालत थी, इसका अन्दाजा आप खुद कर सकते है, उसने मुझे देखते ही लालटेन रख दी और मेरी गर्दन पकड़कर बोला — अच्छा, आप यहाँ तशरीफ रखते है। आइए, आपकी कुछ खातिर करूँ, ऐसे मेहमान रोज कहाँ मिलते है।

यह कहते हुए उसने मेरा एक हाथ पकड़कर इतने जोर से बाहर की तरफ ढकेला कि मैं आँगन में जा गिरा। उस शैतान की आँखों से अंगारे निकल रहे थे। मालूम होता था, उसके होंठ मेरा

खून चूसने के लिए बढ़े आ रहे है। मैं अभी जमीन से उठने भी न पाया था कि वह कसाई एक बड़ा-सा तेज छुरा लिए मेरी गर्दन पर आ पहुँचा, मगर जनाब, मैं हूँ पुलिस का आदमी। उस वक्त एक चाल सूझ गई। उसने मेरी जान बचा ली, वरना आज आपके साथ तांगे पर न बैठा होता।

मैंने हाथ जोड़कर कहा — हुजूर, मैं बिल्कुल बेकसूर हूँ, मैं तो मीर साहब के साथ आया था।

उसने गरजकर पूछा — कौन मीर साहब?

मैंने जी कड़ा करके कहा — वही, जो मचान पर बैठे हुए है, मैं तो हुजूर का गुलाम ठहरा, जहाँ हुक्म पाऊँगा, उनके साथ जाऊँगा, मेरी इसमें क्या खता है?

'अच्छा, तो कोई मीर साहब मचान पर भी तशरीफ रखते है?'

उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और कोठरी में जाकर मचान पर देखा। वह हजरत सिमटे-सिमटाए, भीगी बिल्ली बने बैठे थे, चेहरा ऐसा पीला पड़ गया था, गोया बदन में जान ही नहीं।

उसने उनका हाथ पकड़कर एक झटका दिया, तो वे धम-से नीचे आ गिरे। उनका ठाठ देखकर अब इसमें कोई शुबहा न रहा कि

वह मेरे मालिक है। उनकी सूरत देखकर इस वक्त तरस के साथ हँसी आती थी।

'तू कौन है बे?'

'जी, मैं... मेरा मकान, यह आदमी झूठा है, यह मेरा नौकर नही है।'

'तू यहाँ क्या करने आया था?'

'मुझे यही बदमाश (मेरी तरफ देखकर) धोखा देकर लाया था।'

'यह क्यों नहीं कहता कि मजे उड़ाने आया था, दूसरों पर इल्जाम रखकर अपनी जान बचाना चाहता है, सूअर? ले, तू भी क्या समझेगा कि किसके पाले पड़ा था।'

यह कहकर उसने उसी तेज छुरे से उन साहब की नाक काट ली, मैं मौका पाकर बेतहाशा भागा, लेकिन हाय-हाय की आवाज मेरे कानों में आ रही थी। इसके बाद उन दोनों में कैसी छनी, हसीना के सिर पर क्या आफत आई, इसकी मुझे कुछ खबर नहीं। मैं तब से बीसों बार सदर आ चुका हूँ, पर उधर भूलकर भी नहीं गया। यह पत्थर फेंकनेवाले हजरत वही है, जिनकी नाक कटी थी। आज न-जाने कहाँ से दिखाई पड़ गए और मेरी शामत

आई कि उन्हें सलाम कर बैठा। आपने उनकी नाक की तरफ शायद ख्याल नहीं किया।

मुझे अब ख्याल आया कि उस आदमी की नाक कुछ चिपटी थी। बोला — हाँ, नाक कुछ चिपटी तो थी। मगर आपने उस गरीब को बुरा चरका दिया।

'और करता भी क्या?'

'जरूर दबा देते, मगर चोर का दिल आधा होता है। उस वक्त अपनी-अपनी पड़ी थी कि मुकाबला करने की सूझती। कहीं उस रमझल्लें में धर लिया जाता, तो आबरू अलग जाती और नौकरी से अलग हाथ धोता। मगर अब इस आदमी से होशियार रहना पड़ेगा।'

इतने में चौक आ गया और हम दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

अभिलाषा

कल पड़ोस में बड़ी हलचल मची। एक पान वाला अपनी स्त्री को मार रहा था। वह बेचारी बैठी रो रही थी, पर उस निर्दयी को उस पर लेशमात्र भी दया न आती थी। आखिर स्त्री को भी क्रोध आ गया। उसने खड़े होकर कहा — 'बस, अब मारोगे, तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुझसे कोई सम्बन्ध नहीं, मैं भीख मागूँगी, पर तेरे घर न आऊँगी।' यह कहकर उसने एक पुरानी साड़ी उठाई और घर से निकल पड़ी।

पुरुष काठ के उल्लू की तरह खड़ा देखता रहा। स्त्री कुछ दूर चलकर फिर लौटी और दुकान की संदूकची खोलकर कुछ पैसे निकाले। शायद अभी तक कुछ उसे ममता थी, पर उस निर्दयी ने तुरन्त उसका हाथ पकड़कर पैसे छीन लिए। हाय री हृदयहीनता! अबला स्त्री के प्रति पुरुष का यह अत्याचार! एक दिन इसी स्त्री पर उसने प्राण दिए होंगे, उसका मुँह जोहता रहा होगा, पर आज इतना निष्ठुर हो गया है, मानो कभी की जान-पहचान ही नहीं। स्त्री ने पैसे रख दिए और बिना कहे-सुने चली गई। कौन जाने कहाँ! मैं अपने कमरे की खिड़की से घंटों देखती रही कि

शायद वह फिर लौटे या शायद पानवाला ही उसे मनाने जाए, पर दो में से एक बात भी न हुई। आज मुझे स्त्री की सच्ची दशा का पहली बार ज्ञान हुआ। यह दुकान दोनों की थी। पुरुष तो मटरगश्ती किया करता था, स्त्री रात-दिन बैठी सती होती थी। दस-ग्यारह बजे रात तक मैं उसे दुकान पर बैठी देखती थी। प्रातःकाल नींद खुलती, तब भी उसे ही बैठा पाती थी। नोच-खसोट, काट-कपट जितना पुरुष करता था, उससे कुछ अधिक ही स्त्री करती थी। पर पुरुष सब कुछ है, स्त्री कुछ नहीं! पुरुष जब चाहे उसे निकाल बाहर कर सकता है!

इस समस्या पर मेरा चित्त इतना अशान्त हो गया कि नींद आँखों से भाग गई। बारह बज गए और मैं बैठी रही। आकाश पर निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी। निशानाथ अपने रत्न-जटित सिंहासन पर गर्व से फूले बैठे थे। बादल के छोटे-छोटे टुकड़े धीरे-धीरे चंद्रमा के समीप आते थे और फिर विकृत रूप में पृथक हो जाते थे, मानो श्वेतवसना सुंदरियाँ उसके हाथों दलित और अपमानित होकर रुदन करती हुई चली जा रही हों।

इस कल्पना ने मुझे इतना विकल किया कि मैंने खिड़की बन्द कर दी और पलंग पर आ बैठी। मेरे प्रियतम निद्रा में मग्न थे। उनका तेजमय मुखमंडल इस समय मुझे कुछ चंद्रमा से ही मिलता-जुलता मालूम हुआ। वही सहास छवि थी, जिससे मेरे नेत्र

तृप्त हो जाते थे, वही विशाल वक्ष था, जिस पर सिर रखकर मैं अपने अन्तराल में एक कोमल, मधुर कम्पन का अनुभव करती थी। वही सुदृढ़ बाँहें थी, जो मेरे गले में पड़ जाती थी, तो मेरे हृदय में आनन्द की हिलोरें-सी उठने लगती थी, पर आज कितने दिन हुए, मैंने उस मुख पर हँसी की उज्जवल रेखा नहीं देखी, न देखने को चित्त व्याकुल ही हुआ। कितने दिन हुए, मैं उस वक्ष पर सिर नहीं रखा और न वह बाँहें मेरे गले में पड़ी।

क्यों? क्या मैं कुछ और हो गई, या पतिदेव ही कुछ और हो गए। अभी कुछ बहुत दिन भी तो नहीं बीते, कुल पाँच साल हुए है — कुल पाँच साल, जब पतिदेव ने विकसित नेत्रों और लालायित अधरों से मेरा स्वागत किया था। मैं लज्जा से गर्दन झुकाए हुए थी। हृदय में कितनी प्रबल उत्कंठा हो रही थी कि उनकी मुख-छवि देख लूँ, पर लज्जावश सिर न उठा सकती थी। आखिर एक बार मैंने हिम्मत करके आँखें उठाऊ और यद्यपि दृष्टि आधे रास्ते से ही लौट आई, तो भी उस अर्द्ध दर्शन से मुझे जो आनन्द मिला, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ। वह चित्र अब भी मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। जब कभी उसका स्मरण आ जाता है, हृदय पुलकित हो उठता है। उस आनन्द-स्मृति में अब भी वही गुदगुदी, वही सनसनी है। लेकिन अब रात-दिन उस छवि के दर्शन करती हूँ, उषाकाल, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, संध्याकाल,

निशाकाल आठों पहर उसको देखती हूँ, पर हृदय में गुदगुदी नहीं होती, वह मेरे सामने खड़े मुझसे बातें किया करते है। मैं ब्कोशिए की ओर देखती रहती हूँ, जब वह घर से निकलते थे, तो मैं द्वार पर आकर खड़ी हो जाती थी। मैं तीसरे पहर कोठे पर चढ़ जाती थी और उनके आने की बाट जोहने लगती थी। उनको दूर से आते देखकर मैं उन्मत्त-सी हो जाती और द्वार पर जाकर उनका अभिवादन करती। पर अब मुझे यह भी नहीं मालूम होता कि वह कब जाते और कब आते है, जब बाहर का द्वार बन्द हो जाता है तो समझ जाती हूँ कि वह चले गए। जब द्वार खुलने की आवाज आती है, तो समझ जाती हूँ कि आ गए। समझ में नहीं आता कि मैं ही कुछ और हो गई या पतिदेव ही कुछ और हो गए।

तब वह घर में बहुत न आते थे, जब उनकी आवाज कानों में आ जाती तो देह में बिजली-सी दौड़ जाती थी। उनकी छोटी-छोटी बातें छोटे-छोटे काम को भी मैं अनुरक्त, मुग्ध नेत्रों से देखा करती थी। वह जब छोटे लाला को गोद में उठाकर प्यार करते थे, जब टामी का सिर थपथपाकर उसे लिटा देते थे, जब बूढ़ी भक्तिन को चिढ़ाकर बाहर भाग जाते थे, जब बाल्टियों में पानी भर-भर पौधों को सींचते थे, तब ये आँखें उसी ओर लगी रहती थीं, पर अब वह सारे दिन घर में रहते है, मेरे सामने हँसते है, बोलते है, मुझे खबर भी नहीं होती। न जाने क्यों?

तब किसी दिन उन्होंने फूलों का एक गुलदस्ता मेरे हाथ में रख दिया था और मुस्कराए थे। वह प्रणय का उपहार पाकर मैं फूली न समाई थी। केवल थोड़े-से फूल और पत्तियाँ थी, पर उन्हें देखने से मेरी आँखें किसी भाँति तृप्त ही न होती। कुछ देर हाथ में लिए रही, फिर अपनी मेज पर फूलदान रख दिया। कोई काम करती होती, तो बार-बार आकर उस गुलदस्ते को देख जाती। कितनी बार उसे आँखों से लगाया। कितनी बार उसे चूमा! कोई एक लाख रुपए भी देता, तो उसे न देती। उसकी एक-एक पंखड़ी मेरे लिए एक रत्न थी। जब वह मुरझा गया, तो मैंने उसे उठाकर अपने बक्से में रख दिया था। तब से उन्होंने मुझे हजारों चीजें उपहार में दी है — एक-से-एक रत्नजटित आभूषण हैं, एक-से-एक बहुमूल्य वस्त्र है और गुलदस्ते तो प्रायः नित्य ही लाते है। लेकिन इन चीजों को पाकर वह उल्लास नहीं होता। मैं उन चीजों को पहनकर आईने में अपना रूप देखती हूँ और गर्व से फूल उठती हूँ। अपनी हमजोलियों को दिखाकर गौरव और उनकी ईर्ष्या बढ़ाती हूँ। बस।

अभी थोड़े ही दिन हुए, उन्होंने मुझे चन्द्रहार दिया है। जो देखता है, मोहित हो जाता है। मैं भी उसकी बनावट और सजावट पर मुग्ध हूँ। मैंने अपना संदूक खोलो और उस गुलदस्ते को निकाल लाई। आह! उसे हाथ में लेते ही मेरी एक-एक नस में बिजली

दौड़ गई। हृदय के सारे तार कम्पित हो गए। उसके सूख, मुरझाए हुए मुखों के अस्फुटित कम्पित, अनुराग में डूबे शब्द सायं-सायं करके निकलते हुए जान पड़ते थे। किन्तु वह रत्नजटित, कांति से दमकता हुआ स्वर्ण और पत्थरों का एक समूह था, जिसमें प्राण न थे, संज्ञा न थी, मर्म न था। मैंने फिर गुलदस्ते को चूमा, कंठ से लगाया, आर्द्र नेत्रों से सींचा और फिर सन्दूक में रख आई। आभूषणों से भरा सन्दूक भी उस एक स्मृति-चिह्न के सामने तुच्छ था। यह क्या रहस्य था?

फिर मुझे उनके पुराने पत्र की याद आ गई। उसे उन्होंने कॉलेज से मेरे पास भेजा था। उसे पढ़कर मेरे हृदय में जो आनन्द हुआ था, जो तूफान उठा था, आँखों से जो नदी बही थी, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ। उस पत्र को मैंने अपनी सोहाग की पिटारी में रख दिया था। इस समय उस पत्र को पढ़ने की प्रबल इच्छा हुई। मैंने पिटारी से वह पत्र निकाला। उसे स्पर्श करते ही मेरे हाथ काँपने लगे, हृदय में धड़कन होने लगी। मैं कितनी देर से उसे हाथ में लिए खड़ी रही, कह नहीं सकती। मुझे मालूम हुआ कि मैं फिर वही हो गई, जो पत्र पाते समय थी। जब पत्र में क्या प्रेम के कवित्तमय उद्गार थे? क्या प्रेम की साहित्य विवेचना थी। क्या वियोग-व्यथा का करूण क्रन्दन था? उसमें तो प्रेम का एक शब्द भी न था। लिखा था — 'कामिनी,

तुमने आठ दिनों से कोई पत्र क्यों नहीं लिखा, क्यों नहीं लिखा? अगर तुम पत्र न लिखोगी, तो मैं होली की छुट्टियों में घर न आऊँगा, इतना समझ लो। आखिर सारे दिन क्या करती हो! मेरे उपन्यासों की आलमारी खोल ली है क्या? आपने मेरी आलमारी क्यों खोली? समझती होगी, मैं पत्र न लिखूँगी तो खूब रोएँगे और हैरान होंगे। यहाँ इसकी परवाह नहीं। नौ बजे रात सोता हूँ, तो आठ बजे उठता हूँ। कोई चिन्ता है, तो यही कि फेल न हो जाऊँ। अगर फेल हुआ तो तुम जानोगी।'

कितना सरल, भोले-भाले हृदय से निकला हुआ, निष्कपट मानपूर्ण आग्रह और आतंक से पत्र भरा हुआ था, मानो उसका सारा उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर था। ऐसी धमकी क्या अब भी मुझे दे सकते है? कभी नहीं। ऐसी धमकी वही दे सकता है, जो न मिल सकने की व्यथा को जानता हो, उसका अनुभव करता हो। पतिदेव अब जानते है, इस धमकी का मुझ पर कोई असर न होगा। मैं हँसूँगी और आराम से सोऊँगी क्योंकि मैं जानती हूँ, वह अवश्य आएँगे और उनके लिए ठिकाना ही कहाँ है? जा ही कहाँ सकते है? तब से उन्होंने मेरे पास कितने पत्र लिखे है। दो-दिन को भी बाहर जाते है, तो जरूर एक पत्र भेजते है, और जब दस-पाँच दिन को जाते है, तो नित्य एक पत्र आता है। पत्रों में प्रेम के चुने हुए शब्द, चुने हुए वाक्य, चुने हुए सम्बोधन भरे होते है।

मैं उन्हें पढ़ती हूँ और ठंडी साँस लेकर रख देती हूँ। हाय! वह हृदय कहाँ गया? प्रेम के इन निर्जीव भावशून्य कृत्रिम शब्दों में वह अभिन्नता कहाँ है, वह रस कहाँ है, वह उन्माद कहाँ है, वह क्रोध कहाँ है? वह झुंझलाहट कहाँ है? उनमें मेरा मन कोई वस्तु खोजता है, कोई अज्ञात, अव्यक्त, अलक्षित वस्तु, पर वह नहीं मिलती। उनमें सुगन्ध भरी होती है, पत्रों के कागज आर्ट-पेपर को मात करते है, पर उनका यह सारा बनाव-संवार किसी गतयौवना नायिका के बनाव-सिंगार के सदृश ही लगता है। कभी-कभी तो मैं पत्रों को खोलती भी नहीं। मैं जानती हूँ, उनमें क्या लिखा होगा।

उन्हीं दिनों का बात है, मैंने तीज का व्रत किया था। मैंने देवी के सम्मुख सिर झुकाकर वन्दना की थी — 'देवी, मैं तुमसे केवल एक वरदान माँगती हूँ। हम दोनों प्राणियों में कभी विच्छेद न हो, और मुझे कोई अभिलाषा नहीं। मैं संसार की और कोई वस्तु नहीं चाहती।' तब से चार साल हो गए है और हममें एक दिन का भी विच्छेद नहीं हुआ। मैंने तो केवल एक वरदान माँगा था। देवी ने वरदानों का भंडार ही मुझे सौंप दिया। पर आज मुझे देवी के दर्शन हों, तो मैं उनसे कहूँ तुम अपने सारे वरदान ले लो। मैं इनमें से एक भी नहीं चाहती। फिर वही दिन देखना चाहती हूँ, जब हृदय में प्रेम की अभिलाषा थी। तुमने सब कुछ

देकर मुझे उस अतुल सुख से वंचित कर दिया, जो अभिलाषा में था। मैं अबकी देवी से वह दिन दिखाने की प्रार्थना करूँ, जब मैं किसी निर्जन जलतट पर और सघन वन में अपने प्रियतम को ढूँढ़ती फिरूँ। नदी की लहरों से कहूँ, मेरे प्रियतम को तुमने देखा है? वृक्षों से पूछूँ, मेरे प्रियतम कहाँ गए? क्या वह सुख मुझे कभी प्राप्त होगा? उसी समय मन्द, शीतल पवन चलने लगी। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ी थी। पवन के झोंके से मेरे केश की लटें बिखरने लगी। मुझे ऐसा आभास हुआ, मानो मेरे प्रियतम वायु के इन उच्छवासो में है। फिर मैंने आकाश की ओर देखा। चाँद की किरणें चांदी के जगमगाते तारों की भाँति आँखों से आँख-मिचौली-सी खेल रही थीं। आँखें बन्द करते समय सामने आ जातीं, पर आँखें खोलते ही अदृश्य हो जाती थीं। मुझे उस समय ऐसा आभास हुआ कि मेरे प्रियतम उन्हीं जगमगाते तारों पर बैठे आकाश से उतर रहे है। उसी समय किसी ने गाया —

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार!
कहाँ होते हो अन्तर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

'लुटा करके सोने-सा प्यार,' यह पद मेरे मर्मस्थल को तीर की भाँति छेदता हुआ कहाँ चला गया, नहीं जानती। मेरे रोएँ खड़े हो

गए। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई मेरे प्रियतम को मेरे हृदय से निकाले लिए जाता है। मैं जोर से चिल्ला पड़ी, उस समय पतिदेव की नींद टूट गई।

वह मेरे पास आकर बोले — क्या अभी तुम चिल्लाई? अरे! तुम रो रही हो? क्या बात है? कोई स्वप्न तो नहीं देखा?

मैंने सिसकते हुए कहा — रोऊँ न, तो क्या हँसूँ?

स्वामी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा — क्यों, रोने का कोई कारण है, या यों ही रोना चाहती हो?

'क्या मेरे रोने का कारण तुम नहीं जानते?'

'मैं तुम्हारे दिल की बात कैसे जान सकता हूँ?'

'तुमने जानने की चेष्टा कभी की है?'

'मुझे इसका सान-गुमान भी न था कि तुम्हारे रोने का कोई कारण हो सकता है।'

'तुमने तो बहुत पढ़ा है, क्या तुम भी ऐसी बात कह सकते हो?'

स्वामी ने विस्मय में पड़कर कहा — तुम तो पहेलियाँ बुझवाती हो?

'क्यों, क्या तुम कभी नहीं रोते?'

'मैं क्यों रोने लगा।'

'तुम्हें अब कोई अभिलाषा नहीं है?'

'मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा पूरी हो गई, अब मैं और कुछ नहीं चाहता।'

यह कहते हुए पतिदेव मुस्कराए और मुझे गले से लिपटा लेने को बढ़े। उनकी यह हृदयहीनता इस समय मुझे बहुत बुरी लगी। मैंने उन्हें हाथों से पीछे हटाकर कहा — मैं इस स्वांग को प्रेम नहीं समझती। जो कभी रो नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता। रुदन और प्रेम, दोनों एक ही स्रोत से निकलते है।

उसी समय फिर उसी गाने की ध्वनि सुनाई दी —

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार!
कहाँ होते हो अन्तर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

पतिदेव की वह मुस्कराहट लुप्त हो गई। मैंने उन्हें एक बार काँपते देखा। ऐसा जान पड़ा, उन्हें रोमांच हो रहा है। सहसा उनका दाहिना हाथ उठकर उनकी छाती तक गया। उन्होंने लम्बी साँस ली और उनकी आँखों से आँसू की बूँदें निकलकर गालों पर आ गई। तुरन्त मैंने रोते हुए उनकी छाती पर सिर

रख दिया और उस परम सुख का अनुभव किया, जिसके लिए कितने दिनों से मेरा हृदय तड़प रहा था। आज फिर मुझे पतिदेव का हृदय धड़कता हुआ सुनाई दिया। आज उनके स्पर्श में फिर स्फूर्ति का आभास हुआ। अभी तक उनके पद के शब्द मेरे हृदय में गूँज रहे थे —

कहाँ होते हो अन्तर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

खुचड़

बाबू कुंदनलाल कचहरी से लौटे, तो देखा कि उनकी पत्नी एक कुँजड़िन से कुछ साग-भाजी ले रही है। कुँजड़िन पालक टके सेर कहती है, वह डेढ़ पैसे दे रही है। इस पर कई मिनट तक विवाद होता रहा। आखिर कुँजड़िन डेढ़ पैसे पर राजी हो गई। अब तराजू और बाट का प्रश्न छिड़ा। दोनों पल्ले बराबर न थे। एक में पसंगा था। बाट भी पूरे न उतरते थे। पड़ोसिन के घर से सेर आया। साग तुल जाने के बाद अब घाटे का प्रश्न उठा। पत्नीजी और माँगती थीं, कुँजड़िन कहती थी, अब क्या सेर दो सर घाटे में ही ले लोगी बहूजी। खैर, आधा घंटे में वह सौदा पूरा हुआ, और कुँजड़िन फिर कभी न आने की धमकी देकर बिदा हो गई। कुंदनलाल खड़े-खड़े यह तमाशा देखते रहे।

कुँजड़िन के जाने के बाद पत्नीजी लोटे में पानी लाई तो उन्होंने कहा — आज तो तुमने जरा-सा साग लेने में पूरा आधा घंटा लगा दिया। इतनी देर में तो हजार-पाँच सौ का सौदा हो जाता, जरा से साग के लिए इतनी ठाँय-ठाँय करने करने में तुम्हारा सिर भी नहीं दुखता?

रामेश्वरी ने कुछ लज्जित होकर कहा — पैसे मुफ्त में तो नहीं आते!

कुंदनलाल ने कहा — यह ठीक है लेकिन समय का भी कुछ मूल्य है, इतनी देर में तुमने बड़ी मुश्किल से एक धेले की बचत की, कुँजड़िन ने भी दिल में कहा होगा कहाँ की गँवारिन है, अब शायद भूलकर भी इधर न आए।

'तो, फिर मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि पैसे की जगह धेले का सौदा लेकर बैठ जाऊँ'

कुंदनलाल ने कहा — इतनी देर में तुमने कम-से-कम 20 पन्ने पढ़े होते, कल महरी से घंटो सिर मारा, परसो दूधवाले के साथ घंटो शास्त्रार्थ किया, जिन्दगी क्या इन्हीं बातों में खर्च करने को दी गई है?

कुंदनलाल प्रातः नित्य ही पत्नी को सदुपदेश देते रहते थे, यह उनका दूसरा विवाह था। रामेश्वरी को आए अभी दो ही महीने हुए थे। अब तब तो बड़ी ननदजी ऊपर के काम किया करती थी। रामेश्वरी की उससे न पटी। उसको मालूम होता था, यह मेरा सर्वस्व ही लुटाए देती है। आखिर वही चली गई। तब से रामेश्वेरी घर की स्वामिनी है, वह बहुत चाहती है कि पति को प्रसन्न रखे। उनके इशारों पर चलती थी, एक बार जो बात सुन

लेती है, गाँठ बाँध लेती है, पर रोज ही तो कोई नई बात हो जाती है, और कुंदनलाल को उसे उपदेश देने का अवसर मिल जाता है।

2

एक दिन बिल्ली दूध पी गई। रामेश्वरी दूध गर्म करके लाई और स्वामी के सिरहाने रखकर पान बना रही थी कि बिल्ली ने दूध पर अपना ईश्वरप्रदत्त अधिकार सिद्ध कर दिया। रामेश्वरी यह अपहरण स्वीकार न सकी। डंडा लेकर बिल्ली को इतने जोर से मारा कि वह दो-तीन लुढ़कनियाँ खा गई।

कुंदनलाल लेटे-लेटे अखबार पढ़ते हुए बोले — और जो मर जाती?

रामेश्वरी ने ढिठाई के साथ कहा — तो मेरा दूध क्यों पी गई?

'उसे मारने से दूध मिल तो नहीं गया?'

'जब कोई नुकसान कर देता है, तो उस पर क्रोध आता ही है।'

'न आना चाहिए, पशु के साथ आदमी भी क्यो पशु हो जाए? आदमी और पशु में इसके सिवा और क्या अन्तर है?'

कुंदनलाल कई मिनट तक दया, विवेक और शान्ति की शिक्षा देते रहे, यहाँ तक कि बेचारी रामेश्वरी मारे ग्लानि के रो पड़ी।

इस भाँति एक दिन रामेश्वरी ने एक भिक्षुक को दुत्कार दिया, तो बाबू साहब ने फिर उपदेश देना शुरू किया और बोले — तुमसे न उठा जाता हो, तो लाओ मैं दे आऊँ, गरीब को यों न दुत्कारना चाहिए।

रामेश्वरी ने त्यौरियाँ चढ़ाते हुए कहा — दिन भर तो ताँता लगा रहता है, कोई कहाँ तक दौड़े, सारा देश भिखमंगों ही से भर गया है शायद।

कुंदनलाल ने उपेक्षा के भाव से मुस्कराकर कहा — उसी देश में तो तुम भी बसती हो!'

'इतने भिखमंगे आ कहाँ से जाते हैं? ये सब काम क्यों नहीं करते?'

'कोई आदमी इतना नीच नहीं होता, जो काम मिलने पर भीख माँगे। हाँ, अपंग हो, तो दूसरी बात है, अपंगों का भीख के सिवा और क्या सहारा हो सकता है?'

'सरकार इनके लिए अनाथालय क्यों नहीं खुलवाती?'

'जब स्वराज्य हो जाएगा, तब शायद खुल जाएँ, अभी तो कोई आशा नहीं है मगर स्वराज भी धर्म ही से आएगा।'

'लाखों साधु-संन्यासी, पंडे़-पुजारी मुफ्त का माल उड़ाते है, क्या इतना धर्म काफी नहीं है? अगर इस धर्म में से स्वराज्य मिलता, तो कब का मिल चुका होता।'

'इसी धर्म का प्रसाद है कि हिन्दू-जाति अभी तक जीवित है, नहीं तो कब की रसातल पहुँच चुकी होती। रोम, यूनान, ईरान, सीरिया किसी का अब निशान भी नहीं है। यह हिन्दू-जाति है, जो अभी तक समय के क्रूर आघातों का सामना करती चली जाती है।'

'आप समझते होंगे, हिन्दू-जाति जीवित है, मै तो उसे उसी दिन से मरा हुआ समझती हूँ, जिस दिन से वह अधीन हो गई। जीवन स्वाधीनता का नाम है, गुलामी तो मौत है।'

कुंदनलाल ने युवती को चकित नेत्रों से देखा, ऐसे विद्रोही विचार कहाँ से आ गए? देखने में तो वह बिलकुल भोली थी। समझ गया, कहीं सुन-सुना लिया होगा।

कुंदनलाल कठोर होकर बोले — क्यों व्यर्थ विवाद करती हो, लजाती तो नहीं, ऊपर से और बक-बक करती हो।

रामेश्वरी यह फटकार पाकर चुप हो गई, एक क्षण वहाँ खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से चली गई।

3

एक दिन कुंदनलाल ने कई मित्रों की दावत की। रामेश्वरी सबेरे से रसोई में घुसी तो शाम तक सिर न उठा सकी। उसे यह बेगार बुरी मालूम हो रही थी। अगर दोस्तों की दावत करनी थी तो खाना बनवाने का कोई प्रबन्ध क्यों नहीं किया? सारा बोझ उसी के सिर क्यों डाल दिया! उससे एक बार पूछ लिया होता कि दावत करूँ या न करूँ। होता तब भी यही, जो अब हो रहा था। वह दावत के प्रस्ताव का बड़ी खुशी से अनुमोदन करती, तब वह समझती, दावत मैं कर रही हूँ। अब समझ रही थी, मुझसे बेगार ली जा रही है। खैर, भोजन तैयार हुआ, लोगों ने भोजन किया और चले गए, मगर मुंशीजी मुँह फुलाए बैठे हुए थे।

रामेश्वरी ने कहा — तुम क्यों नहीं खा लेते, क्या अभी सबेरा है?

बाबू साहब ने आँखें फाड़कर कहा — क्या खा लूँ, यह खाना है या बैलों की सानी!

रामेश्वरी के सिर से पाँव तक आग लग गई। सारा दिन चूल्हे के सामने जली, उसका यह पुरस्कार! बोली — मुझसे जैसा हो सका बनाया, जो बात अपने बस की नहीं है, उसके लिए क्या करती?

'पूड़ियाँ सब सेवड़ी है!'

'होंगी।'

'कचौड़ी में इतना नमक था किसी ने छुआ तक नहीं।'

'होगा।'

'हलुआ अच्छी तरह भुना नहीं — कचाइँध आ रही थी।'

'आती होंगी।'

'शोरबा इतना पतला था, जैसे चाय।'

'होगा।'

'स्त्री का पहला धर्म यह है कि वह रसोई के काम में चतुर हो।'

फिर उपदेशों का तार बँधा, यहाँ तक कि रामेश्वरी ऊब कर चली गई!

4

पाँच-छः महीने गुजर गए, एक दिन कुंदनलाल के एक दूर के सम्बन्धी उनसे मिलने आए। रामेश्वरी को ज्यों ही उनकी खबर मिली, जलपान के लिए मिठाई भेजी, और महरी से कहला भेजा — 'आज यहीं भोजन कीजिएगा।'

वह महाशय फूले न समाए। बोरियाँ-बँधना लेकर पहुँच गए और डेरा डाल दिया, एक हफ्ता गुजर गया, वह टलने का नाम भी नहीं लेते, आवभगत में कोई कमी होती, तो शायद उन्हें कुछ चिंता होती, पर रामेश्वरी उनके सेवा-सत्कार में जी-जान से लगी हुई थी। फिर वह भला क्यों हटने लगे।

एक दिन कुंदनलाल ने कहा — तुमने यह बुरा रोग पाला।

रामेश्वरी ने चौंककर पूछा — कैसा रोग?

'इन्हें टलने क्यों नहीं देती?'

'मेरा क्या बिगाड़ रहे है?'

'कम-से-कम एक रुपया की रोज चपत दे रहे है, और अगर यही खातिरदारी रही, तो शायद जीते-जी टलेंगे भी नहीं।'

'मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि कोई दो-चार दिन के लिए आ जाए, तो उसके सिर हो जाऊँ, जब तक उनकी इच्छा हो रहें।'

'ऐसे मुफ्तखोरों का सत्कार करना पाप है। अगर तुमसे इतना सिर न चढ़ाया होता, तो अब तक लम्बा हुआ होता। जब दिन में तीन बार भोजन और पचासों बार पान मिलता है, तो उसे कुत्ते ने काटा है, जो अपने घर जाए।'

'रोटी का चोर बनना तो अच्छा नहीं!'

'कुपात्र और सुपात्र का विचार तो कर लेना चाहिए। ऐसे आलसियों को खिलाना-पिलाना वास्तव में उन्हें जहर देना है, जहर से तो केवल प्राण निकल जाते है, यह खातिरदारी तो आत्मा का सर्वनाश कर देती है। अगर यह हजरत महीने भर भी यहाँ रह गए, तो फिर जिन्दगी-भर के लिए बेकार हो जाएँगे, फिर इनसे कुछ न होगा और इसका सारा दोष तुम्हारे सिर होगा।'

तर्क का ताँता बँध गया। प्रमाणों की झड़ी लग गई। रामेश्वरी खिसियाकर चली गई। कुंदनलाल उससे कभी सन्तुष्ट भी हो सकते है, उनके उपदेशों की वर्षा कभी बन्द भी हो सकती है, यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठने लगा।

5

एक दिन देहात से भैंस का ताजा घी आया। इधर महीनों से बाजार का घी खाते-खाते नाक में दम हो रहा था। रामेश्वरी ने उसे खौलाया, उसमें लौंग डाली और कहाड़ से निकालकर एक मटकी में रख दिया। उसके सोंधी-सोंधी सुगन्ध से सारा घर महक रहा था। महरी चौका-बर्तन करने आई तो उसने चाहा कि मटकी चौके से उठाकर छींके या आले पर रख दे। पर संयोग का बात, उसने मटकी उठाई, तो वह हाथ से छूटकर गिर पड़ी। सारा घी बह गया।

धमाका सुनकर रामेश्वरी दौड़ी, तो महरी खड़ी रो रही थी और मटकी चूर-चूर हो गई थी। रामेश्वरी तड़पकर बोली — मटकी कैसे टूट गई? मैं तेरी तलब से काट लूँगी, राम-राम सारा घी मिट्टी में मिला दिया! तेरी आँखें फूट गई थी क्या? हाथों में दम नहीं था? इतनी दूर से मँगाया, इतनी मेहनत से गर्म किया, मगर एक बूंद भी गले के नीचे न गया, अब खड़ी बिसूर क्या रही है, जा अपना काम कर।

महरी ने आँसू पोंछकर कहा — बहूजी, अब तो चूक हो गई, चाहे तलब काटो, चाहे जान से मारो, मैंने तो सोचा उठाकर आले पर

रख दूँ, तो चौका लगाऊँ, क्या जानती थी कि भाग्य में यह लिखा है, न जाने किसका मुँह देखकर उठी थी।

रामेश्वरी बोली — मैं कुछ नहीं जानती, सब रुपए तेरी तलब से वसूल कर लूँगी, एक रुपया जुरमाना न किया तो कहना।

महरी बोली — मर जाऊँगी सरकार, कहीं एक पैसे का ठिकाना नहीं है।

रामेश्वरी बोली — 'मर जा या जी जा, मैं कुछ नहीं जानती।'

महरी ने एक मिनट तक कुछ सोचा और बोली — अच्छा, काट लीजिएगा सरकार, आपसे सबर नहीं होता, मैं सबर कर लूँगी, यही न होगा, भूखों मर जाऊँगी, जीकर ही कौन-सा सुख भोग रही हूँ कि मरने से डरूँ। समझ लूँगी, एक महीना काम नहीं किया, आदमी से बड़ा-बड़ा नुकसान हो जाता है, यह तो घी ही था।

रामेश्वरी को एक ही क्षण में महरी पर दया आ गई! बोली — तू भूखों मर जाएगी, तो मेरा काम कौन करेगा?

महरी बोली — काम कराना होगा, खिलाइगा, न काम करना होगा, भूखों मारिएगा, आज से आकर आप ही के द्वार पर सोया करूँगी।

रामेश्वरी बोली — सच कहती हूँ, आज तूने बड़ा नुकसान कर डाला।

महरी बोली — मैं तो आप ही पछता रही हूँ, सरकार।

रामेश्वरी बोली — जा गोबर से चौका लीप दे, मटकी के टुकड़े दूर फेंक दे, और बाजार से घी लेती आ।

महरी ने खुश होकर चौका लीपा और मटकी के टुकड़े बटोर रही थी कि कुंदनलाल आ गए, और हाँड़ी टूटी देखकर बोले — यह हाँड़ी कैसे टूट गई?

रामेश्वरी ने कहा — महरी उठाकर ऊपर रख रही थी, उसके हाथ से छूट पड़ी।

कुंदनलाल ने चिल्लाकर कहा — तो सब घी बह गया?

'और क्या कुछ बच भी रहा।'

'तुमने महरी से कुछ कहा नहीं?'

'क्या कहती? उसने जान-बूझकर तो गिरा नहीं दिया?'

'यह नुकसान कौन उठाएगा?'

'हम उठाएँगे, और कौन उठाएगा। अगर मेरे हाथ से छूट पड़ती तो क्या हाथ काट लेती।'

कुंदनलाल ने होंट चबाकर कहा — तुम्हारी कोई बात मेरी समझ में नहीं आती, जिसने नुकसान किया है, उससे वसूल होना चाहिए, यही ईश्वरीय नियम है, आँख की जगह आँख, प्राण के बदले प्राण यह ईसामसीह — जैसे दयालु पुरुष का कथन है। अगर दंड का विधान संसार से उठ जाए, तो यहाँ रहे कौन? सारी पृथ्वी रक्त से लाल हो जाए, हत्यारे दिन-दहाड़े लोगों का गला काटने लगे, दंड ही से समाज की मर्यादा कायम है, जिस दिन दंड न रहेगा, संसार न रहेगा। मनु आदि स्मृतिकार बेवकूफ नहीं थे कि दंड-न्याय को इतना महत्त्व दे गए और किसी विचार से नहीं, तो मर्यादा की रक्षा के लिए दंड अवश्य देना चाहिए, ये रुपए महरी को देने पड़ेंगे, उसकी मजदूरी काटनी पड़ेगी, नहीं तो आज उसने घी का घड़ा लुढ़का दिया है, कल कोई और नुकसान कर देगी।

रामेश्वरी ने डरते-डरते कहा — मैंने तो उसे क्षमा कर दिया है।

महरी द्वार पर खड़ी यह विवाद सुन रही थी। जब उसने देखा कि कुंदनलाल का क्रोध बढ़ता जाता है और मेरे कारण रामेश्वरी को घुड़कियाँ सुननी पर रही है, तो वह सामने जाकर बोली — बाबूजी, अब तो कसूर हो गया, अब सब रुपए मेरी तलब से काट लीजिए, रुपए नहीं है, नहीं तो अभी लाकर आपके हाथ पर रख देती।

रामेश्वरी ने उसे घुड़ककर कहा — जा भाग यहाँ से, तू क्या करने आई, बड़ी रुपएवाली बनी है!

कुंदनलाल ने पत्नी को कठोर नेत्रों से देखकर कहा — तुम क्यों उसकी वकालत कर रही हो, यह मोटी-सी बात है और इसे एक बच्चा भी समझता है कि जो नुकसान करता है, उसे दंड भोगना पड़ता है, मैं क्यों पाँच रुपए का नुकसान उठाऊँ? बेवजह? क्यों नहीं इसने मटके को संभालकर पकड़ा, क्यों इतनी जल्दबाजी की, क्यों तुम्हें बुलाकर मदद नहीं ली? यह साफ इसकी लापरवाही है।

यह कहते हुए कुंदनलाल बाहर चले गए।

6

रामेश्वरी इस अपमान से आहत हो उठी। डाँटना ही था, तो कमरे में बुलाकर एकान्त में डाँटते। महरी के सामने उसे रुई की तरह धुन डाला। उसकी समझ ही में न आता था, यह किस स्वभाव के आदमी है। आज एक बात कहते है, कल उसी को काटते है, जैसे कोई झक्की आदमी हो। कहाँ तो दया और उदारता के अवतार बनते थे, कहाँ आज पाँच रुपए के लिए प्राण देने

लगे। बड़ा मजा आ जाए, कल महरी बैठी रहे। कभी तो इनके मुख से प्रसन्नता का एक शब्द निकला होता! अब मुझे भी अपने स्वभाव को बदलना पड़ेगा! यह सब मेरे सीधे होने का फल है। ज्यों-ज्यों मैं तरह देती हूँ, आप जामे से बाहर होते है, इसका इलाज यही है कि एक कहें, तो दो सुनाऊँ। आखिर कब तक और कहाँ तक सहूँ। कोई हद भी है! जब देखो डाँट रहे है, जिसके मिजाज को कुछ पता ही न हो, उसे कौन खुश रख सकता है। उस दिन जरा-सा बिल्ली को मार दिया, तो दया का उपदेश करने लगे। आज वह दया कहाँ गई। उनको ठीक करने का उपाय यही है कि समझ लूँ, कोई कुत्ता भौंक रहा है। नहीं, ऐसा क्यों करूँ। अपने मन से कोई काम ही न करूँ, जो यह कहें, वही करूँ, न जौ-भर ज्यादा। जब इन्हें मेरा कोई काम पसन्द नहीं आता, मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो बरबस अपनी टाँग अड़ाऊँ। बस, यही ठीक है।

वह रात भर इसी उधेड़बुन में पड़ी रही। सबेरे कुंदनलाल नही स्नान करने गए। लौटे, तो नौ बज गए थे। घर में जाकर देखा, तो चौका-बर्तन न हुआ था। प्राण सूख गए।

कुंदनलाल ने कहा — क्या महरी नहीं आई?

रामेश्वरी ने कहा — नहीं।

कुंदनलाल ने कहा — तो फिर?

रामेश्वरी ने कहा — जो आपकी आज्ञा।

कुंदनलाल ने कहा — यह तो बड़ी मुश्किल है।

रामेश्वरी ने कहा — हाँ, है तो।

कुंदनलाल ने कहा — पड़ोस की महरी को क्यों न बुला लिया?

रामेश्वरी ने कहा — किसके हुक्म से बुलाती, अब हुक्म हुआ है, बुलाए लेती हूँ।

कुंदनलाल ने कहा — अब बुलाओगी, तो खाना कब बनेगा? नौ बज गए और इतना तो तुम्हें अपनी अक्ल से काम लेना चाहिए था कि महरी नहीं आई तो पड़ोसवाली को बुला लूँ।

रामेश्वरी ने कहा — अगर उस वक्त सरकार पूछते, क्यों दूसरी महरी बुलाई, तो क्या जबाब देती? अपनी अक्ल से काम लेना छोड़ दिया है, अब तुम्हारी ही अक्ल से काम लूँगी, मैं यह नहीं चाहती कि कोई मुझे आँखें दिखाए।

कुंदनलाल ने कहा — अच्छा, तो इस वक्त क्या होगा?

रामेश्वरी ने कहा — जो हुजूर का हुक्म हो।

कुंदनलाल ने कहा — तुम मुझे बनाती हो।

रामेश्वरी ने कहा — मेरी इतनी कहाँ मजाल कि आप को बनाऊँ, मैं तो हुजूर की लौंड़ी हूँ, जो कहिए वह करूँ।

कुंदनलाल ने कहा — मैं तो जाता हूँ, तुम्हारा जो जी चाहे करो।

रामेश्वरी ने कहा — जाइए, मेरी जी कुछ न चाहेगा और न कुछ करूँगी।

कुंदनलाल ने कहा — आखिर तुम क्या खाओगी?

रामेश्वरी ने कहा — जो आप देंगे, वही खा लूँगी।

कुंदनलाल ने कहा — लाओ, बाजार से पूड़ियाँ ला दूँ।

रामेश्वरी रुपया निकाल लाई। कुंदनलाल पूड़ियाँ लाए। इस वक्त का काम चला। दफ्तर गए। लौटे, तो देर हो गई थी। आते ही पूछा — महरी आई?

रामेश्वरी ने कहा — नहीं।

कुंदनलाल ने कहा — मैंने तो कहा था, पड़ोसवाली को बुला लेना।

रामेश्वरी ने कहा — बुलाया था, वह पाँच रुपए माँगती है।

कुंदनलाल ने कहा — तो एक ही रुपए का फर्क था, क्यों नहीं रख लिया?

रामेश्वरी ने कहा — मुझे यह हुक्म न मिला था. मुझसे जवाब-तलब होता कि एक रुपया ज्यादा क्यों दे दिया, खर्च की किफायत पर उपदेश दिया जाने लगता, तो क्या करती।

कुंदनलाल ने कहा — तुम बिलकुल मूर्ख हो।

रामेश्वरी ने कहा — बिलकुल।

कुंदनलाल ने कहा — तो इस वक्त भी भोजन न बनेगा?

रामेश्वरी ने कहा — मजबूरी है।

कुंदनलाल सिर थामकर चारपाई पर बैठ गए। यह तो नई विपत्ति गले पड़ी। पूड़ियाँ उन्हें रुचती न थीं। जी में बहुत झुँझलाए। रामेश्वरी को दो-चार उल्टी-सीधी सुनाई, लेकिन उसने मानो सुना ही नहीं। कुछ बस न चला, तो महरी की तलाश में निकले। जिसके यहाँ गए, मालूम हुआ, महरी काम करके चली गई। आखिर एक कहार मिला। उसे बुला लाए। कहार ने दो आने लिए और बर्तन धोकर चलता बना।

रामेश्वरी ने कहा — भोजन क्या बनेगा।

कुंदनलाल ने कहा — रोटी-तरकारी बना लो, या इसमें कुछ आपत्ति है?

रामेश्वरी ने कहा — तरकारी घर में नहीं है।

कुंदनलाल ने कहा — दिन भर बैठी रही, तरकारी भी न लेती बनी? अब इतनी रात गए तरकारी कहाँ मिलेगी?

रामेश्वरी ने कहा — मुझे तरकारी ले रखने का हुक्म न मिला था, मैं पैसा-धेला ज्यादा दे देती तो?

कुंदनलाल ने विवशता से दाँत पीसकर कहा — आखिर तुम क्या चाहती हो?

रामेश्वरी ने शान्त भाव से जवाब दिया — कुछ नहीं, केवल अपमान नहीं चाहती।

कुंदनलाल ने कहा — तुम्हारा अपमान कौन करता है?

रामेश्वरी ने कहा — आप करते है।

कुंदनलाल ने कहा — तो मैं घर के मामले में कुछ न बोलूँ?

रामेश्वरी ने कहा — आप न बोलेंगे, तो कौन बोलेगा? मैं तो केवल हुक्म की ताबेदार हूँ।

रात दाल-रोटी पर कटी। दोनों आदमी लेटे। रामेश्वरी को तुरन्त नींद आ गई। कुंदनलाल बड़ी देर तक करवटें बदलते रहे। अगर रामेश्वरी इस तरह सहयोग न करेगी, तो एक दिन भी काम न चलेगा। आज ही बड़ी मुश्किल से भोजन मिला। इसकी समझ तो उल्टी है। मैं तो समझता हूँ, यह समझती है, डाँट रहा

हूँ। मुझसे बिना बोले रहा भी तो नहीं जाता। लेकिन अगर बोलने का यह नतीजा है, तो फिर बोलना फिजूल है। नुकसान होगा, बला से, यह तो न होगा कि दफ्तर से आकर बाजार भागूँ। महरी से रुपए वसूल करने की बात इसे बुरी लगी और थी भी बेजा। रुपए तो न मिले, उलटे महरी ने काम छोड़ दिया।

कुंदनलाल ने रामेश्वरी को जगाकर बोले — कितना सोती हो तुम?

रामेश्वरी ने कहा — मजूरों को अच्छी नींद आती है।

कुंदनलाल ने कहा — चिढ़ाओ मत, महरी से रुपए वसूल मत करना।

रामेश्वरी ने कहा — वह तो लिए खड़ी है शायद।

कुंदनलाल ने कहा — उसे मालूम हो जाएगा, तो काम करने आएगी।

रामेश्वरी ने कहा — अच्छी बात है कहला भेजूँगी।

कुंदनलाल ने कहा — आज से कान पकड़ता हूँ, तुम्हारे बीच में न बोलूँगा।

रामेश्वरी ने कहा — और जो मैं घर लुटा दूँ तो?

कुंदनलाल ने कहा — लुटा दो, चाहे मिटा दो, मगर रूठो मत, अगर तुम किसी बात में मेरी सलाह पूछोगी, तो दे दूँगा, वरना मुँह न खोलूँगा।

रामेश्वरी ने कहा — मैं अपमान नहीं सह सकती।

कुंदनलाल ने कहा — इस भूल को क्षमा करो।

रामेश्वरी ने कहा — सच्चे दिल से कहते हो न?

कुंदनलाल ने कहा — सच्चे दिल से।

आगा-पीछा

रूप और यौवन के चंचल विलास के बाद कोकिला अब उस कलुषित जीवन के चिह्न को आँसुओं से धो रही थी। विगत जीवन की याद आते ही उसका दिल बेचैन हो जाता और वह विषाद और निराशा से विकल होकर पुकार उठती — 'हाय मैंने संसार में जन्म ही क्यों लिया?' उसने दान और व्रत से उन कालिमाओं को धोने का प्रयत्न किया और जीवन के बंसत की सारी विभूति इस निष्फल प्रयास में लुटा दी, पर यह जागृति क्या किसी महात्मा का वरदान या किसी अनुष्ठान का फल था। नहीं, यह उस नवजात शिशु के प्रथम दर्शन का प्रसाद था, जिसके जन्म ने आज पन्द्रह साल से उसकी सूनी गोद को प्रदीप्त कर दिया था। शिशु का मुख देखते ही उसके नीले होठों पर एक क्षीण, करुण, उदास मुस्कान झलक गई, पर केवल एक क्षण के लिए। एक क्षण के बाद वह मुस्कराहट एक लम्बी साँस में विलीन हो गई। उस अशक्त, क्षीण, कोमल रुदन ने कोकिला के जीवन का रुख फेर दिया। वात्सल्य की वह ज्योति उसके जीवन-सन्देश और मूक उपदेश थी।

कोकिला ने उस नवजात बालिका का नाम रखा — श्रद्धा।

उसी के जन्म ने तो उसमें श्रद्धा उत्पन्न की थी। वह श्रद्धा को अपनी लड़की नहीं, किसी देवी का अवतार समझती थी। उसकी सहेलियाँ उसे बधाई देने आती, पर कोकिला बालिका को उनकी नजरों से छिपाती। उसे यह भी मंजूर न था कि उनकी पापमयी दृष्टि भी उस पर पड़े। श्रद्धा ही अब उसकी विभूति, उसकी आत्मा, उसका जीवन-दीपक थी। वह कभी-कभी उसे गोद में लेकर साथ से छलकती हुई आँखों से देखती और सोचती — क्या यह पावन ज्योति भी वासना के प्रचंड आघातों के शिकार होगी? मेरे प्रयत्न निष्फल हो जाएँगे? आह! क्या कोई ऐसी औषधि नहीं, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दें?

भगवान से वह सदैव प्रार्थना करती कि मेरी श्रद्धा किन्हीं काँटों में न उलझे। वह वचन और कर्म से, विचार और व्यवहार से उसके सम्मुख नारी-जीवन का ऊँचा आदर्श रखेगी। श्रद्धा इतनी सरल, इतनी प्रगल्भ, इतनी चतुर थी कि कभी-कभी कोकिला वात्सल्य से गद्‌गद होकर उसके तलबों को अपने मस्तक से रगड़ती और पश चात्ताप तथा हर्ष के आँसू बहाती।

2

सोलह वर्ष बीत गए। पहले की भोली-भाली श्रद्धा अब एक सगर्व, शान्त, लज्जाशील नवयौवना थी, जिसे देखकर आँखें तृप्त हो जाती थी। विद्या की उपासिका थी, पर सारे संसार से विमुख। जिनके साथ वह पढ़ती थी वे उससे बात भी न करना चाहती थी। मातृ-स्नेह के वायुमंडल में पड़कर वह घोर अभिमानिनी हो गई थी। वात्सल्य के वायुमंडल, सखी-सहेलियों के परित्याग, रात-दिन की घोर पढ़ाई और पुस्तकों के एकान्तवास से अगर श्रद्धा को अहंभाव हो आया, तो आश्चर्य की कौन-सी बात हैं। उसे किसी से भी बोलने का अधिकार न था। विद्यालय में भले घर की लड़कियाँ उसके सहवास में अपनी अपमान समझती थी।

रास्ते में लोग उँगुली उठाकर कहते — 'कोकिला रंडी लड़की हैं।' उसका सिर झुक जाता, कपोल क्षण भर के लिए लाल होकर दूसरे ही क्षण फिर चूने की तरह सफेद हो जाते।

श्रद्धा को एकान्त से प्रेम था। विवाह को ईश्वरीय कोप समझती थी। यदि कोकिला ने कभी उसकी बात चला दी, तो उसके माथे पर बल पड़ जाते, चमकते हुए लाल चेहरे पर कालिमा छा जाती, आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते, कोकिला चुप हो जाती। दोनों

के जीवन-आदर्श में विरोध था। कोकिला समाज के देवता की पुजारिन, श्रद्धा को समाज से, ईश्वर से और मनुष्य से घृणा। यदि संसार में उसे कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह थी उसकी पुस्तकें। श्रद्धा उन्हीं विद्वानों के संसर्ग में अपना जीवन व्यतीत करती, जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं, जाति-पाँति का स्थान नहीं, सबके अधिकार समान है। श्रद्धा की पूर्ण प्रकृति का परिचय महाकवि रहीम के एक दोहे के पद से मिल जाता है —

'प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देय बुलाय।'

अगर कोई सप्रेम बुलाकर उसे विष दे देता, तो वह नतजानु हो उसे अपने मस्तक से लगा लेती। किन्तु अनादर दिए हुए अमृत की भी उसकी नजर में कोई हकीकत न थी।

एक दिन कोकिला ने आँखों में आँसू भरकर श्रद्धा से कहा — क्यों मुन्नी, सच बताना तुझे लज्जा तो लगती होगी कि मैं क्यों इसकी बेटी हुई। यदि तू किसी ऊँचे कुल में पैदा हुई होती, तो क्या तब भी तेरे दिल में ऐसे विचार आते? तू मन-ही-मन मुझे जरूर कोसती होगी।

श्रद्धा माँ का मुँह देखने लगी — 'म्माजी, आप मुझसे ऐसा प्रश्न क्यों करती है? क्या मैंने कभी आपका अपमान किया है?

कोकिला ने गद्‌गद होकर कहा — नहीं बेटी, उस परम दयालु भगवान से यहीं प्रार्थना है कि तुम्हारी जैसी सुशील लड़की सबको दे, पर कभी-कभी यह विचार आता है कि तू अवश्य ही मेरी बेटी होकर पछताती होगी।

श्रद्धा ने धीर कंठ से कहा — अम्माँ, आपकी यह भावना निर्मूल है, मैं आपसे सच कहती हूँ, मुझे जितनी श्रद्धा और भक्ति आपके प्रति है, उतनी किसी के प्रति नहीं। आपकी बेटी कहलाना मेरे लिए लज्जा की नहीं, गौरव की बात है। मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है, आप जिस वायु-मंडल में पली, उसका असर तो पड़ना ही थी, किन्तु पाप के दलदल में फँसकर फिर निकल जाना अवश्य गौरव की बात है। बहाव की ओर नाव खे ले जाना तो बहुत सरल है, किन्तु जो नाविक बहाव के प्रतिकूल खे ले जाता है, वही सच्चा नाविक है।'

कोकिला ने मुस्कराते हुए कहा — तो फिर विवाह के नाम से क्यों चिढ़ती है?

श्रद्धा ने आँखें नीची करके उत्तर दिया — बिना विवाह के जीवन व्यतीत नहीं हो सकता? मैं कुमारी ही रहकर जीवन बिताना चाहती हूँ। विद्यालय से निकलकर कॉलेज में प्रवेश करूँगी और दो-तीन वर्ष बाद हम स्वतंत्र रूप में रह सकती है। डॉक्टर बन

सकती हूँ, वकालत कर सकती हूँ, औरतों के लिए सब मार्ग खुल गए है।

कोकिला ने डरते-डरते कहा — क्यों, क्या तुम्हारे हृदय में कोई दूसरी इच्छा नहीं होती? किसी से प्रेम करने की अभिलाषा तेरे मन में नहीं पैदा होती?

श्रद्धा ने एक लम्बी साँस लेकर कहा — अम्माजी! प्रेम-विहीन संसार में कौन है? प्रेम मानव-जीवन का श्रेष्ठ अंग है, यदि ईश्वर की ईश्वरता कहीं देखने में आती है, तो वह केवल प्रेम में। जब कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जो मुझे वरने में अपनी मानहानि न समझेगा, तो मैं तन-मन-धन से उसकी पूजा करूँगी, पर किसके सामने हाथ पसारकर प्रेम की भिक्षा माँगूँ? यदि किसी से सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया, तो मैं प्रसन्न न हो सकूँगी। इससे तो अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।

3

इन्हीं दिनों महिला-मंडल का एक उत्सव हुआ। कॉलेज के रसिक विद्यार्थी काफी संख्या में सम्मिलित हुए। हाल में तिल-भर जगह

खाली न थी। श्रद्धा भी आकर स्त्रियों की सबसे अन्त की पंक्ति में खड़ी हो गई। उसे यह सब स्वाँग मालूम हुआ था। आज प्रथम बार ही वह ऐसी सभा में सम्मिलित हुई थी।

सभा की कर्रवाई शुरू हुई। प्रधान महोदय की वक्तृता के पश्चात प्रस्ताव पेश होने लगे और उनके समर्थन में वक्तृताएँ होने लगी, किन्तु महिलाएँ उनकी वक्तृताएँ भूल गईं, या उन पर सभा का रोब ऐसा छा गया कि उनकी वक्तृता-शक्ति लोप हो गई। वे कुछ टूटे-फूटे जुमले बोलकर बैठने लगीं। सभा का रंग बिगड़ने लगा। कई स्त्रियाँ बड़ी शान से प्लेटफार्म पर आई, किन्तु दो-तीन शब्दों से अधिक न बोल सकीं। नवयुवकों को मजाक उड़ाने का अवसर मिला। कहकहे पड़ने लगे, तालियाँ बजने लगीं। श्रद्धा उनकी यह दुर्जनता देखकर तिलमिला उठी। उसका अंग-प्रत्यंग फड़कने लगा। प्लेटफार्म पर जाकर वह कुछ इस शान से बोली कि सभा पर आतंक छा गया। कोलाहल शान्त हो गया। लोग टकटकी बाँधकर उसे देखने लगे। श्रद्धा स्वर्गीय बाला की भाँति धारावाहिक रूप में बोल रही थी। उसके प्रत्येक शब्द से नवीनता, सजीवता और दृढ़ता प्रतीत होती थी। उसके नवयौवन की सुरभि भी चारों ओर फैलकर सभा मंडप को अवाक कर रही थी।

सभा समाप्त हुई। लोग टीका-टिप्पणी करने लगे।

एक ने पूछा — यह स्त्री कौन थी भई!

दूसरे ने उत्तर दिया — उसी कोकिला रंडी की लड़की।

तीसरे व्यक्ति ने कहा — तभी यह आवाज और सफाई है, तभी तो जादू है। जादू है जनाब-मुजस्सिम जादू! क्यों न हो, माँ भी तो सितम ढाती थी, जब से उसने अपना पेशा छोड़ा, शहर बे-जान हो गया। अब मालूम होता है कि यह अपनी माँ की जगह लेगी।

इस पर एक खद्दरधारी काला नवयुवक बोला — क्या खूब कदरदानी फरमाई है जनाब ने, वाह!

उसी व्यक्ति ने उत्तर दिया — आपको बुरा क्यों लगा? क्या कुछ सांठ-गांठ तो नहीं है।

काले नवयुवक ने कुछ तेज होकर कहा — आपको ऐसी बातें मुँह से निकालते लज्जा भी नहीं आती।

दूसरे व्यक्ति ने कही — लज्जा की कौन बात है? वेश्या की लड़की अगर वेश्या हो, तो आश्चर्य की क्या बात है?

नवयुवक ने घृणापूर्ण स्वर में कहा — ठीक होगा, आप जैसे बुद्धिमान व्यक्तियों की समझ में! जिस रमणी के मुख से ऐसे विचार निकल सकते हैं, वह देवी है, रूप बेचनेवाली नही।'

श्रद्धा उसी समय सभा से जा रही थी। यह अन्तिम शब्द उसके कानों में पड़ गए।

वह विस्मित और पुलकित होकर वहीं ठिठक गई, काले नवयुवक की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से निहारा और फिर बड़ी तेजी से आगे बढ़ गई लेकिन रास्ते-भर उसके कानों में उन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि गूँजती रही।

अब तक श्रद्धा की प्रशंसा करने वाली, उसे उत्साहित करने वाली केवल उसी की माँ कोकिला थी। और चारों ओर वही उपेक्षा थी, वही तिरस्कार! आज एक अपरिचित, काले किन्तु गौर हृदय वाले खद्दरधारी नवयुवक व्यक्ति के मुख का चित्त बराबर उसकी आँखों के सामने नाचा करता। मन में प्रश्न उठता — वह कौन है? क्या फिर कभी उसके दर्शन होंगे?

कॉलेज जाते समय श्रद्धा उस नवयुवक को खोई हुई आँखों से खोजती। घर पर रोज चिक की आड़ से, रास्ते के आते-जाते लोगों को देखती, लेकिन वह नवयुवक नजर न आता।

कुछ दिनों बाद महिला-मंडल की दूसरी सभा का विज्ञापन निकला। अभी सभा होने में चार दिन बाकी थे। वह चारों दिन श्रद्धा ने अपना भाषण तैयार करने में बिताए। एक-एक शब्द की खोज में घंटों सिर मारती। एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ती।

बड़े-बड़े नेताओं की स्पीचें पढ़ती और उसी तरह लिखने की कोशिश करती। जब सारी स्पीच पूरी हो गई, तो श्रद्धा अपने कमरे में जाकर कुर्सियों और मेजों को सम्बोधित करके जोर-जोर से पढ़ने लगी। भाषण-कला के सभी लक्षण जमा हो गए थे। उपसंहार तो इतना सुन्दर था कि उसे अपने मुख से सुनकर वह मुग्ध हो गई। इसमें कितना संगीत था, कितना आकर्षण, कितनी क्रांति!

सभा का दिन आ पहुँचा। श्रद्धा मन-ही-मन भयभीत होती हुई सभा-मंडप में घुसी। हॉल भरा हुआ था और पहले दिन से भी अधिक भीड़ थी। श्रद्धा को देखते ही जनता ने तालियाँ पीटकर उसका स्वागत किया। कोलाहल होने लगा और सभी एक स्वर में चिल्ला उठे — आप अपनी वक्तृता शुरू करें।

श्रद्धा ने मंच पर आकर एक उड़ती हुई निगाह से जनता की ओर देखा। वह काला नवयुवक जगह न मिलने के कारण अन्तिम पंक्ति में खड़ा हुआ था। श्रद्धा के दिल में गुदगुदी-सी होने लगी। उसने काँपते स्वर में अपनी वक्तृता शुरू की। उसकी नजरों में सारा हाल पुतलियों से भरा हुआ था, अगर कोई जीवित मनुष्य था, तो वही सबसे पीछे खड़ा हुआ काला नवयुवक। उसका मुख उसी की ओर था। वह उसी से भाषण की दाद माँग रही थी। हीरा परखने की आशा जौहरी से ही की जाती है।

आधे घंटे तक श्रद्धा के मुख से फूलों की वर्षा होती रही। लोगों को बहुत कम ऐसी वक्तृता सुनने को मिली थी।

4

श्रद्धा जब सभा समाप्त होने पर घर चली तो देखा, वही काला नवयुवक उसके पीछे तेजी से चला आ रहा है। श्रद्धा को यह मालूम था कि लोगों ने उसका भाषण बहुत पसन्द किया है लेकिन इस नवयुवक की राय सुनने का अवसर उसे नहीं मिला था। उसने अपनी चाल धीमी कर दी। दूसरे ही क्षण वह नवयुवक उसके पास पहुँच गया! दोनो कई कदम चुपचाप चलते रहे।

अन्त में नवयुवक ने झिझकते हुए कहा — आज तो आपने कमाल कर दिया!

श्रद्धा ने प्रफुल्लता के स्रोत को दबाते हुए कहा — धन्यवाद! यह आपकी कृपा है।'

नवयुवक ने कहा — मैं किस लायक हूँ, मैं ही नहीं, सारी सभा सिर धुन रही थी।

श्रद्धा ने कहा — क्या आपका शुभ-स्थान यही है?

नवयुवक ने कहा — जी हाँ, यहाँ मैं एम. ए. में पढ़ रहा हूँ। यह ऊँच-नीच का भूत न जाने कब तक हमारे सिर पर सवार रहेगा। अभाग्य से मैं भी उन लोगों में हूँ, जिन्हें संसार नीच समझता है। मैं जाति का चमार हूँ, मेरे पिता स्कूल के इंस्पेक्टर के यहाँ अर्दली थे। उनकी सिफारिश से स्कूल में भर्ती हो गया। तब से भाग्य से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा हूँ। पहले तो स्कूल के मास्टर मुझे छूते ही न थे। वह हालत तो अब नहीं रहीं किन्तु लड़के अब भी मुझसे खिंचे रहते है।

श्रद्धा ने कहा — मैं तो कुलीनता को जन्म से नहीं, धर्म से मानती हूँ।

नवयुवक ने कहा — यह तो आपकी वक्तृता ही से सिद्ध हो गया है और इसी से आपसे बातें करने का साहस भी हुआ, नहीं तो कहाँ आप और कहाँ मैं!

श्रद्धा ने आँखें नीची करके कहा — शायद आपको मेरा हाल मालूम नहीं।

नवयुवक ने कहा — बहुत अच्छी तरह से मालूम है, यदि आप अपनी माताजी के दर्शन करवा सकें, तो आपका बड़ा आभारी होऊँगा।

'वह आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्न होंगी! शुभ नाम!'

'मुझे भगतराम कहते है।'

यह परिचय धीरे-धीरे स्थिर और दृढ़ होता गया। मैत्री प्रगाढ़ होती गई। श्रद्धा की नजरों में भगतराम एक देवता थे और भगतराम के समक्ष श्रद्धा मानवी रूप में देवी थी।

5

एक साल बीत गया। भगतराम रोज देवी के दर्शन को जाता। दोनों घंटों बैठे बातें किया करते। श्रद्धा कुछ भाषण करती, तो भगतराम सब काम छोड़कर सुनने जाता। उनके मनसूबे एक थे, जीवन के आदर्श एक, रूचि एक, विचार एक। भगतराम अब प्रेम और उसके रहस्यों की मार्मिक विवेचना करता। उसकी बातों में 'रस' और 'अलंकार' का कभी इतना संयोग न हुआ था। भावों को इंगित करने में उसे कमाल हो गया था लेकिन ठीक उन अवसरों पर, जब श्रद्धा के हृदय में गुदगुदी होने लगती, उसके कपोल उल्लास से रंजित हो जाते, भगतराम विषय पलट देता और जल्दी से कोई बहाना बनाकर वहाँ से खिसक जाता। उसके चले जाने

पर श्रद्धा हसरत के आँसू बहाती और सोचती — क्या इन्हें दिल में मुझे प्रेम नहीं?

एक दिन कोकिला ने भगतराम को एकान्त में बुलाकर कहा — बेटा! अब तो मुन्नी से तुम्हारा विवाह हो जाए तो अच्छा है। जीवन का क्या भरोसा, कहीं मर जाऊँ, तो यह साध मन ही में रह जाए।

भगतराम ने सिर हिलाकर कहा — अम्माँ, जरा परीक्षा में पास हो जाने दो, जीविका का प्रश्न हल हो जाने के बाद ही विवाह शोभा देता है।

'यह सब तुम्हारा ही है, क्या मैं साथ बाँधकर ले जाऊँगी?'

'यह आपकी कृपा है, अम्माजी, पर इतना निर्लज्ज न बनाइए। मैं तो आपका हो चुका, अब तो आप दुतकारें भी तो इस द्वार से नहीं टल सकता। मुझ जैसा भाग्यवान संसार में और कौन है, लेकिन देवी के मंदिर में जाने से पहले कुछ पान-फूल तो होना ही चाहिए।'

साल-भर और गुजर गया। भगतराम ने एम. ए. की उपाधि ली और अपने ही विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक हो गया। उस दिन कोकिला ने खूब दान-पुण्य किया। जब भगतराम ने आकर उसके पैरों पर सिर झुकाया तो उसने उसे छाती से लगा लिया।

उसे विश्वास था कि आज भगतराम विवाह के प्रश्न को जरूर छेड़ेगा। श्रद्धा प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई थी। उसका एक-एक अंग मानो सौ-सौ तार होकर प्रतिध्वनित हो रहा था। दिल पर नशा छाया हुआ था। पाँव जमीन पर न पड़ते थे। भगतराम को देखते ही माँ से बोली — अम्मा, अब हमको एक हल्की-सी मोटर ले दीजिएगा।'

कोकिला ने मुस्कराकर कहा — हल्की-सी क्यों? भारी-सी ले लेना, पहले कोई अच्छा-सा मकान तो ठीक कर लो।

श्रद्धा भगतराम को अपने कमरे में बुला ले गई। दोनों बैठकर नए मकान की सजावट के मनसूबे बाँधने लगे। परदे, फर्श, तस्वीरें सबकी व्यवस्था की गई।

श्रद्धा ने कहा — रुपए भी अम्माँजी से ले लेंगे।

भगतराम बोला — उनसे रुपए लेते मुझे शर्म आएगी।

श्रद्धा ने मुस्कराकर कहा — आखिर मेरे दहेज के रुपए तो देंगी।

दोनों घंटे भर बातें करते रहे। मगर वह मार्मिक शब्द, जिसे सुनने के लिए श्रद्धा का मन आतुर हो रहा था, आज भी भगतराम के मुँह से न निकला और वह विदा हो गया।

उसके जाने के बाद कोकिला ने डरते-डरते पूछा — आज क्या बातें हुई?

श्रद्धा ने उसका आशय समझकर कहा — अगर मैं ऐसी भारी हो रही हूँ तो कुएँ में क्यों नहीं डाल देती?

यह कहते-कहते उसके धैर्य की दीवार टूट गई। वह आवेश और वह वेदना, जो भीतर-ही-भीतर अब तक टीस रही थी, निकल पड़ी। वह फूट-फूटकर रोने लगी!

कोकिला ने झुँझलाकर कहा —'जब कुछ बातचीत ही नहीं करनी है, तो रोज आते ही क्यों है? कोई ऐसा घराना भी तो नहीं है, और न ऐसे धन्नासेठ है।

श्रद्धा ने आँखें पोंछकर कहा — अम्माँजी, मेरे सामने उन्हें कुछ न कहिए। उनके दिल में जो कुछ है, वह मैं जानती हूँ। वह मुँह से चाहे कुछ न कहें, मगर दिल से कह चुके चुके और मैं चाहे कानों से कुछ न सुनूँ, पर दिल से सब कुछ सुन चुकी हूँ।

कोकिला ने श्रद्धा से कुछ भी न कहा लेकिन दिन भगतराम से बोली — अब किस विचार में हो, बेटा?

भगतराम ने सिर खुजलाते हुए कहा — अम्माँजी, मैं तो हाजिर हूँ लेकिन घर वाले किसी तरह राजी नहीं होते। जरा फुरसत मिले,

तो घर जाकर राजी कर लूँ। माँ-बाप को नाराज करना भी तो अच्छा नहीं!

कोकिला कुछ जवाब न दे सकी।

6

भगतराम के माँ-बात शहर से दूर रहते थे। यहीं एक उनका लड़का था। उनकी सारी उमंगें उसी के विवाह पर अवलम्बित थीं। उन्होंने कई बार उसकी शादी तय की। पर भगतराम बार-बार यही कहकर निकल जाता कि जब तक नौकर न हो जाऊँगा, विवाह न करूँगा। अब वह नौकर हो गया था, इसलिए दोनों माघ के ठण्डे प्रातःकाल में लदे फंदे भगतराम के मकान पर आ पहुँचे। भगतराम ने दौड़कर उनकी पद-धूलि ली और कुशल आदि पूछने के बाद कहा — आप लोगों ने इस जाड़े-पाले में क्यों तकलीफ की? मुझे बुला लिया होता।

चौधरी ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा — सुनती हो बच्चा की अम्माँ! जब बुलाते है, तो कहते है कि इम्तिहान है, यह है, वह है, जब आ गए, तो कहता है, बुलाया क्यों नहीं! तुम्हारा विवाह

ठीक हो गया है, अब एक महीने की छुट्टी लेकर हमारे साथ चलना होगा, इसीलिए दोनों आए है।

चौधराइन ने कहा — हमने कहा कि बिना गए काम नहीं चलेगा, तो आज ही दरखास दे दो। लड़की बड़ी सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, अच्छे कुल की है।

भगतराम ने लजाते हुए कहा — मेरा विवाह तो यहीं एक जगह लगा हुआ है, अगर आप राजी हों, तो कर लूँ।

चौधरी ने कहा — इस शहर में हमारी बिरादरी का कौन है, क्यों बच्चा की अम्मा?

भगतराम ने कहा — माँ-बेटी है, घर में रुपया भी है, लड़की ऐसी है कि तुम लोग देखकर खुश हो जाओगे, मुफ्त में शादी हो जाएगी।

चौधरी ने कहा — क्या लड़की का बाप मर गया है? उसका क्या नाम था? कहाँ का रहने वाला है, कुल-मरजाद कैसा है, जब तक यह सारी बातें मालूम न हो जाए, तब तक ब्याह कैसे हो सकता है! क्यों बच्चा की अम्माँ?

चौधराइन ने कहा — हाँ इन बातों का पता लगाए कैसे हो सकता है?

भगतराम ने कोई जवाब नहीं दिया।

चौधरी ने कहा — यहाँ किस मुहल्ले में रहती है माँ-बेटी? सारा शहर हमारा छाना पड़ा है, हम यहाँ कोई बीस साल रहे होंगे, क्यों बच्चा की अम्माँ?

चौधराइन ने कहा — बीस साल से ज्यादा रहे हैं।

भगतराम ने कहा — उसका घर नखास पर है।'

चौधरी ने कहा — नखास पर किस तरफ?'

भगतराम ने कहा — नखास की सामने वाली गली में पहला मकान उन्हीं का है, सड़क से दिखाई देता है।

चौधरी ने कहा — पहला मकान तो कोकिला रंडी का है, गुलाबी रंग से पुता हुई है न?

भगतराम ने झेंपते हुए कहा — जी हाँ, वही मकान है!

चौधरी ने कहा — तो उसमें कोकिला रंडी नहीं रहती क्या?

भगतराम ने कहा — रहती क्यों नहीं, माँ-बेटी, दोनों ही तो रहती है।

चौधरी ने कहा — तो क्या कोकिला रंडी की लड़की से ब्याह करना चाहते हो? नाक कटवाने पर लगे हो क्या? बिरादरी में तो कोई पानी पिएगा नहीं।

चौधराइन ने कहा — लूका लगा दूँगी मुँह में राँड़ के! रुप-रंग देखकर के लुभा गए क्या?

भगतराम ने कहा — मैं तो इसे अपना भाग्य समझता हूँ कि वह अपनी लड़की की शादी मेरे साथ करने को राजी है। अगर वह आज चाहे, तो किसी बड़े-से-बड़े रईस के घर में शादी कर सकती है।

चौधरी ने कहा — रईस उससे ब्याह ने करेगा — रख लेगा। तुम्हें भगवान समझ दे तो एक नहीं चार रखो। मरदों के लिए कौन रोक है! लेकिन जो ब्याह के लिए कहो तो ब्याह वही है, जो बिरादरी में हो।

चौधराइन ने कहा — बहुत पढ़ने से आदमी बौरा हो जाता है।

चौधरी ने कहा — हम तो गँवार आदमी है, पर समझ में नहीं आता कि तुम्हारी यह नियत कैसे हुई? रंडी की बेटी चाहे इन्दर की परी हो, तो भी रंडी की बेटी है। हम तुम्हारा विवाह वहाँ न होगे देंगे। अगर तुमने विवाह किया, तो हम दोनों तुम्हारे ऊपर

अपनी जान दे देंगे, इतना अच्छी तरह से समझ लेना — क्यों बच्चा की अम्माँ?

चौधराइन ने कहा — ब्याह कर लेंगे! झाड़ू मार के भगा दूँगी राँड़ को! अपनी बेटी अपने घर में रखें।

भगतराम ने कहा — अगर आप लोगों की आज्ञा नहीं है, तो मैं विवाह नहीं करूँगा, मगर मैं किसी दूसरी औरत से भी विवाह न करूँगा।

चौधराइन ने कहा — 'हाँ, तुम कुँवारे रहो, यह हमें मंजूर है, पुतरिया के घर में ब्याह न करेंगे।

भगतराम ने अबकी झुंझलाकर कहा — आप उसे बार-बार पुतरिया क्यों कहती हैं। किसी जमाने में यह उसका पेशा रहा होगा। आजकल वह जितने आचार-विचार से रहती है, शायद ही कोई और रहती हो, ऐसा पवित्र आचरण तो मैंने आज तक देखा ही नहीं।

भगतराम का सारा यत्न विफल हो गया। चौधराइन ने ऐसी जिद पकड़ी कि जौ-भर अपनी जगह से न टली।

रात को जब भगतराम अपने प्रेम-मन्दिर में पहुँचा, तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। एक-एक अंग से निराशा टपक रही थी।

श्रद्धा रास्ता देखती हुई घबरा रही थी कि आज इतनी रात तक आए क्यों नहीं, उन्हें क्या मालूम कि मेरे दिल की क्या हालत हो रही है। यार-दोस्तों से छुट्टी मिलेगी, तो भूलकर इधर भी आ जाएँगे।

कोकिला ने कहा — मैं तो तुझसे कह चुकी कि उनका मिज़ाज नहीं रहा। फिर भी तो तू नहीं मानती, आखिर इस टालमटोल की कोई हद भी है।'

श्रद्धा ने दुखित होकर कहा — अम्माजी, मैं आपसे हजार बार विनय कर चुकी हूँ कि चाहे लौकिक रूप में कुमारी ही क्यों न रहूँ, लेकिन हृदय से उनकी ब्याहता हो चुकी। अगर ऐसा आदमी विश्वास के काबिल नहीं है, तो फिर नहीं जानती कि किस पर विश्वास किया जा सकता है।

इस समय भगतराम निराशा की मूर्ति बने हुए कमरे के भीतर आए। दोनों स्त्रियों ने उनकी ओर देखा। कोकिला की आँखों में शिकायत थी और श्रद्धा की आँखों में वेदना। कोकिला की आँखें कह रही थी, यह क्या तुम्हारे रंग-ढंग है? श्रद्धा की आँखें कह रही थी — इतनी निर्दयता!

भगतराम ने वेदनापूर्ण स्वर में कहा — आप लोगों को आज बहुत देर तक मेरी राह देखनी पड़ी, मगर मैं मजबूर था। घर में अम्मा और दादा आए हुए है, उन्हीं से बातें कर रहा था।

कोकिला बोली — घर पर तो सब कुशल है न?

भगतराम ने सिर झुकाए हुए कहा — जी हाँ, सब कुशल है, मेरे विवाह का मसला पेश था, पुराने ख्याल के आदमी है, किसी तरह भी राजी नहीं होते।

कोकिला का मुख तमतमा उठा फिर बोली — हाँ, क्यों राजी होंगे? हम लोग उनसे भी नीच है न, लेकिन जब तुम उनकी इच्छा के दास थे, तो तुम्हें उनसे पूछकर यहाँ आना-जाना चाहिए था। इस तरह हमारा अपमान करके तुम्हें क्या मिला? यदि मुझे मालूम होता कि तुम अपने माँ-बाप के इतने गुलाम हो, तो यह नौबत ही काहे को आती?

श्रद्धा ने देखा कि भगतराम की आँखों से आँसू गिर रहे है।

विनीत भाव से बोली — अम्माँजी, माँ-बाप की मरजी का गुलाम होना कोई पाप नहीं है। अगर मैं आपकी उपेक्षा करूँ, तो क्या आपको दुःख न होगा? यही हाल उन लोगों का भी तो होगा।'

श्रद्धा यह कहती हुई अपने कमरे की ओर चली और इशारे से भगतराम को भी बुलाया। कमरे में बैठकर दोनों कई मिनट तक पृथ्वी की ओर ताकते रहे। किसी में साहस न था कि उस सन्नाटे को तोड़े।

अन्त में भगतराम ने पुरुषोचित वीरता के काम लिया और कहा — श्रद्धा, इस समय मेरे हृदय के भीतर तुमुल युद्ध हो रहा है। मैं शब्दों में अपनी दशा बयान नहीं कर सकता। जी चाहता है विष खाकर जान दे दूँ। तुमसे अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता। केवल तड़प सकता हूँ। मैंने न-जाने उनकी कितनी खुशामद की, कितना रोया, कितना गिड़गिड़ाया, लेकिन दोनों अपनी बातों पर अड़े रहे। बार-बार कहते रहे कि अगर यह ब्याह होगा, तो हम दोनों तुम पर अपनी जान दे देंगे। उन्हें मेरी मौत मंजूर है लेकिन तुम मेरे हृदय की रानी बनो, यह मंजूर नहीं।

श्रद्धा ने सांत्वना देते हुए कहा — प्यारे, मुझसे उनका घृणा करना उचित है। पढ़े-लिखे आदमियों में ही ऐसे कितने निकलेंगे, इसमें उनका कोई दोष नहीं। मैं सबेरे उनके दर्शन करूँगी, उनकी धोतियाँ धोऊँगी, उनके पैर दाबा करूँगी, मैं वह सब करूँगी, जो उनकी मनचाही बहू करती। इसमें लज्जा की कौन-सी बात है, उनके तलवे सहलाऊँगी, भजन गाकर सुनाऊँगी। मुझे बहुत-से देहाती गीत आते है। अम्माजी के सिर के सफेद बाल चुनूँगी।

मैं दया नहीं चाहती, मैं तो प्रेम की चेरी हूँ, तुम्हारे लिए मैं सब कुछ करूँगी — सब कुछ।

भगतराम को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसकी आँखों की ज्योति बढ़ गई है, अथवा शरीर में कोई दूसरी ज्योतिर्मय आत्मा आ गई है। उसके हृदय का सारा अनुराग, सारा विश्वास, सारी भक्ति आँखों से उमड़कर श्रद्धा के पैरों की ओर जाती हुई मालूम हुई, मानो किसी घर से नन्हें-नन्हें लाल कपोलवाले, रेशमी कपड़ोवाले, घुंघराले बालों वाले बच्चे हँसते हुए निकलकर खेलने जा रहे हों।

7

चौधरी और चौधराइन को शहर आए हुए दो सप्ताह बीत गए। वे रोज जाने के लिए कमर कसते लेकिन फिर रह जाते। श्रद्धा उन्हें जाने न देती। सबेरे जब उनकी आँखें खुलती, तो श्रद्धा उनके स्नान के लिए पानी तपाती हुई होती, चौधरी को अपना हुक्का भरा हुआ मिलता। वे लोग ज्योंही नहाकर उठते, श्रद्धा उनकी धोती छाँटने लगती। दोनों उसकी सेवा और अविरत परिश्रम देखकर दंग रह जाते। ऐसी सुन्दर, ऐसी मधुभाषिणी, ऐसी हँसमुख और चतुर रमणी चौधरी ने इंस्पेक्टर साहब के घर में भी

न देखी थी। चौधरी को वह देवी मालूम होती और चौधराइन को लक्ष्मी। दोनों श्रद्धा की सेवा और टहल प्रेम पर आश्चर्य करते थे। किन्तु तो भी कलंक और बिरादरी का प्रश्न उनके मुँह पर मुहर लगाए हुए था। पन्द्रहवें दिन जब श्रद्धा दस बजे रात अपने घर चली गई, तो चौधरी ने चौधराइन से कहा — लड़की तो साक्षात लक्ष्मी है।

चौधराइन ने कहा — जब मेरी धोती छाँटने लगती है, तो मैं मारे लाज के कट जाती हूँ, हमारी तरह तो इसकी लौंड़ी होगी।

चौधरी ने कहा — फिर क्या सलाह देती हो, बिरादरी में तो ऐसी मधुर लड़की मिलने की नहीं।

चौधराइन ने कहा — राम का नाम लेकर ब्याह करो, बहुत होगा रोटी पड़ जाएगी, पाँच बीसी में तो रोटी होती है, कौन छप्पन टके लगते है। पहले हमें शंका होती थी कि पतुरिया की लड़की जाने कैसी हो, कैसी न हो, पर अब सारी शंका मिट गई।

चौधरी ने कहा — जब बातें करती है, तो मालूम होता है, मुँह से फूल झड़ते है।

चौधराइन ने कहा — मैं तो उसकी माँ को बखारती हूँ, जिसकी कोख में ऐसी लक्ष्मी जनमी।

चौधरी ने कहा — कल चलो, कोकिला से मिलकर सब ठीक-ठाक कर आएँ।

चौधराइन ने कहा — मुझे तो उसके घर जाते सरम लगती है, वह रानी बना बैठी होगी, मैं तो उसकी लौंड़ी मालूम होऊँगी।

चौधरी ने कहा — तो फिर पाउडर मँगाकर मुँह में पोत लो — गोरी हो जाओगी। इंस्पेक्टर साहब की मेम भी तो रोज पाउडर लगाती है, रंग तो साँवला था, पर जब पाउडर लगा लेती है तो मुँह चमकने लगता है।

चौधराइन ने कहा — हँसी करोगे तो गाली दूँगी। हाँ, काली चमड़ी पर कोई रंग चढ़ता है, जो पाउडर चढ़ जाएगा? तुम तो सचमुच उसके चौकीदार से लगोगे।

चौधरी ने कहा — तो कल मुँह-अँधेरे चल दें, अगर कहीं श्रद्धा आ गई तो फिर गला न छोड़ेगी। बच्चा से कह देंगे कि पंडित से सायत-मिति सब ठीक कर लो। फिर हँसकर कहा — उन्हें तो आप ही जल्दी होगी।

चौधराइन भी पुराने दिन याद करके मुस्कराने लगी।

8

चौधरी और चौधराइन का मत पाकर कोकिला विवाह का आयोजन करने लगी। कपड़े बनवाए जाने लगे। बर्तनों की दुकान छानी जाने लगी और गहनों के लिए सुनार के पास 'आर्डर' जाने लगे। लेकिन न मालूम क्यों भगतराम के मुख पर प्रसन्नता का कोई चिह्न तक न था। श्रद्धा के यहाँ नित्य की भाँति जाता, किन्तु उदास, कुछ भूला हुआ-सा बैठा रहता था। घंटों आत्म-विस्मृति की अवस्था में शून्य दृष्टि से आकाश अथवा पृथ्वी की ओर देखा करता। श्रद्धा उसे अपने कीमती कपड़े और जड़ाऊँ गहने दिखाती। उसके अंग-प्रत्यंग से आशाओं की स्फूर्ति छलक पड़ती थी। इस नशे में वह भगतराम की आँखों में छिपे हुए आँसुओं को न देख पाती थी।

इधर चौधरी भी तैयारियाँ कर रहे थे। बार-बार शहर आते और विवाह के सामान मोल ले जाते। भगतराम के स्वतंत्र विचारवाले मित्र उसके भाग्य पर ईर्ष्या करते थे। अप्सरा-जैसी सुन्दर स्त्री, कारूँ के खजाने-जैसी दौलत, दोनों साथ ही किसे मयस्सर होते हैं? किन्तु वह, जो मित्रों की ईर्ष्या, कोकिला की प्रसन्नता, श्रद्धा की मनोकामना और चौधरी और चौधराइन के आनन्द का कारण था,

छिप-छिपकर रोता था। अपने जीवन से दुखी था। चिराग तले अंधेरा छाया हुआ था। इस छिपे तूफान की किसी को भी खबर न थी, जो उसके हृदय में हाहाकार मचा हुआ था।

ज्यों-ज्यों विवाह की दिन समीप आता था, भगतराम की बनावटी उमंग भी ठंडी पड़ती जाती थी। जब चार दिन रह गए, तो उसे हल्का-सा ज्वर आ गया। वह श्रद्धा के घर भी न जा सका। चौधरी और चौधराइन और अन्य बिरादरी के लोग भी आ पहुँचे थे, किन्तु सब-के-सब विवाह की धुन में इतने मस्त थे कि किसी का भी ध्यान उसकी ओर न गया।

दूसरे दिन भी वह घर से न निकल सका। श्रद्धा ने समझा कि विवाह की रीतियों से छुट्टी न मिली होगी। तीसरे दिन चौधराइन भगतराम को बुलाने गई, तो देखा कि वह सहमी हुई विस्फारित आँखों से कमरे में एक कोने की ओर देखता हुआ दोनों हाथ सामने किए, पीछे हट रहा है, मानो अपने को किसी के वार से बचा रहा हो।

चौधराइन ने घबराकर पूछा — बच्चा, कैसा जी है? पीछे इस तरह क्यों चले जा रहे हो? यहाँ तो कोई नहीं है।

भगतराम के मुख पर पागलों-जैसी अचेतना थी। आँखों में भय छाया हुआ था। भीत स्वर में बोला — नहीं अम्माजी, देखो, वह

श्रद्धा चली आ रही है! देखो, उसके दोनों हाथों में दो काली नागिनें है, वह मुझे उन नागिनों से डसवाना चाहती है! अरे अम्माँ! वह नजदीक आ गई, श्रद्धा? श्रद्धा! तुम मेरी जान की क्यों बैरिन हो गई? क्या मेरे असीम प्रेम का यही परिणाम है? मैं तो तुम्हारे चरणों पर बलि होने के लिए सदैव तत्पर था। इस जीवन का मूल्य ही क्या है! तुम इन नागिनों को दूर फेंक दो। मैं यहाँ तुम्हारे चरणों पर लेटकर यह जान तुम पर न्योछावर कर दूँगा। है,हैं, तुम न मानोगी!

यह कहकर वह चित्त गिर पड़ा। चौधराइन ने लपककर चौधरी को बुलाया। दोनों ने भगतराम को उठाकर चारपाई पर लिटा दिया। चौधरी की ध्यान किसी आसेब की ओर गया। वह तुरन्त ही लौंग और राख लेकर आसेब उतारने का आयोजन करने लगे! स्वयं मंत्र-तंत्र में निपुण थे। भगतराम का सारा शरीर ठंडा था, किन्तु सिर तवे की तरह तप रहा था।

रात को भगतराम कई बार चौंककर उठा। चौधरी ने हर बार मंत्र फूँककर अपने ख्याल से आसेब को भगाया।

चौधराइन ने कहा — कोई डॉक्टर क्यों नहीं बुलाते? शायद दवा से कुछ फायदा हो। कल ब्याह और आज यह हाल।

चौधरी ने निःशंक भाव से कहा — डॉक्टर आकर क्या करेगा, वही पीपलवाले बाबा तो है, दवा-दारू करना और उनसे और रार बढ़ाना है। रात बीत जाने दो। सबेरा होते ही एक बकरा और एक बोतल दारू उनकी भेंट की जाएगी, बस और कुछ करने की जरूरत नहीं। डॉक्टर बीमारी की दवा करता है कि हवा-बयार की? बीमारी उन्हें कोई नहीं है, कुल के बाहर ब्याह करने ही से देवता लोग रूठ गए है।

सबेरे चौधरी ने एक बकरा मँगाया। स्त्रियाँ गाती-बजाती हुई देवी के चौतरे की ओर चली। जब लोग लौटकर आए, तो देखा कि भगतराम की हालत खराब है। उसकी नाड़ी धीरे-धीरे बन्द हो रही थी। मुख पर मृत्यु-विभीषिका का छाप थी। उसके दोनों नेत्रों से आँसू बहकर गालों पर ढुलक रहे थे, मानो अपूर्ण इच्छा का अन्तिम सन्देश निर्दय संसार को सुना रहे हों। जीवन का कितना वेदना-पूर्ण दृश्य था — आँसू की दो बूँदें!

अब चौधरी घबराए। तुरन्त ही कोकिला को खबर दी। एक आदमी डॉक्टर के पास भेजा। डॉक्टर के आने में देर थी — वह भगतराम के मित्रों में से थे। किन्तु कोकिला और श्रद्धा आदमी के साथ ही आ पहुँचीं। श्रद्धा भगतराम के सामने आकर खड़ी हो गई। आँखों में आँसू बहने लगे।

थोड़ी देर में भगतराम ने आँखें खोली और श्रद्धा की ओर देखकर बोले — तुम आ गई श्रद्धा, मैं तुम्हारी राह देख रहा था, यह अन्तिम प्यार लो। आज ही सब 'आगा-पीछा' का अन्त हो जाएगा, जो आज से तीन वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। इन तीनों वर्षों में मुझे जो आत्मिक-यन्त्रणा मिली है, हृदय ही जानता है। तुम वफा की देवी हो, लेकिन मुझे रह-रहकर भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परम्परा की नीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी? इन भ्रमपूर्ण विचारों के लिए शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य न था — किसी प्रकार भी और कभी भी तुम्हारे-जैसा महान हृदय न बना सका। हाँ, इस भ्रम के वश में पड़कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किए ही जा रहा हूँ। तुम्हारे अगाध, निष्कपट, निर्मल, प्रेम की स्मृति सदैव ही मेरे साथ रहेगी। किन्तु हाय अफसोस...।

कहते-कहते भगतराम की आँखें बन्द हो गई। श्रद्धा के मुख पर गाढ़ी लालिमा दौड़ गई। उसके आँसू सूख गए। झुकी हुई गरदन तन गई। माथे पर बल पड़ गए। आँखों में आत्म-स्वाभिमान की झलक आ गई। वह क्षण भर वहाँ खड़ी रही और दूसरे ही क्षण नीचे आकर अपनी गाड़ी में बैठ गई।

कोकिला उसके पीछे-पीछे दौड़ी हुई आई और बोली — बेटी, यह क्रोध करने का अवसर नहीं है! तुम्हारे रहने से बुड्ढों को ढाढ़स बँधा रहेगा।

श्रद्धा ने कुछ उत्तर न दिया। 'घर चलो,' यह कहकर कोकिला भी गाड़ी में बैठ गई।

असह्य शीत पड़ रहा था। आकाश में काले बादल छाए हुए थे। शीतल वायु चल रही थी। माघ के अन्तिम दिवस थे। वृक्ष, पेड़-पौधे भी शीत से अकड़े हुए थे। दिन के आठ बज गए थे, अभी तक लोग रजाई के भीतर मुँह लपेटे हुए थे। लेकिन श्रद्धा का शरीर पसीने से भीगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था कि सूर्य की सारी उष्णता उसके शरीर के अंगों में घुस गई है। उसके होंठ सूख गए थे, प्यास से नहीं, आंतरिक धधकती हुई अग्नि की लपटों से। उसका एक-एक अंग उस अग्नि की भीषण आँच से जला जा रहा था। उसके मुख से बार-बार जलती हुई गर्म साँस निकल रही थी, मानो किसी चूल्हे की लपट हो। घर पहुँचते-पहुंचते उसका फूल-सा मुख मलिन हो गया, होठ पीले पड़ गए, जैसे किसी काले साँप ने डस लिया हो। कोकिला बार-बार अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसकी ओर ताकती थी, पर क्या कहे और क्या कहकर समझाए।

घर पहुँचकर श्रद्धा अपने ऊपर के कमरे की ओर चली। किन्तु उसमें इतनी शक्ति न थी कि सीढ़ियाँ चढ़ सके। रस्सी को मजबूती से पकड़ती हुई किसी तरह अपने कमरे में पहुँची। हाय, आधे ही घंटे पूर्व यहाँ की एक-एक वस्तु पर प्रसन्नता, आह्लाद, आशाओं की छाप लगी हुई थी, पर अब सब-की-सब सिर धुनती हुई मालूम होती थी। बड़े-बड़े संदूकों में जोडे सजाए हुए रखे थे, उन्हें देखकर श्रद्धा के हृदय में एक हूक उठी और वह गिर पड़ी, जैसे विहार करता हुआ और कुलाँचें भरता हुआ हिरन तीर लग जाने पर गिर पड़ता है।

अचानक उसकी दृष्टि उस चित्र पर जा पड़ी, जो आज तीन वर्ष से उसके जीवन का आधार हो रहा था। उस चित्र को उसने कितनी बार चूमा था, कितनी बार गले लगाया था, कितनी बार हृदय से चिपका लिया था। वे सारी बातें एक-एक करके याद आ रही थीं लेकिन उन्हें याद करने का भी अधिकार उसे न था।

हृदय के भीतर एक दर्द उठा, जो पहले से कहीं अधिक प्राणांतकारी था — जो पहले से अधिक तूफान के समान भयंकर था। हाय! उस मरने वाले के दिल को उसने कितनी यंत्रणा पहुँचाई! भगतराम के अविश्वास का यह जवाब, यह प्रत्युत्तर कितना रोमांचकारी और हृदय-विदारक था। हाय! वह कैसे इतनी निठुर हो हई! उसका प्यार उसकी निगाहों के सामने दम तोड़

रहा था! उसके लिए — उसकी सांत्वना के लिए एक शब्द भी मुँह से न निकला! यही तो खून का असर है। इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। आज पहली बार श्रद्धा को कोकिला की बेटी होने का पछतावा हुआ। वह इतनी स्वार्थरत, इतनी हृदयहीन है — आज ही उसे मालूम हुआ। वह त्याग, वह सेवा, वह उच्चादर्श, जिस पर उसे घमंड था, ढहकर श्रद्धा के सामने गिर पड़ा। वह अपनी ही दृष्टि में अपने को हेय समझने लगी। उसी स्वर्गीय प्रेम का ऐसा नैराश्यपूर्ण उत्तर वेश्या की पुत्री के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

श्रद्धा उसी समय कमरे से बाहर निकलकर, वायु-वेग से सीढ़ियाँ उतरती हुई नीचे पहुँची और भगतराम के मकान की ओर दौड़ी। वह आखिरी बार उससे गले मिलना चाहती थी, अन्तिम बार उसके दर्शन करना चाहती थी, वह अनन्त प्रेम के कठिन बन्धनों को निभाएगी और अन्तिम श्वास तक उसी की ही बनकर रहेगी!

रास्तें में कोई सवारी न मिली। श्रद्धा थकी जा रही थी। सिर से पाँव तक पसीने से नहाई हई थी! न मालूम कितनी बार वह ठोकर खाकर गिरी और फिर उठकर दौड़ने लगी! उसके घुटनों से रक्त निकल रहा था। साड़ी कई जगह से फट गई थी, मगर उस वक्त अपने तन-बदन की सुध तक न थी। उसका एक-एक रोआँ कंठ हो-होकर ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि उस

प्रातःकाल के दीपक की लौ थोड़ी देर और बची रहे। उसके मुँह से एक बार 'श्रद्धा' का शब्द सुनने के लिए उसकी अन्तरात्मा कितनी व्याकुल हो रही थी। केवल यही एक शब्द सुनकर फिर उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण न रह जाएगी, उसकी सारी आशाएँ सफल हो जाएगी, सारी साध पूर्ण हो जाएगी।

श्रद्धा को देखते ही चौधराइन ने उसका हाथ पकड़ लिया और रोती हुआ बोली — बेटी, तुम कहाँ चली गई थी? दो बार तुम्हारा नाम लेकर पुकार चुके है।

श्रद्धा को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसका कलेजा फटा जा रहा है। उसकी आँखें पत्थर बन गई। उसे ऐसा मालूम होने लगा कि वह अगाध, अथाह समुद्र की भँवर में पड़ गई है। उसने कमरे में जाते ही भगतराम के पैरों पर सिर रख दिया और उसे आँखों के गरम पानी से धोकर गरम करने का उपाय करने लगी। यही उसकी सारी आशाओं और कुछ अरमानों की समाधि थी।

भगतराम ने आँख खोलकर कहा — क्या तुम हो श्रद्धा? मैं जानता था कि तुम आओगी, इसीलिए अभी तक प्राण अवशेष थे। जरा मेरे हृदय पर अपना सिर रख दो। हाँ, मुझे अब विश्वास हो गया कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया, जी डूब रहा है। तुमसे कुछ

माँगना चाहता हूँ, पर किस मुँह से माँगू. जब जीते-जी न माँग सका तो अब क्या है?

हमारी अन्तिम घड़ियाँ किसी अपूर्ण साध को अपने हिय के भीतर छिपाए हुए होती है, मृत्यु पहले हमारी सारी ईर्ष्या, सारा भेदभाव, सारा द्वेष नष्ट करती है। जिनकी सूरत से हमें घृणा होती है, उनसे फिर वही पुराना सौहार्द, पुरानी मैत्री के लिए, उनको गले लगाने के लिए हम उत्सुक हो जाते है। जो कुछ कर सकते थे और न कर सके — उसी की एक साध रह जाती है। भगतराम ने उखड़े हुए विषादपूर्ण स्वर में अपने प्रेम की पुनरावृत्ति श्रद्धा के सामने की। उसी स्वर्गीय निधि को पाकर वह प्रसन्न हो सकता था, उसका उपयोग कर सकता था, किन्तु हाय, आज वह जा रहा है, अपूर्ण साधों की स्मृति लिए हुए! हाय रे, अभागिन साध!

श्रद्धा भगतराम के वक्ष स्थल पर झुकी हुई रो रही थी। भगतराम ने सिर उठाकर उसके मुरझाए हुए, आँसुओं से धोए हुए स्वच्छ कपोलों को चूम लिया, मरती हुई साध की वह अन्तिम हँसी थी।

भगतराम ने अवरूद्ध कंठ से कहा — यह हमारा और तुम्हारा विवाह है श्रद्धा — यह मेरी अन्तिम भेट है।

यह कहते हुए उसकी आँखें हमेशा के लिए बन्द हो गई! साध भी मरकर गिर पड़ी।

श्रद्धा की आँखें रोते-रोते लाल हो रही थी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो भगतराम उसके सामने प्रेमालिंगन का संकेत करते हुए मुस्करा रहे है। वह अपने दशा, काल, स्थान, सब भूल गई। जख्मी सिपाही अपनी जीत का समाचार पाकर अपना दर्द, अपनी पीड़ा भूल जाता है। क्षण भर के लिए मौत भी हेय हो जाती है। श्रद्धा का भी यही हाल हुआ। वह भी अपना जीवन प्रेम की निठुर वेदी पर उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गई, जिस पर लैला और मजनू, शीरी और फरहाद नहीं — हजारों ने अपनी बलि चढ़ा दी।

उसके चुम्बन का उत्तर देते हुए कहा — प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ और सदा तुम्हारी ही रहूँगी।

प्रेम का उदय

भोंदू पसीने में तर, लकड़ी का एक गट्ठा सिर पर लिए आया और उसे जमीन पर पटककर बंटी के सामने खड़ा हो गया, मानो कुछ पूछ रहा हो — क्या अभी तेरा मिजाज ठीक नहीं हुआ?

सन्ध्या हो गई थी, फिर भी लू चलती थी और आकाश पर गर्द छाई हुई थी। प्रकृति, रक्त शून्य देह की भाँति शिथिल हो रही थी।

भोंदू प्रातःकाल घर से निकला था। दोपहरी उसने एक पेड़ की छाँह में काटी थी। समझा था — इस तपस्या से देवीजी का मुँह सीधा हो जाएगा, लेकिन आकर देखा तो वह अब भी कोप भवन में थी।

भोंदू ने बातचीत छेड़ने के इरादे से कहा — लो, एक लोटा पानी दे दो, बड़ी प्यास लगी हैं, मर गया सारे दिन, बाजार जाऊँगा तो तीन आने से बेसी न मिलेंगे, दो-चार सांडे मिल जाते, तो मेहनत सुफल हो जाती।

बंटी ने सिरकी के अन्दर बैठे-बैठे कहा — धरम भी लूटोगे और पैसे भी, मुँह धो रखो।

भोंदू ने भँवे सिकोड़कर कहा — क्या धरम-धरम बकती हैं! धरम करना हँसी-खेल नहीं हैं, धरम वह करता हैं, जिसे भगवान ने माना हो, हम क्या खाकर धरम करें, भर-पेट चबेना तो मिलता नहीं, धरम करेंगे।

बंटी ने अपना वार ओछा पड़ता देखकर चोट पर चोट की — संसार में कुछ ऐसे महात्मा हैं, जो अपना पेट चाहे न भर सकें, पर पड़ोसियों को नेवता देते फिरते हैं, नहीं तो सारे दिन बन-बन लकड़ी न तोड़ते-फिरते, ऐसे धरमात्मा लोगों को मेहरिया रखने की क्यों सूझती हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता, धरम की गाड़ी क्या अकेले नहीं खींचती बनती?

भोंदू इस चोट से तिलमिला गया। उसकी जिहरदार नसें तन गई, माथे पर बल पड़ गए। इस अबला का मुँह वह एक डपट में बन्द कर सकता था, पर डाँट-डपट उसने न सीखी थी। जिसके पराक्रम की सारे कंजड़ों में धूम थी, जो अकेला सौ-पचास जवानों का नशा उतार सकता था, वह इस अबला के सामने चूँ तक न कर सका।

भोंदू दबी जबान में बोला — मेहरिया धरम बेचने के लिए नहीं लाई जाती, धरम पालने के लिए लाई जाती हैं।

यह कंजड़-दंपती आज तीन दिन से और कई कंजड़ परिवारों के साथ इस बाग में उतरा हुआ था। सारे बाग में सिरकियाँ-ही-सिरकियाँ दिखाई देती थी। उसी तीन हाथ चौड़ी और चार हाथ लम्बी सिरकी के अन्दर एक-एक पूरा परिवार जीवन के समस्त व्यापारों के साथ कल्पवास-सा कर रहा था। एक किनारे चक्की थी, एक किनारे रसोई का स्थान, एक किनारे दो-एक अनाज के मटके। द्वार पर एक छोटी-सी खटोली बालकों के लिए पड़ी थी। हरेक परिवार के साथ दो-दो भैंसे या गधे थे। जब डेरा कूच होता था तो सारी गृहस्थी इन जानवरों पर लाद दी जाती थी। यह इन कजड़ों का जीवन था। सारी बस्ती एक साथ चलती थी। आपस में ही शादी-ब्याह, लेने-देने, झगड़े-टंटे होते रहते थे, इस दुनिया के बाहर वाला अखिल संसार उनके लिए केवल शिकार का मैदान था। उनके किसी इलाके में पहुँचते ही वहाँ की पुलिस तुरन्त आकर अपनी निगरानी में ले लेती थी। पड़ाव के चारों तरफ चौकीदार का पहरा हो जाता था। स्त्री या पुरुष किसी गाँव में जाते तो दो-चार चौकीदार उनके साथ हो लेते थे। रात को भी उनकी हाजिरी ली जाती थी। फिर भी आस-पास के गाँव में आतंक छाया हुआ था। कंजड़ लोग बहुधा घरों में

घुसकर जो चीज चाहते, उठा लेते, उनके हाथ में जाकर कोई चीज लौट न सकती थी, रात में ये लोग अकसर चोरी करने निकल जाते थे। चौकीदारों को उनसे मिले रहने में ही अपनी कुशल दीखती थी, कुछ हाथ में लगता था और जान भी बची रहती थी, सख्ती करने में प्राणों का भय था, कुछ मिलने का तो जिक्र ही क्या क्योंकि कंजड़ लोग एक सीमा के बाहर किसी का दबाव न मानते थे। बस्ती में अकेला भोंदू अपनी मेहनत की कमाई खाता था, उसकी स्वतंत्र आत्मा अपने बाहुबल से प्राप्त किसी वस्तु का हिस्सा देना स्वीकार न करती थी इसलिए वह यह नौबत आने न देता था।

बंटी को पति की यह आचार-निष्ठा एक आँख न भाती थी, उसकी और बहनें नई-नई साड़ियाँ और नए-नए आभूषण पहनती तो बंटी उन्हें देख-देखकर पति की अकर्मण्यता पर कुढ़ती थी। इस विषय पर दोनों में कितने ही संग्राम हो चुके थे लेकिन भोंदू अपना परलोक बिगाड़ने पर राजी न होता था। आज भी प्रातःकाल यही समस्या आ खड़ी हुई थी और भोंदू लकड़ी काटने जंगलों में निकल गया था, सांड़े मिल जाते, तो आँसू पुँछते पर आज सांड़े भी न मिले।

बंटी ने कहा — जिनसे कुछ नही हो सकता, वही धरमात्मा बन जाते हैं, राँड़ अपने माँड़ ही में खुश हैं।

भोंदू ने पूछा — तो मैं निखट्टू हूँ?

बंटी ने इस प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर न देकर कहा — मैं क्या जानूँ, तुम क्या हो? मैं तो यही जानती हूँ कि यहाँ धेले-धेले की चीज के लिए तरसना पड़ता हैं, यहीं सबको पहनते-ओढ़ते, हँसते-खेलते देखती हूँ, क्या मुझे पहनने-ओढ़ने, हँसने-खेलने की साध नहीं हैं? तुम्हारे पल्ले पड़कर जिन्दगानी नष्ट हो गई हैं।

भोंदू नें एक क्षण विचार-मग्न रहकर कहा — जानती हैं, पकड़ा जाऊँगा तो तीन साल से कम की सजा न होगी।

बंटी विचलित न होकर बोली — जब और लोग नहीं पकड़े जाते, तो तुम्हीं पकड़े जाओगे?

'और लोग पुलिस को मिला लेते हैं, थानेदार के पाँव सहलाते हैं, चौकीदार की खुशामद करते हैं, तू चाहती हैं, मैं भी औरों की तरह सबकी चिरौरी करता फिरूँ?'

बंटी ने अपनी हठ न छोड़ा — मैं तुम्हारे साथ सती होने नहीं आई, फिर तुम्हारे छुरे-गँड़ासे से कोई कहाँ तक डरे, जानवर को भी जब घास-भूसा नहीं मिलता, तो पगहा तुड़ाकर किसी के खेत में पैठ जाता हैं, मैं तो आदमी हूँ।

भोंदू ने इसका कुछ जवाब न दिया, उसकी स्त्री कोई दूसरा घर कर ले, यह कल्पना उसके लिए अपमान से भरी थी, आज बंटी ने पहली बार यह धमकी दी, अब तक भोंदू इस तरफ से निश्चिंत था, अब यह नई सम्भावना उसके सम्मुख उपस्थित हुई, उस दुर्दिन को वह अपना काबू चलते अपने पास न आने देगा। आज भोंदू की दृष्टि में वह इज्जत नहीं रही, वह भरोसा नहीं रहा, मजबूत दीवार को टिकौने की जरूरत नहीं, जब दीवार हिलने लगती हैं, तब हमें उसको सम्भालने की चिन्ता होती हैं, आज भोंदू को अपनी दीवार हिलती मालूम होती थी।

आज तक बंटी अपनी थी, वह जितना अपनी ओर से निश्चिंत था, उतना ही उसकी ओर से भी था। वह जिस तरह खुद रहता था, उसी तरह उसको भी रखता था, जो खुद खाता था, वहीं उसको भी खिलाता था, उसके लिए कोई विशेष फ्रिक न थी पर आज उसे मालूम हुआ कि वह अपनी नहीं हैं, अब उसका विशेष रूप से सत्कार करना होगा, विशेष रूप से दिलजोई करनी होगी।

सूर्यास्त हो गया, उसने देखा, उसका गधा चरकर चुपचाप सिर झुकाए चला आ रहा हैं, भोंदू ने कभी उसके खाने-पीने की चिन्ता न की थी क्योंकि गधा किसी और को अपना स्वामी बनाने की धमकी न दे सकता था। भोंदू ने बाहर आकर आज गधे को

पुचकारा, उसकी पीठ सहलाई और तुरन्त उसे पानी पिलाने के लिए डोल और रस्सी लेकर चल दिया।

2

इसके दूसरे ही दिन कस्बे में एक धनी ठाकुर के घर चोरी हो गई, उस रात को भोंदू अपने डेरे पर न था। बंटी ने चौकीदार से कहा — वह जंगल से नहीं लौटा। प्रातःकाल भोंदू आ पहुँचा, उसकी कमर में रुपयों की एक थैली थी, कुछ सोने के गहने भी थे। बंटी ने तुरन्त गहनों को ले जाकर एक वृक्ष की जड़ में गाड़ दिया, रुपयों की क्या पहचान हो सकती थी।

भोंदू ने पूछा — अगर कोई पूछे, इतने रुपये कहाँ मिले, तो क्या कहोगी?

बंटी ने आँखें नचाकर कहा — कह दूँगी, क्यों बताऊँ? दुनिया कमाती हैं, तो किसी के हिसाब देने जाती हैं? हमीं क्यों अपना हिसाब दे?

भोंदू ने संदिग्ध भाव से गर्दन हिलाकर कहा — यह कहने से गला न छूटेगा, बंटी, तू कह देना, मैं तीन-चार मास से दो-दो, चार-

चार रुपए महीना जमा करती आई हूँ, हमारा खरच ही कौन बड़ा लम्बा हैं।

दोनों ने मिलकर बहुत से जवाब सोच निकाले — जड़ी-बूटियाँ बेचते हैं, एक-एक जड़ी के लिए मुट्ठी-भर रुपए मिल जाते हो, खस, सांड़े, जानवरों की खालें, नख और चर्बी, सभी बेचते हैं।

इस ओर से निश्चिंत होकर दोनो बाजार चले। बंटी ने अपने लिए तरह-तरह के कपड़े, चूड़ियाँ, टिकुलियाँ, बुन्दे, सेंदुर, पान-तमाखू, तेल और मिठाई ली। फिर दोनो जने शराब की दुकान पर गए। खूब शराब पी, फिर दो बोतल शराब रात के लिए लेकर दोनों घूमते-घामते, गाते-बजाते घड़ी रात गए डेरे पर लौटे। बंटी के पाँव आज जमीन पर न पड़ते थे। आते ही बन-ठनकर पड़ोसियों को अपनी छवि दिखाने लगी। जब वह लौटकर अपने घर आई और भोजन पकाने लगी, तब पड़ोसियों ने टिप्पणियाँ करनी शुरू कीं — कहीं गहरा हाथ मारा हैं।

'बड़ा धरमात्मा बना फिरता था।'

'बगला भगत हैं'

'बंटी तो आज जैसे हवा में उड़ रही हैं।'

'आज भोंदुआ की खातिर हो रही हैं, नहीं तो कभी एक लुटिया पानी देने भी न उठती थी।'

रात को भोंदू को देवी की याद आई, नहीं तो कभी एक लुटिया पानी देने पर बकरे का बलिदान न किया था, पुलिस को मिलाने में ज्यादा खर्च था, कुछ आत्म-सम्मान भी खोना पड़ता, देवीजी केवल एक बकरे में राजी हो जाती है। हाँ, उससे एक गलती जरूर हुई थी, उसकी बिरादरी के और लोग साधारणतया कार्यसिद्धि के पहले ही बलिदान दिया करते थे। भोंदू ने यह खतरा न लिया, जब तक माल हाथ न आ जाए, उसके भरोसे पर देवी-देवताओं को खिलाना उसकी व्यावसायिक बुद्धि को न जँचा। औरों से अपने कृत्य को गुप्त रखना भी चाहता था। इसलिए किसी को सूचना भी न दी, यहाँ तक कि बंटी से भी न कहा। बंटी तो भोजन बना रही थी, वह बकरे की तलाश में घर से निकल पड़ा।

बंटी ने पूछा — 'अब भोजन करने के जून कहाँ चले?'

'अभी आता हूँ।'

'मत जाओ, मुझे डर लगता है।'

भोंदू स्नेह के नवीन प्रकाश से खिलकर बोला — 'मुझे देर न लगेगी, तू यह गँड़ासा अपने पास रख ले।'

उसने गँड़ासा निकालकर बंटी के पास रख दिया और निकला, बकरे की समस्या बेढब थी, रात को बकरा कहाँ से लाता? इस समस्या को भी उसने एक नए ढंग से हल किया। पास की बस्ती में एक गड़रिए के पास कई बकरे पले थे। उसने सोचा, वहीं से एक बकरा उठा लाऊँ, देवीजी को अपने बलिदान से मतलब है, या इससे कि बकरा कैसे आया और कहाँ से आया।

मगर बस्ती के समीप पहुँचा ही था कि पुलिस के चार चौकीदारों ने उसे गिरफ्तार कर लिया और मुश्कें बाँधकर थाने लें चले।

3

बंटी भोजन पकाकर अपना बनाव-सिंगार करने लगी, आज उसे अपना जीवन सफल जान पड़ता था। आनन्द से खिली जाती थी। आज जीवन में पहली बार उसके सिर में सुगंधित तेल पड़ा था। आईना उसके पास एक अंधा-सा पड़ा हुआ था। आज वह नया आईना लाई थी। उसके सामने बैठकर उसने अपने केश सँवारे, मुँह पर उबटन मला, साबुन लाना भूल गई थी, साहब लोग साबुन लगाने से ही तो इतने गोरे हो जाते है। साबुन होता, तो उसका रंग कुछ तो निखर जाता। कल वह अवश्य साबुन की

कई बटियाँ लाएगी और रोज लगाएगी, केश गूँथकर उसने माथे पर अलसी का लुआब लगाया, जिसमें बाल और न बिखरने पाए। फिर पान लगाया, चूना ज्यादा हो गया था, गलफड़ों में छाले पड़ गए लेकिन उसने समझा शायद पान खाने का यही मजा है। आखिर कड़वी मिर्च भी तो लोग मजे से खाते है। गुलाबी साड़ी पहन और फूलों का गजरा गले में डालकर उसने आईने में अपनी सूरत देखी, तो उसके आबनूसी रंग पर लाली दौड़ गई, आप ही आप लज्जा से उसकी आँखें झुक गई। दरिद्रता की आग से नारीत्व भी भस्म हो जाता है, नारीत्व की लज्जा का क्या जिक्र, मैले-कुचैले कपड़े पहनकर लजाना ऐसा ही है, जैसे कोई चबैने में सुगन्ध लगाकर खाए।

इस तरह सजकर बंटी भोंदू की राह देखने लगी। जब अब भी वह न आया, तो उसका जी झुँझलाने लगा, रोज तो साँझ ही से द्वार पर पड़ रहते थे, आज न-जाने कहाँ जाकर बैठे रहे, शिकारी अपनी बन्दूक भर लेने बाद इसके सिवा और क्या चाहता है कि शिकार सामने आए। बंटी के सूखे हृदय में आज पानी पड़ते ही उसका नारीत्व अंकुरित हो गया, झुंझलाहट के साथ उसे चिंता भी होने लगी, उसने बाहर निकालकर कई बार पुकारा। उसके कंठस्वर में इतना अनुराग कभी न था, उसे कई बार भान हुआ कि भोंदू आ रहा है। वह हर बार सिरकी के अन्दर दौड़ आई

और आईने में सूरत देखी कि कुछ बिगड़ न गया हो, ऐसी धड़कन, ऐसी उलझन, उसकी अनुभूति से बाहर थी।

बंटी सारी रात भोंदू के इंतजार में उद्विग्न रही, ज्यों-ज्यों रात बीतती थी, उसकी शंका तीव्र होती जाती थी, आज ही उसके वास्तविक जीवन का आरम्भ हुआ था, और आज ही यह हाल।

प्रातःकाल वह उठी, तो अभी अँधेरा ही था, इस रतजगे से उसका चित्त खिन्न और सारी देह अलसाई हुई थी, रह-रहकर भीतर से लहर भी उठती थी, आँखें भर-भर आती थी।

सहसा किसी ने कहा — 'अरे बंटी, भोंदू रात पकड़ा गया।'

4

बंटी थाने पहुँची तो पसीने में तर थी और दम फूल रहा था। उसे भोंदू पर दया न थी, क्रोध आ रहा था। सारा जमाना यही काम करता है और चैन की बंसी बजाता है। उन्होंने कहते-कहते हाथ भी लगाया, तो चूक गए। नहीं सहूर था तो साफ कह देते, मुझसे यह काम न होगा, मैं यह थोड़े ही कहती थी कि आग में फाँद पड़ो।

उसे देखते ही थानेदार ने धौंस जमाई — 'यही तो है भोंदुआ की औरत, इसे भी पकड़ लो।'

बंटी ने हेकड़ी जताई — 'हाँ-हाँ, पकड़ लो, यहाँ किसी से नहीं डरते, जब कोई काम ही नहीं करते, तो डरें क्यों।' अफसर और मातहत सभी की अनुरक्त आँखें बंटी की ओर उठने लगी, भोंदू की तरफ से दिल कुछ नर्म हो गए, उसे धूप से छाँह में बैठा दिया गया, उसके दोनों हाथ पीछे बँधे हुए थे और धूल-धूसरित काली देह पर भी जूतों और कोड़ों की रक्तमय मार साफ नजर आ रही थी। उसने एक बार बंटी की ओर देखा, मानो कह रहा था — 'देखना, कहीं इन लोगों के धोखे में न आ जाना।'

थानेदार ने डाँट बताई — 'जरा इसकी दीदा-दिलेरी देखो, जैसे देवी ही तो है मगर इस फेर में न रहना, यहाँ तुम लोगों की नस-नस पहचानता हूँ, इतने कोड़े लगाऊँगा कि चमड़ी उड़ जाएगी, नहीं तो सीधे से कबूल दो, सारा माल लौटा दो, इसी में खैरियत है।'

भोंदू ने कहा — 'क्या कबूल है, जो देश को लूटते है, उनसे तो कोई नहीं बोलता, जो बेचारे अपनी गाढ़ी कमाई की रोटी खाते है, उनका गला काटने को पुलिस भी तैयार रहती है। हमारे पास किसी को नजर-भेंट देने के लिए पैसे नहीं है।'

थानेदार ने कठोर स्वर में कहा — 'हाँ-हाँ, जो कुछ कोर-कसर रह गई हो, वह पूरी कर दे, किरकिरी न होने पाए मगर इन बैठकबाजियों से बच नहीं सकते। अगर एकबाल न किया, तो तीन साल को जाओगे, मेरा क्या बिगड़ता है। अरे छोटेसिंह, जरा लाल मिर्च की धूनी तो दो इसे। कोठरी बन्द करके पसेरी-भर मिरचे सुलगा दो, अभी माल बरामद हुआ जाता है।'

भोंदू ने ढिठाई से कहा — 'दारोगाजी, बोटी काट डालो, लेकिन कुछ हाथ न लगेगा, तुमने मुझे रात-भर पिटवाया है, मेरी एक-एक हड्डी चूर-चूर हो गई है, कोई दूसरा होता तो अब तक सिधार गया होता। तुम क्या समझते हो, आदमी को रुपए-पैसे जान से प्यारे होते है? जान ही के लिए तो आदमी सब तरह के कुकर्म करता है, धूनी सुलगाकर भी देख लो।'

दारोगाजी को अब विश्वास आया कि इस फौलाद को झुकाना मुश्किल है, भोंदू की मुखाकृति से शहीदों का-सा आत्म-समर्पण झलक रहा था। यद्यपि उनके हुक्म की तामील होने लगी, कांस्टेबल ने भोंदू को एक कोठरी में बन्द कर दिया। दो आदमी मिरचे लाने दौड़े लेकिन दारोगा की युद्ध-नीति बदल गई थी। बंटी का हृदय क्षोभ से फटा जाता था। वह जानती थी, चोरी करके एकबाल कर लेना कंजड़ जाति की नीति में महान लज्जा की बात है लेकिन क्या यह सचमुच मिर्च की धूना सुलगा देंगे?

इतना कठोर है इनका हृदय? सालन बधारने में कभी मिर्च जल जाती है, तो छींकों और खाँसियों के मारे दम निकलने लगता है, जब नाक के पास धूनी सुलगाई जाएँगे। जब नाक के पास धूनी सुलगाई जायगी, तब तो प्राण ही निकल जाएँगे।

उसने जान पर खेलकर कहा — 'दारोगाजी, तुम समझते होंगे कि इन गरीबों की पीठ पर कोई नहीं है लेकिन मैं कहे देती हूँ, हाकिम से रत्ती-रत्ती हाल कह दूँगी, भला चाहते हो तो उसे छोड़ दो, नहीं तो इसका हाल बुरा होगा।'

थानेदार ने मुस्कराकर कहा — 'तुझे क्या, वह मर जाएगा, किसी और के नीचे बैठ जाना। जो कुछ जमा-जथा लाया होगा, वह तो तेरे ही हाथ में होगी। क्यों नहीं एकबाल करके उसे छुड़ा लेती। मैं वादा करता हूँ, मुकदमा न चलाऊँगा। सब माल लौटा दे। तूने ही उसे मंत्र दिया होगा, गुलाबी साड़ी, पान और खुशबूदार तेल के लिए तू ललचा रही होगी, उसकी इतनी साँसत हो रही है और तू खड़ी देख रही है।'

शायद बंटी की अन्तरात्मा को यह विश्वास न था कि ये लोग इतने अमानुषीय अत्याचार कर सकते है लेकिन जब सचमुच धूनी सुलगा दी गई, मिर्च की तीखी जहरीली झार फैली और भोंदू के खाँसने की आवाजें कानों में आई, तो उसकी आत्मा कातर हो

उठी। उसका वह दुस्साहस झूठे रंग की भाँति उड़ गया। उसने दारोगाजी के पाँव पकड़ लिए और दीन भाव से बोली — 'मालिक, मुझ पर दया करो, मैं सब कुछ दे दूँगी।'

धूनी उसी वक्त हटा ली गई।

5

भोंदू ने सशंक होकर पूछा — 'धूनी क्यों हटाते हो?'

एक चौकीदार ने कहा — 'तेरी औरत ने एक़बाल कर लिया।'

भोंदू की नाक, आँख और मुँह से पानी जारी था, सिर चक्कर खा रहा था, गले की आवाज बन्द-सी हो गई थी, पर वह वाक्य सुनते ही वह सचेत हो गया, उसकी दोनों मुट्ठियाँ बँध गई फिर बोला — 'क्या कहा?'

'क्या कहा, चोरी खुल गई दारोगाजी माल बरामद करने गए हुए है। पहले की एकबाल कर लिया होता, तो क्यों इतनी साँसत होती?'

भोंदू ने गजरकर कहा — 'वह झूठ बोलती है।'

'वहाँ माल बरामद हो गया, तुम अभी अपनी ही गा रहे हो।'

परम्परा की मर्यादा को अपने हाथों भंग होने की लज्जा से भोंदू का मस्तक झुक गया। इस घोर अपमान के बाद उसे अपनी जीवन दया, घृणा और तिरस्कार इन सभी दशाओं से निखिद जान पड़ता था। वह अपने समाज में पतित हो गया था।

सहसा बंटी आकर खड़ी हो गई और कुछ कहना ही चाहती थी कि भोंदू की रौद्रमुद्रा देखकर उसकी जबान बन्द हो गई, उसे देखते ही भोंदू की आहत मर्यादा किसी आहत सर्प की भाँति तड़प उठी, उसने बंटी को अंगारों-सी तपती हुई लाल आँखों से देखा, उन आँखों में हिंसा की आग जल रही थी। बंटी सिर से पाँव तक काँप उठी। वह उलटे पाँव वहाँ से भागी। किसी देवता के अग्निबाण के समान वे दोनों अंगारों-सी आँखें उसके हृदय में चुभने लगी।

थाने से निकलकर बंटी ने सोचा, अब कहाँ जाऊँ। भोंदू उसके साथ होता तो वह पड़ोसियों के तिरस्कार को सह लेती, इस दशा में उसके लिए अपने घर जाना असम्भव था। वे दोनों अंगारों-सी आँखें उसके हृदय में चुभी जाती थीं लेकिन कल की सौभाग्य-विभूतियों का मोह उसे डेरे की ओर खींचने लगा। शराब की बोतल अभी भी भरी धरी थी, फुलौड़ियाँ छींके पर हाड़ी में धरी थी। वह तीव्र लालसा, जो मृत्यु को सम्मुख देखकर भी संसार के

भोग्य पदार्थों की ओर मन को चलायमान कर देती है, उसे खींचकर डेरे की ओर ले चली।

दोपहर हो गई थी, वह पहाड़ पर पहुँची, तो सन्नाटा छाया हुआ था। अभी कुछ देर पहले ही जो स्थान जीवन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ था, बिल्कुल निर्जन हो गया था। बिरादरीवालों के तिरस्कार का सबसे भयंकर रूप था। सभी ने उसे त्याज्य समझ लिया, केवल उसकी सिरकी उस निर्जनता में रोती हुई खड़ी थी। बंटी ने उसके अन्दर पाँव रखे, तो उसके मन की कुछ वही दशा हुई, जो अकेला घर देखकर किसी चोर की होती है। कौन-कौन सी चीज समेटे, उस कुटी में उसने रो-रोकर पाँच वर्ष काटे थे पर आज उसे उससे ममता हो रही थी, जो किसी माता को अपने दुर्गुणी पुत्र को देखकर होती है, जो बरसों के बाद परदेश से लौटा हो। हवा से कुछ चीजें इधर-उधर हो गई थी। उसने तुरन्त उन्हें सम्भाल कर रखा। फुलौड़ियों की हांड़ी छींके पर कुछ ठंड़ी हो गई थी। शायद उसपर बिल्ली झपटी थी, उसने जल्दी से हाँड़ी उतारकर देखी। फुलौड़ियाँ अछूती थी। पानी पर जो गीला कपड़ा लपेटा था, वह सूख गया था। उसने तुरन्त कपड़ा तर कर दिया।

किसी के पाँव की आहट पाकर उसका कलेजा धक-से रह गया। भोंदू आ रहा है। उसकी वह दोनों अंगारों-सी आँखें! उसके रोएँ

खड़े हो गए। भोंदू के क्रोध का उसे एक-दो बार अनुभव हो चुका था। लेकिन उसने दिल को मजबूत किया। क्यों मारेगा? कुछ कहेगा, कुछ पूछेगा, कुछ सवाल-जवाब करेगा कि यों ही गँडासा चला देगा। उसने उसके साथ कोई बुराई नहीं की, आफत से उसकी जान बचाई है। मरजाद जान से प्यारी नहीं होती। भोंदू को होगी, उसे नहीं है। क्या इतनी सी बात के लिए वह उसकी जान ले लेगा।

उसने सिरकी के द्वार से झाँका, भोंदू न था। केवल उसका गधा चला आ रहा था।

बंटी आज उस अभागे-से गधे को देखकर ऐसा प्रसन्न हुई, मानो अपना भाई नैहर से बतासों की पोटली लिए थका-माँदा चला आता हो। उसने जाकर उसकी गर्दन सहलाई और उसके थूथन को मुँह से लगा लिया। वह उसे फूटी आँखों न भाता था पर आज उसने उसे कितनी आत्मीयता हो गई थी। वह दोनों अंगारे-सी आँखें उसे घूर रही थी, वह सिहर उठी।

उसने फिर सोचा — 'क्या किसी तरह न छोड़ेगा? वह रोती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ेगी, क्या तब भी न छोड़ेगा? इन आँखों की वह कितनी सराहना किया करता था, इनमें आँसू बहते देखकर भी उसे दया न आएगी?'

बंटी ने चुक्कड में शराब उँडेलकर पी ली और छींके से फुलौड़ियाँ उतारकर खाई, जब उसे मरना ही है, तो साध क्यों रह जाए। वह अंगारें-सी आँखें उसके सामने चमक रही थीं। दूसरा चुक्कड़ भरा और पी गई। जहरीला ठर्रा, जिसे दोपहर की गर्मी ने और भी घातक बना दिया था, देखते-देखते उसके मस्तिष्क को खौलने लगा। बोतल आधी हो गई थी।

उसने सोचा — भोंदू कहेगा, तूने इतनी दारू क्यों पी, तो वह क्या कहेगी। कह देगी — हाँ पी, क्यों न पीए। इसी के लिए तो वह सब कुछ हुआ। वह एक बूंद भी न छोड़ेगी। जो होना हो, हो। भोंदू उसे मार नहीं सकता, इतना निर्दयी नहीं है, इतना कायर नहीं है। उसने फिर चुक्कड़ भरा और पी गई। पाँच वर्ष के वैवाहिक जीवन की अतीत स्मृतियाँ उसकी आँखों के सामने खिंच गई। सैकड़ों ही बार दोनों में गृह-युद्ध हुए थे। आज बंटी को हर बार अपनी ज्यादती मालूम हो रही थी। बेचारा जो कुछ कमाता है. उसी के हाथ पर रख देता है। अपने लिए कभी एक पैसे की तम्बाकू भी लेता, तो पैसा उसी से माँगता है। भोर से साँझ तक वन-वन फिरा करता है! जो काम उससे नहीं होता, वह कैसे करे।

अचानक एक कांस्टेबल ने आकर कहा — 'अरी बंटी कहाँ है? चल देख, भोंदूआ का हाल-बे-हाल हो रहा है। अभी तक तो चुपचाप बैठा था, फिर न जाने क्या जी में आया कि एक पत्थर

पर अपना सिर पटक दिया। लहू बह रहा है। अगर हम लोग दौड़कर पकड़ न लेते, तो जान ही दे दी थी।'

एक महीना बीत गया था। संध्या का समय था। काली-काली घटाएँ छाई थीं और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। भोंदू की सिरकी अब भी निर्जन स्थान पर खड़ी थी। भोंदू खटोली पर पड़ी हुआ था। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और देह जैसे सूख गई थी। वह सशंक आँखों से वर्षा की ओर देखता है। चाहता है उठकर बाहर देखूँ, पर उठा नहीं जाता।

बंटी सिर पर घास का एक बोझ लिए पानी में लथपथ आती दिखलाई दी। वही गुलाबी साड़ी है पर तार-तार, किन्तु चेहरा प्रसन्न है। विषाद और ग्लानि के बदले आँखों से अनुराग टपक रहा है, गति में वह चपलता, अंगों में सजीवता है, जो चित्त की शान्ति का चिह्न है। भोंदू ने क्षीण स्वर से कहा — 'तू इतना भीग रही है, कहीं बीमार पड़ गई, तो कोई एक घूंट पानी देनेवाला भी न रहेगा। मैं कहता हूँ, तू क्यों इतना मरती है, दो गट्ठे तो बेच चुकी थी, तीसरा गट्ठा लाने का काम क्या था, यह हाँड़ी में क्या लाई है?'

बंटी ने हाँड़ी को छिपाते हुए कहा — 'कुछ भी तो नहीं, कैसी हाँड़ी?'

भोंदू ने जोर लगाकर खटोली से उठा, आँचल के नीचे छिपी हुई हाँड़ी खोल दी और उसके भीतर नजर डालकर बोला — 'अभी लौटा, नहीं तो मैं हाँड़ी फोड़ दूँगा।'

बंटी ने खटोली पर लेटते हुए कहा — 'जरा आईने में सूरत देखो, घी-दूध कुछ न मिलेगा, तो कैसे उठोगे? कि सदा खाट पर सोने का विचार है?'

भोंदू ने खटोली पर लेटते हुए कहा — 'अपने लिए तो एक साड़ी नहीं लाई, कितना कहके हार गया, मेरे लिए घी और दूध सब चाहिए! मैं घी न खाऊँगा।'

बंटी ने मुस्कराकर कहा — 'इसलिए तो घी खिलती हूँ कि तुम जल्दी से काम-धंधा करने लगो और मेरे लिए साड़ी लाओ।'

भोंदू ने मुस्कराकर कहा — 'तो आज जाकर कहीं सेंध मारूँ?'

बंटी ने गाल पर एक ठोकर देकर कहा — 'पहले मेरा गला काट देना, तब जाना।'

सती

मुलिया को देखते हुए उसका पति कल्लू कुछ भी नहीं हैं, फिर क्या कारण हैं कि मुलिया सन्तुष्ट और प्रसन्न हैं और कल्लू चिन्तित और सशंकित?

मुलिया को कौड़ी मिली हैं, उसे दूसरा कौन पूछेगा? कल्लू को रत न मिला हैं, उसके सैंकड़ों ग्राहक हो सकते हैं, खासकर उसे अपने चचेरे भाई राजा से बहुत खटका रहता हैं, राजा रूपवान हैं, रसिक हैं, बातचीत में कुशल, स्त्रियों को रिझाना जानता हैं, इससे कल्लू मुलिया को बाहर नहीं निकलने देता। उस पर किसी की निगाह भी पड़ जाए, यह उसे असह्य हैं, वह अब रात-दिन मेहनत करता हैं, जिससे मुलिया को किसी बात का कष्ट न हो। उसे न जाने किस पूर्व-जन्म के संस्कार से ऐसी स्त्री मिल गई हैं, उस पर प्राणों को न्योछावर कर देना चाहता हैं। मुलिया का कभी सिर भी दुखता हैं, तो उसकी जान निकल जाती हैं। मुलिया का भी यह हाल हैं कि जब तक वह घर नहीं आता, मछली की भाँति तड़पती रहती हैं। गाँव में कितने ही युवक हैं, जो मुलिया से

छेड़छाड़ करते रहते हैं, पर उस युवती की दृष्टि में कुरूप कलुआ संसार-भर के आदमियों से अच्छा हैं।

एक दिन राजा ने कहा — भाभी, भैया तुम्हारे जोग न थे।

मुलिया बोली — भाग में तो वह लिखे थे, तुम कैसे मिलते?

राजा ने मन में समझा, बस मार लिया हैं फिर बोला — विधि ने यही तो भूल की।

मुलिया मुस्कराकर बोली — अपनी भूल तो वही सुधारेगा। राजा निहाल हो गया।

2

तीज के तीन कल्लू मुलिया के लिए लट्ठे की साड़ी लाया, चाहता तो था कोई अच्छी साड़ी ले पर रुपए न थे और बजाज ने उधार न माना।

राजा भी उसी दिन अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहता था, एक सुन्दर चुन्दरी लाकर मुलिया को भेंट की।

मुलिया ने कहा — मेरे लिए साड़ी आ गई हैं।

राजा बोला — मैंने देखी हैं, तभी तो लाया हूँ, तुम्हारे लायक नहीं हैं, भैया को किफायत भी सूझती हैं, तो ऐसी बातों में।

मुलिया कटाक्ष करके बोली — तुम समझा क्यों नहीं देते?

राजा पर एक कुल्हड़ का नशा चढ़ गया उसने कहा — बूढ़ा तोता नहीं पढ़ती हैं।

मुलिया ने कहा — मुझे तो लट्ठे की साड़ी पसन्द हैं।

राजा ने कहा — जरा यह चुन्दरी पहनकर देखो, कैसी खिलती हैं।

मुलिया ने कहा — जो लट्ठा पहनकर खुश होता हैं, वह चुन्दरी पहन लेने से खुश न होगा, उन्हें चुन्दरी पसन्द होती, तो चुन्दरी ही लाते।

राजा ने कहा — उन्हें दिखाने का काम नहीं हैं?

मुलिया विस्मय से बोली — मैं क्या उनसे बिना पूछे ले लूँगी?

राजा ने कहा — इसमें पूछने की कौन-सी बात हैं, जब वह काम पर चला जाए, पहन लेना, मैं भी देख लूँगा।

मुलिया ठट्ठा मारकर हँसती हुआ बोली — यह न होगा देवरजी। कहीं देख लें, तो मेरी सामत ही आ जाए, इसे तुम लिए जाओ।

राजा ने आग्रह करके कहा — इसे न लोगी, भाभी, तो मैं जहर खाके सो रहूँगा।

मुलिया ने साड़ी उठाकर आले पर रख दी और बोली — अच्छा लो, अब तो खुश हुए।

राजा ने उँगली पकड़ी — अभी तो भैया नहीं हैं, जरा पहन लो।

मुलिया ने अन्दर जाकर चुन्दरी पहन ली और फूल की तरह महकती-दमकती बाहर आई।

राजा ने पहुँचकर पकड़ने को हाथ फैलाया, बोला — ऐसा जी चाहता हैं कि तुम्हें लेकर भाग जाऊँ।

मुलिया उसी विनोद-भाव से बोली — जानते हो, तुम्हारे भैया का क्या हाल होगा?

यह कहते हुए उसने किवाड़ बन्द कर लिए, राजा को ऐसा मालूम हुआ कि थाली परोसकर उसके सामने से उठा ली गई।

3

मुलिया का मन बार-बार करता था कि चुन्दरी कल्लू को दिखा दे, पर नतीजा सोचकर रह जाती थी, उसने चुन्दरी रख क्यों ली?

उसे अपने पर क्रोध आ रहा था लेकिन राजा को कितना दुःख होता, क्या हुआ उसकी चुन्दरी छन-भर पहन लेने से, उसका मन तो रह गया।

लेकिन उसके प्रशान्त मानस-सागर में यह एक कीट आकर उसे मथ रहा था, उसने क्यों चुन्दरी रख ली? क्या यह कल्लू के साथ विश्वासघात नहीं हैं? उसका चित्त इस विचार से विकल हो गया। उसने मन को समझाया, विश्वासघात क्यों हुआ, इसमें विश्वासघात की क्या बात हैं, कौन वह राजा से कुछ बोली? जरा-सा हँस देने से अगर किसी का दिल खुश हो जाता हैं, तो इसमें बुराई क्या हैं?

कल्लू ने पूछा — आज रज्जू क्या करने आया था?

मुलिया की देह थर-थर काँपने लगी, बहाना कर गई — तमाखू माँगने आए थे।

कल्लू ने भँवें सिकोड़कर कहा — उसे अन्दर मत आने दिया करो, अच्छा आदमी नहीं हैं।

मुलिया ने कहा — मैंने कह दिया तमाखू नहीं हैं, तो चले गए।

कल्लू ने अबकी तेजस्विता के साथ कहा — क्यों झूठ बोलती हैं? वह तमाखू माँगने नहीं आया था।

मुलिया ने कहा — तो और यहाँ क्या करने आते?

कल्लू ने कहा — चाहे जिस काम से आया हो, तमाखू माँगने नहीं आया। वह जानता था, मेरे घर में तमाखू नहीं हैं। मैं तमाखू के लिए उसके घर गया था।

मुलिया की देह काटो तो लहू नहीं, चेहरे का रंग उठ गया।

सिर झुकाकर बोली — मैं किसी के मन का हाल क्या जानूँ?

आज तीज का रतजगा था। मुलिया पूजा का सामान तैयार कर रही थी पर इस तरह जैसे मन में जरा भी उत्साह, जरा भी श्रद्धा नहीं हैं। उसे ऐसा मालूम हो रहा हैं, उसके मुख में कालिमा पुत गई हैं और अब वह कल्लू की आँखों से गिर गई हैं, उसे अपना जीवन निराधार-सा जान पड़ता था। सोचने लगी — भगवान ने मुझे यह रूप क्यों दिया? यह रूप न होता तो राजा क्यों मेरे पीछे पड़ता और क्यों आज मेरी यह गत होती? मैं काली-कुरूप रहकर इससे कही सुखी रहती। तब तो मन इतना चंचल न होता, जिन्हें रूप की कमाई खानी हो, वह रूप पर फूलें, यहाँ तो इसने मटियामेट कर दिया।

न जाने कब उसे झपकी आ गई, तो देखती हैं, कल्लू मर गया हैं और राजा घर में घुसकर उसे पकड़ना चाहता हैं। उसी दम एक

वृद्धा स्त्री न जाने किधर से आकर उसे अपनी गोद में ले लेती हैं और कहती हैं — तूने कल्लू को क्यों मार डाला?

मुलिया रोकर कहती हैं — माता, मैंने उन्हें नहीं मारा।

वृद्धा कहती हैं — हाँ, तूने छूरी-कटार से नहीं मारा, उस दिन तेरा तप छीन हो गया और इसी से वह मर गया।

मुलिया ने चौकन्नी आँखें खोल दी, सामने आँगन में कल्लू सोया हुआ था, वह दौड़ी हुई उसके पास गई और उसकी छाती पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कल्लू ने घबराकर पूछा — कौन हैं? मुलिया! क्यों रोती हैं? क्या डर लग रहा हैं, मैं तो जाग ही रहा हूँ।

मुलिया ने सिसकते हुए कहा — मुझसे आज एक अपराध हुआ हैं, मुझे क्षमा कर दो।

कल्लू उठ बैठा — क्या बात हैं? कहो तो रोती क्यों हो?

मुलिया ने कहा — राजा तमाखू माँगने नहीं आया था, मैंने तुमसे झूठ कहा था।

कल्लू हँसकर बोला — वह तो पहले ही समझ गया था।

मुलिया ने कहा — वह मेरे लिए चुन्दरी लाया था।

कल्लू ने कहा — तुमने लौटा दी?

मुलिया काँपती हुई बोली — मैंने ले ली, कहते थे, मैं जहर-माहुर खा लूँगा।

कल्लू निर्जीव की भाँति खाट पर गिर पड़ा और बोला — तो रूप मेरे बस का नहीं हैं। देव ने कुरूप बना दिया, तो सुन्दर कैसे बन जाऊँ?

कल्लू ने मुलिया को खौलते तेल में डाल दिया होता, तो भी उसे इतनी पीड़ा न होती।

4

कल्लू उस दिन से कुछ खोया-खोया सा रहने लगा, जीवन में न वह उत्साह रहा, न वह आनन्द, हँसना-बोलना भूल-सा गया, मुलिया ने उसके साथ जितना विश्वासघात किया था, उससे कहीं ज्यादा उसने समझ लिया और यह भ्रम उसके हृदय में केवड़े के समान चिपट गया, वह घर अब उसके लिए लेटने-बैठने का स्थान था और मुलिया केवल भोजन बना देनेवाली मशीन, आनन्द के लिए वह कभी-कभी ताड़ीखाने चला जाता या चरस के दम भरता।

मुलिया उसकी दशा देख-देखकर अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ती थी, वह उस बात को दिल से निकाल देना चाहती थी, इसलिए उसकी सेवा और मन लगा कर करती। उसे प्रसन्न करने के लिए बार-बार प्रयत्न करती। पर वह जितना ही उसको खींचने की चेष्टा करती थी, उतनी ही वह उससे विचलता था, जैसे कोई कटिए में फँसी हुई मछली हो। कुशल यह था कि राजा जिस अंग्रेज के यहाँ खानसामा था, उसका तबादला हो गया और राजा उसके साथ चला गया, नहीं तो दो भाइयों में से किसी-न-किसी का खून जरूर हो जाता। इस तरह साल-भर बीत गया।

एक दिन कल्लू रात को घर लौटा तो उसे ज्वर था। दूसरे दिन उसकी देह में दाने निकल आए, मुलिया ने समझा, माता हैं, मान-मनौती करने लगी। मगर चार-पाँच दिन में ही दाने बढ़कर आवले पड़ गए और मालूम हुआ कि यह माता नहीं हैं, उपदंश हैं। कल्लू के कलुषित भोग-विलास का यह फल था।

रोग इतनी भयंकरता से बढ़ने लगा कि आवलों में मवाद पड़ गया और उनमें से ऐसी दुर्गन्ध उड़ने लगी कि पास बैठते नाक फटती थी। देहातों में जिस प्रकार का उपचार हो सकता था, वह मुलिया करती थी पर कोई लाभ न होता था और कल्लू की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। उपचार की कसर वह अबला अपनी स्नेहमयी सेवा से पूरी करती थी, उस पर गृहस्थी चलाने के लिए

अब मेहनत-मजूरी भी करनी पड़ती थी। कल्लू तो अपने किए का फल भोग रहा था, मुलिया अपने कर्त्तव्य का पालन करने में मरी जा रही थी। अगर कुछ सन्तोष होता, तो यह कल्लू का भ्रम उसकी तपस्या से भंग होता जाता था, उसे विश्वास होने लगा कि मुलिया अब भी उसी की हैं, वह अगर किसी तरह अच्छा हो जाता, तो फिर उसे दिल में छिपाकर रखता और उसकी पूजा करता।

प्रातःकाल था। मुलिया ने कल्लू का हाथ-मुँह धुलाकर दवा पिलाई और खड़ी पंखा डुला रही थी कि कल्लू ने आँसू-भरी आँखों से देखकर कहा — मुलिया, मैंने उस जन्म में कोई भारी तप किया था कि तू मुझे मिल गई, तुम्हारी जगह मुझे दुनिया का राज मिले तो भी न लूँ।

मुलिया ने दोनों हाथों से उसका मुँह बन्द कर दिया और बोली — इस तरह की बातें करोगे, तो मैं रोने लगूँगी, मेरे धन्य भाग कि तुम-जैसा स्वामी मिला।

यह कहते हुए उसने दोनों हाथ पति के गले में डाल दिए और लिपट गई फिर बोली — भगवान ने मुझे मेरे पापों का दंड दिया हैं।

कल्लू ने उत्सुकता से पूछा — सच कह दो मूला, राजा और तुमने क्या मामला था?

मुलिया ने विस्मित होकर कहा — मेरे और उनके बीच में कोई और मामला हुआ हो, तो भगवान मेरी दुर्गति करें, उसने मुझे चुन्दरी दी थी, वह मैंने ले ली थी! फिर मैंने उसे आग में जला दिया। तबसे मैं उससे नहीं बोली।

कल्लू ने ठंड़ी साँस खींचकर कहा — मैंने कुछ और ही समझ रखा था, न-जाने मेरी मति कहाँ हर गई थी, तुम्हें पाप लगाकर मैं आप पाप में फँस गया और उसका फल भोग रहा हूँ।

उसने रो-रोकर अपने दुष्कर्मों का परदा खोलना शुरू किया और मुलिया की आँसू की लड़ियाँ बहाकर सुनने लगी, अगर पति की चिन्ता न होती, तो उसने विष खा लिया होता।

कई महीने बाद राजा छुट्टी लेकर घर आया और कल्लू की घातक बीमारी का हाल सुना, तो दिन में खुश हुआ, तीमारदारी के बहाने से कल्लू के घर आने-जाने लगा। कल्लू उसे देखकर मुँह फेर लेता लेकिन वह दिन में दो-चार बार पहुँच ही जाता।

एक दिन मुलिया खाना पका रही थी कि राजा ने रसोई के द्वार पर आकर कहा — भाभी, क्यों अब भी मुझपर दया न करोगी? कितनी बेरहम हो तुम! कै दिन से तुम्हें खोज रहा हूँ, पर तुम

मुझसे भागती फिरती हो, भैया अब अच्छे न होंगे, इन्हें गर्मी हो गई हैं। इनके साथ क्यों अपनी जिन्दगी खराब कर रही हो? तुम्हारी फूल-सी देह सूख गई हैं, मेरे साथ चलो, कुछ जिन्दगी की बहार उड़ाए, यह जवानी बहुत दिन न रहेगी, यह देखो, तुम्हारे लिए एक करनफूल लाया हूँ, जरा पहनकर मुझे दिखा दो।

उसने करनफूल मुलिया की ओर बढ़ा दिया। मुलिया ने उसकी तरफ देखा भी नहीं, चूल्हे की ओर ताकती हुई बोली — लाला, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे मत छेड़ो. यह सारी विपत्ति तुम्हारी लाई हुई हैं, तुम्हीं मेरे शत्रु हो फिर भी तुम्हें लाज नहीं आती, कहते हो, भैया अब किस काम के हैं? मुझे तो अब वह पहले से भी कहीं ज्यादा अच्छे लगते हैं। जब मैं न होती, तो वह दूसरी सगाई कर लाते, अपने हाथों ठोकर खाते, आज मैं ही इनका आधार हूँ, वह मेरे सहारे जीते हैं, अगर मैं इस संकट में उनके साथ दगा करूँ, तो मुझसे बढ़कर अधम कौन होगा, जबकि मैं जानती हूँ कि इस संकट का कारण भी मैं ही हूँ।

राजा ने हँसकर कहा — यह तो वही हुआ, जैसे किसी की दाल गिर गई, तो उसने कहा मुझे तो सूखी ही अच्छी लगती हैं।

मुलिया ने सिर उठाकर उसकी ओर सजोत नेत्रों से ताकते हुए कहा — तुम उनके पैरों की धूल के बराबर नहीं हो लाला। क्या

कहते हो तुम? उजले कपड़े और चिकने मुखड़े से कोई आदमी सुन्दर नहीं होता, मेरी आँखों मे तो उनके बराबर कोई दिखाई नहीं देता।

कल्लू ने पुकारा — मूला, थोड़ा पानी दे। मुलिया पानी लेकर दौड़ी, चलते-चलते करनफूल को ऐसा ठुकराया कि आँगन में जा गिरा।

राजा ने जल्दी से करनफूल उठा लिया और क्रोध में भरा हुआ चल दिया।

6

रोग दिन-पर-दिन बढ़ता गया, ठिकाने से दवा-दारू होती, तो शायद अच्छा हो जाता, मगर अकेली मुलिया क्या-क्या करती? दरिद्रता में बीमारी कोढ़ का खाज हैं।

आखिर एक दिन परवाना आ पहुँचा, मुलिया घर का काम-धन्धा करके आई, तो देखा कल्लू की साँस चल रही हैं, घबराकर बोला — कैसा जी हैं तुम्हारा?

कल्लू ने सजल और दीनता-भरी आँखों से देखा और हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया, यहीं अन्तिम बिदाई थी।

मुलिया सीने पर सिर रखकर रोने लगी और उन्माद की दशा में उसके आहत हृदय से रक्त की बूँदों के समान शब्द निकलने लगे — तुमसे इतना भी न देखा गया, भगवन्! उस पर न्यायी और दयालु कहलाते हो! इसीलिए तुमने जन्म दिया! यहीं खेल खेलने के लिए! हाय नाथ! तुम तो इतने निष्ठुर न थे! मुझे अकेली छोड़कर चले जा रहे हो! हाय! अब कौन मूला कहकर पुकारेगा! अब किसके लिए कुँए से पानी खींचूँगी! किसे बैठाकर खिलाऊँगी, पंखा डुलाऊँगी! सब सुख हर लिया, तो मुझे भी क्यों नहीं उठा लेते!

सारा गाँव जमा हो गया। सभी समझा रहे थे, मुलिया को धैर्य न होता था, यह सब मेरे ही कारण हुआ, यह बात उसे नहीं भूलती। हाय! हाय! उसे भगवान ने सामर्थ्य दिया होता, तो आज उसका सिरताज यों उठ जाता?

शव की दाह-क्रिया की तैयारियाँ होने लगी।

कल्लू को मरे छः महीने हो गए। मुलिया अपना कमाती हैं, खाती हैं और अपने घर में पड़ी रहती हैं। दिन-भर काम-धन्धे से छुट्टी नहीं मिलती, हाँ, रात एकान्त में रो लिया करती हैं।

उधर राजा की स्त्री मर गई, मगर दो-चार दिन के बाद वह फिर छैला बना घूमने लगा। और भी छूटा साँड़ हो गया। पहले स्त्री से झगड़ा हो जाने का डर था, अब वह भी न रहा। अबकी नौकरी पर से लौटा, तो सीधे मुलिया के घर पहुँचा और इधर-उधर की बातें करने के बाद बोला — भाभी, अब तो मेरी अभिलाषा पूरी करोगी या अभी और कुछ बाकी हैं? अब तो भैया भी नहीं रहे, इधर मेरी घरवाली भी सिधारी! मैंने तो उसका गम भुला दिया, तुम कब तक भैया के नाम को रोती रहोगी?

मुलिया ने घृणा से उसकी ओर देखकर कहा — भैया नहीं रहे तो क्या हुआ भैया की याद तो हैं, उनका प्रेम तो हैं, उनकी सूरत तो दिल में हैं, उनकी बातें तो कानों में हैं, तुम्हारे लिए और दुनिया के लिए वह नहीं हैं, मेरे लिए वह अब भी वैसे ही जीते-जागते हैं, मैं अब भी उन्हें वैसे ही बैठे देखती हूँ, पहले तो देह का अन्तर था, अब तो वह भी मुझसे और भी नगीच हो गए हैं, और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे और भी नगीच होते जाएँगे। भरे-पूरे घर में दाने की कौन कदर करता हैं, जब घर खाली हो जाता हैं, तब मालूम होता है कि दाना क्या हैं, पैसेवाले पैसे की कदर क्या जाने, पैसे की

कदर तब होती हैं, जब हाथ खाली हो जाता हैं। तब आदमी एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ता हैं, तुम्हें भगवान ने दिल ही नहीं दिया, तुम क्या जानों, सोहबत क्या हैं, घरवाली को मरे भी छः महीने भी नहीं हुए और तुम साँड़ बन बैठे, तुम मर गए होते, तो इसी तरह वह भी अब तक किसी और के पास चली गई होती? मैं जानती हूँ कि मैं मर जाती, तो मेरा सिरताज जन्म-भर मेरे नाम को रोया करता, ऐसे ही पुरुषों की स्त्रियाँ उन पर प्राण देती हैं। तुम-जैसे सोहदों के भाग पत्तल चाटना लिखा हैं, चाटो, मगर खबरदार, आज से मेरे घर में पाँव न रखना, नहीं तो जान से हाथ धोओगे! बस निकल जाओ।

उसके मुख पर ऐसा तेज, स्वर में इतनी कटुता थी कि राजा को जबान खोलने का भी साहस न हुआ, चुपके से निकल भागा।

मृतक-भोज

सेठ रामनाथ ने रोग-शय्या पर पड़े-पड़े निराशापूर्ण दृष्टि से अपनी स्त्री सुशीला की ओर देखकर कहा — मैं बड़ा अभागा हूँ, शीला, मेरे साथ तुम्हें सदैव ही दुख भोगना पड़ा। जब घर में कुछ न था, तो रात-दिन गृहस्थी के धन्धों और बच्चों के लिए मरती थी, जब जरा कुछ सम्भला और तुम्हारे आराम करने के दिन आए, तो यों छोड़े चला जा रहा हूँ। आज तक मुझे आशा थी, पर आज वह आशा टूट गई, देखो शीला, रोओ मत, संसार में सभी मरते हैं, कोई दो साल आगे, कोई दो साल पीछे। अब गृहस्थी का भार तुम्हारे ऊपर हैं, मैंने रुपए नहीं छोड़े लेकिन जो कुछ है, उससे तुम्हारा जीवन किसी तरह कट जाएगा, यह राजा क्यों रो रहा हैं?

सुशीला ने आँसू पोंछकर कहा — जिद्दी हो गया हैं और क्या, आज सबेरे से रट लगाए हुए हैं कि मैं मोटर लूँगा, 5 रुपए से कम में आएगी मोटर?

सेठजी को इधर कुछ दिनों से दोनों बालकों पर बहुत स्नेह हो गया था, उसने कहा — तो मँगा दो न एक, बेचारा कब से रो रहा हैं, क्या-क्या अरमान दिल में थे। सब धूल में मिल गए। रानी के

लिए विलायती गुड़िया भी मँगा दो। दूसरों के खिलौने देखकर तरसती रहती हैं, जिस धन को प्राणों से भी प्रिय समझा, वह अन्त में डॉक्टरों ने खाया, बच्चे मुझे क्या याद करेंगे कि बाप था, अभागे बाप ने तो धन को लड़के-लड़की से प्रिय समझा, कभी एक पैसे की चीज भी लाकर नहीं दी।

अन्तिम समय जब संसार की असारता कठोर सत्य बनकर आँखों के सामने खड़ी हो जाती हैं, तो जो कुछ न किया, उसका खेद और जो कुछ किया, उस पर पश्चाताप, मन को उदार और निष्कपट बना देता हैं।

सुशीला ने राजा को बुलाया और उसे छाती से लगाकर रोने लगी। वह मातृस्नेह, जो पति की कृपणता से भीतर-ही-भीतर तड़पकर रह जाता था, इस समय जैसे खौल उठा लेकिन मोटर के लिए रुपए कहाँ थे?

सेठजी ने पूछा — मोटर लोगे बेटा, अपनी अम्माँ से रुपए लेकर भैया के साथ चले जाओ, खूब अच्छी मोटर आना।

राजा ने माता के आँसू और पिता का यह स्नेह देखा, तो उसका बालहठ जैसे पिघल गया, उसने फिर कहा — अभी नहीं लूँगा।

सेठजी ने पूछा — क्यों?

राजा ने कहा — जब आप अच्छे हो जाएँगे तब लूँगा।

सेठजी फूट-फूटकर रोने लगे।

2

तीसरे दिन सेठ रामनाथ का देहान्त हो गया

धनी के जीने से दुःख बहुतों को होता हैं, सुख थोड़ों को। उनके मरने से दुःख थोड़ों को होता हैं, सुख बहुतों को, महा-ब्राह्मणों की मंडली अलग सुखी हैं, पंडितजी अलग खुश हैं और शायद बिरादरी के लोग भी प्रसन्न हैं, इसलिए कि एक बराबर का आदमी कम हुआ, दिल से एक काँटा दूर हुआ और पट्टीदारों का तो पूछना ही क्या, अब वह पुरानी कसर निकालेंगें। हृदय को शीतल करने का ऐसा अवसर बहुत दिनों के बाद मिला हैं।

आज पाँचवाँ दिन हैं, वह विशाल भवन सूना पड़ा हैं, लड़के न तो रोते हैं, न हँसते हैं, मन मारे माँ के पास बैठे हैं और विधवा भविष्य की अपार चिन्ताओं के भार से दबी हुई निर्जीव-सी पड़ी हैं, घर में जो रुपए बच रहे थे, वे दाह-क्रिया की भेंट हो गए और

अभी तो सारे संस्कार बाकी पड़े हैं, भगवान! कैसे बेड़ा पार लगेगा।

किसी ने द्वार पर आवाज दी, महरा ने आकर सेठ धनीराम के आने की सूचना दी, दोनों बालक बाहर दौड़े, सुशीला का मन भी एक क्षण के लिए हरा हो गया। सेठ धनीराम बिरादरी के सरपंच थे, अबला का हृदय सेठजी की इस कृपा से पुलकित हो उठा। आखिर बिरादरी के मुखिया हैं। ये लोग अनाथों की खोज-खबर न लें तो कौन ले, धन्य हैं ये पुण्यात्मा लोग जो मुसीबतों में दीनों की रक्षा करते हैं।

यह सोचती हुई सुशीला घूँघट निकाले बरोठे में आकर खड़ी हो गई, देखा तो धनीरामजी के अतिरिक्त और भी कई सज्जन खड़े हैं।

धनीराम बोले — बहूजी, भाई रामनाथ की अकाल मृत्यु से हम लोगों को जितना दुःख हुआ हैं, वह हमारा दिल ही जानता हैं, अभी उनकी उम्र ही क्या थी लेकिन भगवान की इच्छा, अब तो हमारा यही धर्म हैं कि ईश्वर पर भरोसा रखें और आगे के लिए कोई राह निकालें, काम ऐसा करना चाहिए कि घर की आबरू भी बनी रहे और भाइजी की आत्मा सन्तुष्ट भी हो।

कुबेरदास ने सुशीला को कनखियों से देखते हुए कहा — मर्यादा बड़ी चीज हैं, उसकी रक्षा करना हमारा धर्म हैं लेकिन कमरे के बाहर पाँव निकालना भी तो उचित नहीं हैं, कितने रुपए हैं तेरे पास, बहू? क्या कहा, कुछ नहीं?

सुशीला ने कहा — घर में रुपए कहाँ हैं सेठजी, जो थोड़े-बहुत थे, वह बीमारी में उठ गए।

धनीराम ने कहा — तो यह नई समस्या खड़ी हुई हैं, ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए, कुबेरदासजी?

कुबेरदास ने कहा — जैसे हो, भोज तो करना ही पड़ेगा। हाँ, अपनी सामर्थ्य देखकर काम करना चाहिए। मैं कर्ज लेने को न कहूँगा, हाँ, घर में जितने रुपयों का प्रबन्ध हो सके, उसमें हमें कोई कसर न छोड़नी चाहिए, मृत-जीव के साथ भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य हैं, अब तो वह फिर कभी न आएगा, उससे सदैव के लिए नाता टूट रहा हैं, इसलिए सब कुछ हैसियत के मुताबिक होना चाहिए, ब्राह्मणों को तो देना ही पड़ेगा, जिससे कि मर्यादा का निर्वाह हो!'

धनीराम ने कहा — तो क्या तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, बहूजी? दो-चार हजार भी नहीं!

सुशीला ने कहा — मैं आपसे सत्य कहती हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, ऐसे समय झूठ बोलूँगी।

धनीराम ने कुबेरदास की ओर अर्ध-अविश्वास के देखकर कहा — तब तो यह मकान बेचना पड़ेगा।

कुबेरदास ने कहा — इसके सिवा और क्या हो सकता है, नाक काटना तो अच्छा नहीं, रामनाथ का कितना नाम था, बिरादरी के स्तम्भ थे, यही इस समय एक उपाय है, 20 हजार रुपए मेरे आते है, सूद-बट्टा लगाकर कोई 25 हजार रुपए मेरे हो जाएँगे, बाकी भोज में खर्च हो जाएगा, अगर कुछ बचा रहा तो बाल-बच्चों के काम आ जाएगा।

धनीराम ने कहा — आपके यहाँ कितने पर बंधक रखता था?

कुबेरदास ने कहा — 20 हजार रुपए पर, रुपए सैकड़े सूद।

धनीराम ने कहा — मैंने तो कुछ कम सुना है।

कुबेरदास ने कहा — उसका तो रेहननामा रखा है, जबानी बातचीत थोड़े ही है, मैं दो-चार हजार के लिए झूठ नहीं बोलूँगा।

धनीराम ने कहा — नहीं-नहीं, यह मैं कब कहता हूँ, तो तूने सुन लिया, बाई! पंचों की सलाह है कि मकान बेच दिया जाए।

सुशीला का छोटा भाई सन्तलाल भी इसी समय आ पहुँचा, यह अन्तिम वाक्य उसके कान में पड़ गए, उसने कहा — किसलिए मकान बेच दिया जाए? बिरादरी भोज के लिए? बिरादरी तो खा-पीकर राह लेगी, इन अनाथों की रक्षा कैसे होगी? इनके भविष्य के लिए भी तो कुछ सोचना चाहिए।

धनीराम ने कोप-भरी आँखों से देखकर कहा — आपको इन मामलों में टाँग अड़ाने का कोई अधिकार नहीं। केवल भविष्य की चिन्ता करने से काम नहीं चलता। मृतक का पीछा भी किसी तरह सुधारना ही पड़ता है। आपका क्या बिगड़ेगा, हँसी तो हमारी होगी, संसार में मर्यादा से प्रिय कोई वस्तु नहीं! मर्यादा के लिए प्राण तक दे देते है, जब मर्यादा ही न रही तो क्या रहा। अगर हमारी सलाह पूछोगे, तो हम यही कहेंगे, आगे बाई का अखतियार है, जैसे चाहे करे, पर हमसे कोई सरोकार न रहेगा, चलिए कुबेरदासजी, चले।

सुशीला ने भयभीत होकर कहा — भैया की बातों का विचार न कीजिए, इनकी तो यह आदत है, मैंने तो आपकी बात नहीं टाली, आप मेरे बड़े है, घर का हाल आपको मालूम है। मैं अपने स्वामी की आत्मा को दुखी करना नहीं चाहती, लेकिन बच्चे ठोकरें खाएँगे, तो क्या उनकी आत्मा दुखी न होगी? बेटी का ब्याह करना

ही है, लड़के को पढ़ाना-लिखाना है ही, ब्राह्मणों को खिला दीजिए लेकिन बिरादरी करने की मुझमें सामर्थ नहीं है।

दोनों महानुभावों को जैसे थप्पड़ लगा — इतना बड़ा अधर्म, भला ऐसी बात भी जबान से निकाली जाती है। पंच लोग अपने मुँह में कालिख न लगने देंगे। दुनिया विधवा को न हँसेगी, हँसी होगी पंचों की, यह जग-हँसाई कैसे सह सकते हैं, ऐसे द्वार पर झाँकना भी पाप है।

सुशीला रोकर बोली — मैं अनाथ हूँ, नादान हूँ, मुझ पर क्रोध न कीजिए, आप लोग ही मुझे छोड़ देंगे, तो मेरा कैसे निर्वाह होगा।

इतने में दो महाशय और आ बिराजे। एक बहुत मोटे और दूसरे बहुत दुबले, नाम भी गुणों के अनुसार ही — भीमचन्द और दुर्बलदास। धनीराम ने संक्षेप में यह परिस्थिति उन्हें समझा दी। दुर्बलदास ने सहृदयता से कहा — तो ऐसा क्यों नहीं करते कि हम लोग मिलकर रुपए दे, जब इसका लड़का सियाना हो जाएगा, तो रुपए मिल ही जाएँगे। अगर न भी मिलें तो एक मित्र के लिए कुछ बल खा जाना कोई बड़ी बात नही।

सन्तलाल ने प्रसन्न होकर कहा — इतनी दया आप करेंगे, तो क्या पूछना।

कुबेरदास ने त्योरी चढ़ाकर बोले — तुम तो बेसिर-पैर की बातें करने लगे, दुर्बलदास जी, इस बखत के बाजार में किसके पास फालतू रुपए रखे हुए है।

भीमचन्द ने कहा — सो तो ठीक है, बाजार की ऐसी मन्दी तो कभी देखी नहीं, पर निबाह तो करना चाहिए।

कुबेरदास अकड़ गए। वह सुशीला के मकान पर दाँत लगाए हुए थे, ऐसी बातों से उनके स्वार्थ में बाधा पड़ती थी। वह अपने रुपए वसूल करके छोड़ेंगे।

भीमचन्द ने उन्हें किसी तरह सचेत किया लेकिन भोज तो देना ही पड़ेगा, उस कर्तव्य का पालन न करना समाज की नाक काटना है।

सुशीला ने दुर्बलदास में सहृदयता का आभास देखा। उनकी ओर दीन नेत्रों से देखकर बोली — मैं आप लोगों से बाहर थोड़े ही हूँ, आप लोग मालिक है, जैसा उचित समझें वैसा करें।'

दुर्बलदास ने कहा — तेरे पास कुछ थोड़े बहुत गहने तो होंगे, बाई?

'हाँ गहने तो है, आधे तो बीमारी में बिक गए, आधे बचे है।' सुशीला ने सारे गहने लाकर पंचों के सामने रख दिए। पर यह तो मुश्किल से तीन हजार में उठेंगे।

दुर्बलदास ने पोटली को हाथ में तौलकर कहा — तीन हजार को कैसे आएँगे, मैं साढे तीन हजार दिला दूँगा।

भीमचन्द ने फिर पोटली को तौलकर कहा — मेरी बोली चार हजार की है।

कुबेरदास को मकान की बिक्री का प्रश्न छेड़ने का अवसर फिर मिला — चार हजार ही में क्या हुआ जाता है, बिरादरी का भोज है या दोष मिटाना है। बिरादरी मं कम-से-कम दस हजार का खरचा है। मकान तो निकालना ही पड़ेगा।

सन्तलाल ने होट चबाकर कहा — मैं कहता हूँ, आप लोग क्या इतने निर्दयी है! आप लोगों को अनाथ बालकों पर भी दया नहीं आती! क्या उन्हें रास्ते का भिखारी बनाकर छोड़ेंगे?

लेकिन सन्तलाल की फरियाद पर किसी ने ध्यान न दिया। मकान की बातचीत अब नहीं टाली जा सकती थी। बाजार मन्दा है, 30 हजार से बेसी नहीं मिल सकते, 25 हजार तो कुबेरदास के है, पाँच हजार बचेंगे, चार हजार गहनों से आ जाएँगे, इस तरह 9

हजार में बड़ी किफायत से ब्रह्मभोज और बिरादरी-भोज दोनों निपटा दिए जाएँगे।

सुशीला ने दोनों बालकों को सामने करके करबद्ध होकर कहा — पंचों, मेरे बच्चों का मुँह देखिए, मेरे घर में जो कुछ है, वह आप सब ले लीजिए लेकिन मकान छोड़ दीजिए। मुझे कहीं ठिकाना न मिलेगा। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ मकान इस समय न बेचे।

इस मूर्खता का क्या जवाब दिया जाए। पंच लोग तो खुद चाहते थे कि मकान न बेचना पड़े, उन्हें अनाथों से कोई दुश्मनी नहीं थी, किन्तु बिरादरी का भोज और किस तरह किया जाए। अगर विधवा कम-से-कम पाँच हजार रुपए का जुगाड़ और कर दे, तो मकान बच सकता है। पर वह ऐसा नहीं कर सकती, तो मकान बेचने के सिवा और कोई उपाय नहीं।

कुबेर ने अन्त में कहा — देख बाई, बाजार की दशा इस समय खराब है। रुपए किसी से उधार नहीं मिल सकते। बाल-बच्चों के भाग में लिखा होगा, तो भगवान और किसी हीले से देगा। हीले रोजी, बहाने मौत, बाल-बच्चों की चिन्ता मत कर। भगवान जिसको जन्म देते है, उसकी जीविका की जुगत पहले ही से कर देते है। हम तुझे समझाकर हार गए। अगर तू अब भी अपनी

हठ न छोड़ेगी, तो हम बात भी न पूछेंगे फिर यहाँ तेरा रहना मुश्किल हो जाएगा। शहरवाले तेरे पीछे पड़ जाएँगे।

विधवा सुशीला अब और क्या करती, पंचों से लड़कर वह कैसे रह सकती थी। पानी में रहकर मगर से कौन बैर कर सकता है। घर में जाने के लिए उठी पर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी। अभी तक आशा सम्भाले हुई थी, बच्चों के पालन-पोषण में वह अपना वैधव्य भूल सकती थी पर अब तो अन्धकार था, चारों ओर।

3

सेठ रामनाथ के मित्रों का उनके घर पर पूरा अधिकार था। मित्रों का अधिकार न हो तो किसका हो, स्त्री कौन होती है, जब वह इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती कि बिरादरी करना और धूम-धाम से दिल खोलकर करना लाजिमी बात है, तो उससे और कुछ कहना व्यर्थ है। गहने कौन खरीदे? भीमचन्द चार हजार दाम लगा चुके थे, लेकिन अब उन्हें मालूम हुआ, इस बात पर दुर्बलदास और भीमचन्द में तकरार भी हो गई थी लेकिन भीमचन्द को मुँह की खानी पड़ी, न्याय दुर्बल के पक्ष में था।

धनीराम ने कटाक्ष किया — देखो दुर्बलदास, माल तो ले जाते हो, पर तीन हजार से बेसी का है, मैं नीति की हत्या न होने दूँगा।

कुबेरदास बोले — अजी, तो घर में ही तो है, कहीं बाजार तो नहीं गया। एक दिन मित्रों की दावत हो जाएगी!

इस पर चारों महानुभाव हँसे। इस काम से फुरसत पाकर अब मकान का प्रश्न उठा। कुबेरदास 30 हजार देने पर तैयार थे, पर कानूनी कार्रवाई किए बिना सन्देह की गुंजाइश थीं। यह गुंजाइश क्योंकर रखी जाए, एक दलाल बुलाया गया। नाटा-सा आदमी था, पोपला मुँह, कोई 70 की अवस्था, नाम था चोखेलाल।

कुबेरदास ने कहा — चोखेलालजी से हमारी तीस साल की दोस्ती है। आदमी क्या रत्न है।

भीमचन्द ने कहा — बाजार का हाल अच्छा नहीं है, लेकिन फिर भी हमें यह तो देखना पड़ेगा कि रामनाथ के बाल-बच्चों का टोटा न हो। (चोखेलाल के कान में) तीस से आगे न जाना।

भीमचन्द ने कहा — देखिए कुबेरदास, यह अच्छी बात नहीं है।

कुबेरदास ने कहा — तो मैं क्या कर रहा हूँ, मैं तो यही कह रहा था कि अच्छे दाम लगवाना।

चोखेलाल ने कहा — आप लोगों को मुझसे यह कहने की जरूरत नहीं, मैं अपना धर्म समझता हूँ। रामनाथजी मेरे भी मित्र थे, मुझे मालूम है कि इस मकान के बनवाने में एक लाख से कम एक पाई भी नहीं लगी लेकिन बाजार का हाल क्या आप लोगों से छिपा है। इस समय इसके 25 हजार से बेसी नहीं मिल सकते। सुभीते से तो कोई ग्राहक से दस-पाँच हजार और मिल जाएँगे, लेकिन इस समय तो कोई ग्राहक भी मुश्किल से मिलेंगे। लो दही और लावदही की बात है।

धनीराम ने कहा — 25 हजार रुपया तो बहुत कम है भाई, और न सही 30 हजार रुपया को करा दो।

चोखेलाल ने कहा — 30 तो क्या 40 करा दूँ, पर कोई ग्राहक तो मिले। आप लोग कहते है तो मैं 30 हजार रुपया की बातचीत करूँगा।

धनीराम ने कहा — जब तीस हजार में ही देना है तो कुबेरदासजी ही क्यों न ले लें, इतना सस्ता माल दूसरों को क्यों दिया जाए।'

कुबेरदास ने कहा — आप सब लोगों की राय हो, तो ऐसा ही कर लिया जाए।

धनीराम ने 'हाँ-हाँ' कहकर हामी भरी। भीमचन्द मन में ऐंठकर रह गए। यह सौदा भी पक्का हो गया। आज ही वकील से बैनामा लिखा, तुरन्त रजिस्ट्री भी हो गई। सुशीला के सामने बैनामा लाया गया, तो उसने ठंड़ी साँस ली और सजल नेत्रों से उस पर हस्ताक्षर कर दिए। अब उसके सिवा और कहीं शरण नहीं है, बेवफा मित्र की भाँति यह घर भी सुख के दिनों में साथ देकर दुःख के दिनों में उसका साथ छोड़ रहा है।

पंच लोग सुशीला के आँगन में बैठे बिरादरी के रुक्के लिख रहे है और अनाथ विधवा ऊपर झरोखे पर बैठी भाग्य को रो रही है। इधर रुक्का तैयार हुआ, उधर विधवा की आँखों से आँसू की बूँदें निकलकर रुक्के पर गिर पड़ीं।

धनीराम ने ऊपर देखकर कहा — पानी का छींटा कहाँ से आया?

सन्तलाल ने कहा — बाई बैठी रो रही है, उसने रुक्के पर अपने रक्त के आँसुओं की मुहर लगा दी है।

धनीराम ने ऊँचे स्वर में कहा — अरे, तो तू रो क्यों रही है, बाई? यह रोने का समय नहीं है। तुझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि पंच लोग तेरे घर में आज शुभ-कार्य करने के लिए जमा है, जिस के साथ तूने इतने दिनों भोग-विलास किया, उसी का पीछा सुधारने में तू दुःख मानती है?

बिरादरी में रुक्का फिरा। इधर तीन-चार दिन पंचों ने भोज की तैयारियों में बिताए। घी धनीराम की आढ़त से आया, मैदा, चीनी की आढ़त भी उन्हीं की थी। पाँचवें दिन प्रातःकाल ब्रह्म-भोज हुआ। सन्ध्या-समय बिरादरी का ज्योनार। सुशीला के द्वार पर बग्घियों और मोटरों की कतारें खड़ी थी। भीतर मेहमानों की पंगते थीं। आँगन, बैठक, दालान, बरोठा, ऊपर की छत नीचे-ऊपर मेहमानों से भरा हुआ था। लोग भोजन करते थे और पंचों को सराहते थे।

'खर्च तो सभी करते है, पर इन्तजाम का सलीका चाहिए। ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ बहुत कम खाने में आते है।'

'सेठ चम्पालाल के भोज के बाद ऐसा भोज रामनाथजी का ही हुआ है।'

'इमरतियाँ कैसी कुरकुरी है!'

'रसगुल्ले मेवों से भरे है।'

'सारा श्रेय पंचों को है।'

धनीराम ने नम्रता से कहा — 'आप भाइयों की दया है, जो ऐसा कहते हो। रामनाथ से भाई-चारे का व्यवहार था। हम न करते तो कौन करता, चार दिन से सोना नसीब नहीं हुआ।'

'आप धन्य है! मित्र हों तो ऐसे हो।'

'क्या बात है! आपने रामनाथजी का नाम रख लिया। बिरादरी यही खाना-खिलाना देखती है, रोकड़ देखने नहीं जाती।'

मेहमान लोग बखान-बखान कर माल उड़ा रहे थे और उधर कोठरी में बैठी हुई सुशीला सोच रही थी — संसार में ऐसे स्वार्थी लोग है! सारा संसार स्वार्थमय हो गया हो गया है! सब पेटों पर हाथ फेर-फेरकर भोजन कर रहे है, कोई इतना भी नहीं पूछता कि अनाथों के लिए कुछ बचा या नहीं।

4

एक महीना गुजर गया। सुशीला को एक-एक पैसे की तंगी हो रही थी। नकद था ही नहीं। गहने निकल ही गए थे। अब थोड़े से बर्तन बच रहे थे। उधर छोटे-छोटे बहुत से बिल चुकाने थे। कुछ रुपए डॉक्टर के, कुछ दरजी के, कुछ बनियों के। सुशीला को यह रकमें घर का बचा-खुचा सामान बेचकर चुकानी पड़ी और महीना पूरा होते-होते उसके पास कुछ न बचा। बेचारा सन्तलाल एक दुकान में मुनीम था। कभी-कभी वह आकर एक-आध रुपया दे देता। इधर खर्च का हाथ फैला हुआ था। लड़के

अवस्था को समझते थे, माँ को छेड़ते न थे। मकान के सामने से कोई खोंचे वाला निकल जाता और वे दूसरे लड़को को फल या मिठाई खाते देखते, तो उनके मुँह में पानी भरकर आँखों में भर जाता था। ऐसी ललचाई हुई आँखों से ताकते थे कि दया आती। वही बच्चें, जो थोड़े दिन पहले मेवे-मिठाई की ओर ताकते भी न थे। अब एक-एक पैसे की चीज को तरसते थे। वही सज्जन, जिन्होंने बिरादरी का भोज करवाया था, अब घर के सामने से निकल जाते, पर कोई झाँकता न था।

शाम हो गई थी। सुशीला चूल्हा जलाए, रोटियाँ सेंक रही थी और दोनों बालक चूल्हे के पास रोटियों को क्षुधित नेत्रों से देख रहे थे। चूल्हे की दूसरे ऐले पर दाल थी। दाल के पकने का इन्तजार था। लड़की ग्यारह साल की थी, लड़का आठ साल का।

मोहन अधीर होकर बोला — अम्माँ, मुझे रूखी रोटियाँ ही दे दो, बड़ी भूख लगी है।

सुशीला ने कहा — अभी दाल कच्ची है भैया।

रेवती ने कहा — मेरे पास एक पैसा है, मैं उसकी दही लिए आती हूँ।

सुशीला ने कहा — तूने पैसा कहाँ पाया?

रेवती ने कहा — मुझे कल अपनी गुड़ियों की पेटारी में मिल गया था।

सुशीला ने कहा — लेकिन जल्दी आइयो।'

रेवती दौड़कर बाहर गई और थोड़ी देर में एक पत्ते पर दही ले आई। माँ ने रोटी-सेंककर दें दी। मोहन दही से खाने लगा। आम लड़कों की भाँति वह भी स्वार्थी था, बहन से पूछा भी नहीं।

सुशीला ने कड़ी आँखों से देखकर कहा — बहन को भी दे दे, अकेला ही खा जाएगा।

मोहन लज्जित हो गया, उसकी आँखें डबडबा आई।

रेवती बोली — नहीं अम्माँ, कितना मिला ही है, तुम खाओ मोहन, तुम्हें जल्दी नींद जाती है। मैं तो दाल पक जाएगी तो खाऊँगी।

उसी वक्त दो आदमियों ने आवाज दी। रेवती ने बाहर जाकर पूछा। यह सेठ कुबेरदाल के आदमी थे। मकान खाली कराने आए थे। क्रोध से सुशीला की आँखें लाल हो गई।

बरोठे में आकर कहा — अभी मेरे पति का पीछे हुए महीना भी नहीं हुआ, मकान खाली कराने की धुन सवार हो गई। मेरा 50 हजार का मकान 30 हजार में ले लिया। पाँच हजार सूद के

उड़ाए, फिर भी तस्कीन नहीं होती। कह हो, मैं अभी खाली नहीं करूँगी।

मुनीम ने नम्रता से कहा — बाईजी, मेरा क्या अख्तियार है, मैं तो केवल सन्देसिया हूँ। जब चीज दूसरे की हो गई तो आपको छोड़नी ही पड़ेगी। झंझट करने से क्या मतलब।

सुशीला समझ गई, ठीक ही कहता है, गाय, हत्या के बल के दिन खेत चरेगी।

सुशीला नर्म होकर बोली — सेठजी से कहो, मुझे दस-पाँच दिन की मुहलत दें। लेकिन नहीं, कुछ मत कहो। क्यों दस-पाँच दिन के लिए किसी का अहसान लूँ। मेरे भाग्य में इस घर में रहना लिखा होता, तो निकलती ही क्यों।

मुनीम ने कहा — तो कल सबेरे तक खाली हो जाएगा।'

सुशीला ने कहा — हाँ, हाँ, कहती तो हूँ लेकिन सबेरे तक क्यों, मैं अभी खाली किए देती हूँ। मेरे पास कौन-सा बड़ा सामान ही है। तुम्हारे सेठजी का रातभर का किराया मारा जाएगा, जाकर ताला-वाला लाओ या लाए हो?

मुनीम ने कहा — ऐसी क्या जल्दी है, बाई। कल सावधानी से खाली कर दीजिएगा।

सुशीला ने कहा — कल का झगड़ा क्या रखूँ। मुनीमजी, आप जाइए। ताला लाकर डाल दीजिए।'यह कहती हुई सुशीला अन्दर गई। बच्चों को भोजन कराया। एक रोटी आप किसी तरह निगली। बर्तन धोए, फिर एक इक्का मँगवाकर उस पर अपना मुख्तसर सामान लादा और भारी हृदय से उस घर से हमेशा के लिए विदा हो गई।

जिस वक्त यह घर बनवाया था, मन में कितनी उमंगें थी। इसके प्रवेश में कई हजार ब्राह्मणों का भोज हुआ। सुशीला को इतनी दौड-धूप करनी पड़ी थीं कि वह महीने-भर बीमार रही थी। इसी घर में उसके दो लड़के मरे थे। यहीं उसकी पति मरा था। मरने वालों की स्मृतियों ने उसकी एक-एक ईट को पवित्र कर दिया था। एक-एक पत्थर मानो उसके हर्ष से खुशी और उसके शोक से दुखी होता था, वह घर छूटा जा रहा है।

उसने रात एक पड़ोसी के घर में काटी और दूसरे 10 रुपए महीने पर एक गली में दूसरा मकान ले लिया।

इस नए कमरे में इन अनाथों ने तीन महीने जिस कष्ट से काटे, वह समझनेवाले ही समझ सकते है। भला हो बेचारे सन्तलाल का, वह दस-पाँच रुपए से मदद कर दिया करता था। अगर सुशीला दरिद्र घर की होती, तो पिसाई करती, कपड़े सीती, किसी के घर में टहल करती, जिन कामों को बिरादरी नीचा समझती है, उनका सहारा कैसे लेती। नहीं तो लोग कहते, यह सेठ रामनाथ की स्त्री है! उसके नाम की भी तो लाज रखनी थी, समाज के चक्रव्यूह से किसी तरह तो छुटकारा नहीं होता। लड़की के दो-एक गहने बच रहे थे, वह भी बिक गए। जब रोटियों ही के लाले थे, तो घर का किराया कहाँ से आता। तीन महीने बाद घर का मालिक, जो उसी बिरादरी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था और जिसने मृतक-भोज में खूब बढ़-चढ़कर हाथ मारे थे, अधीर हो उठा। बेचारा कितना धैर्य रखता, 30 रुपए का मामला है, रुपए आठ आने की बात नहीं है, इतनी बड़ी रकम नहीं छोड़ी जाती।

आखिर एक दिन सेठजी ने आकर लाल-लाल आँखें करके कहा — अगर तू किराया नहीं दे सकती, तो घर खाली कर दे, मैंने बिरादरी के नाते इतनी मुरौवत की, अब किसी तरह काम नहीं चल सकता।

सुशीला बोली — सेठजी, मेरे पास रुपए होते तो पहले आपका किराया देकर तब पानी पीती, आपने इतनी मुरौवत की, इसके लिए

मेरा सिर आपके चरणों पर है लेकिन अभी मैं बिल्कुल खाली-हाथ हूँ। यह समझ लीजिए कि एक भाई के बाल-बच्चों की परवरिश कर रहे है और क्या कहूँ।

सेठ ने कहा — चल-चल, इस तरह की बातें बहुत सुन चुका। बिरादरी का आदमी है, तो उसे चूस लो। कोई मुसलमान होता, तो उसे चुपके से महीने-महीने दे देती। नहीं तो उसने निकाल बाहर किया होता। मैं बिरादरी का हूँ, इसलिए मुझे किराया देने की दरकार नहीं। मुझे माँगना ही नहीं चाहिए, यह तो बिरादरी के साथ करना चाहिए।

इसी समय रेवती भी आकर खड़ी हो गई। सेठजी ने उसे सिर से पाँव तक देखा और तब किसी कारण से बोले — अच्छा, यह लड़की तो सियानी हो गई, कहीं इसकी सगाई की बातचीत नहीं की?

रेवती तुरन्त भाग गई। सुशीला ने इन शब्दों में आत्मीयता की झलक पाकर पुलकित कंठ से कहा — अभी तो कहीं बातचीत नहीं हुई, सेठजी। घर का किराया तक तो अदा नहीं कर सकती, सगाई क्या करूँगी, फिर अभी छोटी भी तो है।

सेठजी ने तुरन्त शास्त्रों का आधार दिया। कन्याओं के विवाह की यही अवस्था है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किराए

की कोई बात नहीं है, हमें क्या मालूम था कि सेठ रामनाथ के परिवार की यह दशा है।

सुशीला — तो आपकी निगाह में कोई अच्छा वर है। यह तो आप जानते ही है, मेरे पास लेने-देने को कुछ नहीं है।

झाबरमल (इन सेठजी का यही नाम था) – लेने-देने का कोई झगड़ा नहीं होगा, बाईजी, ऐसा घर है कि लड़की आजीवन सुखी रहेगी। लड़का भी उसके साथ रह सकता है, कुल का सच्चा है, हर तरह से सम्पन्न परिवार है, हाँ, वह दोहाजू (दुजवर) है।

सुशीला — उम्र अच्छी होनी चाहिए, दोहाजू होने से क्या होता है।

झाबरमल — उम्र भी कुछ ज्यादा नहीं, अभी चालीसवाँ ही साल है उसका, पर देखने में अच्छा हृष्ट-पुष्ट है, मर्द की उम्र उसका भोजन है। बस यह समझ लो कि परिवार का उद्धार हो जाएगा।

सुशीला ने अनिच्छा के भाव से कहा — अच्छा, मैं सोचकर जवाब दूँगी, एक बार मुझे दिखा देना।

झाबरमल — दिखाने को कहीं नहीं जाना है, बाई, वह तो तेरे सामने ही खड़ा है।

सुशीला ने घृणापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा, इस पचास साल के बुड्ढे की यह हवस! छाती का माँस लटककर नाभी तक आ पहुँचा,

फिर भी विवाह की धुन सवार है। यह दुष्ट समझता है कि प्रलोभनों में पड़कर अपनी लड़की उसके गले बाँध दूँगी। वह अपनी बेटी को आजीवन कुँवारी रखेगी, पर ऐसे मृतक से विवाह करके उसका जीवन नष्ट न करेगी। पर उसने क्रोध को शान्त किया। समय का फेर है, नहीं तो ऐसों को उससे ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही क्यों होता।

सुशीला ने कहा — आपकी इस कृपा के लिए आपको धन्यवाद देती हूँ। सेठजी, पर मैं कन्या का विवाह आपसे नहीं कर सकती।'

झाबरमल — तो और क्या तू समझती है कि तेरी कन्या के लिए बिरादरी में कोई कुमार मिल जाएगा?

सुशीला — मेरी लड़की कुँवारी रहेगी।

झाबरमल — और रामनाथजी के नाम को कलंकित करेगी?

सुशीला — तुम्हें मुझसे ऐसी बातें करते लाज नहीं आती। नाम के लिए घर खोया, सम्पत्ति खोई, पर कन्या को कुएँ में नहीं डूबा सकती।'

झाबरमल — तो मेरा किराया दे दे।

सुशीला — अभी मेरे पास रुपए नहीं है।

झाबरमल ने भीतर घुसकर गृहस्थ की एक-एक वस्तु निकालकर गली में फेंक दी। घड़ा फूट गया, मटके टूट गए, सन्दूक के कपड़े बिखर गए। सुशीला तटस्थ खड़ी अपने अदिन की यह क्रूर क्रीड़ा देखती रही।

घर का यो विध्वंस करके झाबरमल ने घर में ताला डाल दिया और अदालत से रुपए वसूल करने की धमकी देकर चले गए।

6

बड़ों के पास धन होता है, छोटों के पास हृदय होता है। धन से बड़े-बड़े व्यापार होते है, बड़े-बड़े महल बनते है, नौकर-चाकर होते है, सवारी-शिकारी होती है, हृदय से समवेदना होती है, आँसू निकलते है।

उसी मकान से मिली हुई एक साग-भाजी बेचनेवाली खटकिन की दुकान थी। वृद्धा, विधवा निपूती स्त्री थी। बाहर से आग, भीतर से पानी। झाबरमल को सैंकड़ों सुनाई और सुशीला की एक-एक चीज उठाकर अपने घर में ले गई। मेरे घर में रहो। बहू, मुरौवत में आ गई, नहीं तो उसकी मूँछें उखाड़ लेती, मौत सिर पर नाच रही है, आगे नाथ, ने पीछे पगहा, और धन के पीछे मरा जाता

है, जाने छाती पर लादकर ले जाएगा। तुम चलो मेरे घर में रहो, मेरे यहाँ किसी बात का खटका नहीं बस मैं अकेली हूँ, एक टुकड़ा मुझे भी दे देना।

सुशीला ने डरते-डरते कहा — माता, मेरे पास सेर-भर आटे के सिवा और कुछ नहीं है, मैं तुम्हें किराया कहाँ से दूँगी।

बुढ़िया ने कहा — मैं झाबरमल नहीं हूँ बहू, न कुबेरदास हूँ। मैं समझती हूँ, जिन्दगी में सुख भी है, दुख भी है। सुख में इतराओ मत, दुख में घबराओ मत। तुम्हीं से चार पैसे कमाकर अपना पेट पालती हूँ। तुम्हें उस दिन भी देखा था, जब तुम महल में रहती थी और आज भी देख रही हूँ, जब तुम अनाथ हो। जो मिजाज तब था, वही अब है, मेरे धन्य भाग कि तुम मेरे घर में आओ। मेरी आँखें फूटी है, जो तुमसे किराया माँगने जाऊँगी।

इन सांत्वना से भरे हुए सरल शब्दों ने सुशीला के हृदय का बोझ हलका कर दिया। उसने देखा सच्ची सज्जनता दरिद्रों और नीचों ही के पास रहती है। बड़ों की दया भी होती है, अहंकार का दूसरा रूप।

इस खटकिन के साथ रहते हुए सुशीला को छः महीने हो गए थे। सुशीला का उससे दिन-दिन स्नेह बढ़ता जाता था। वह जो कुछ पाती, लाकर सुशीला के हाथ में रख देती। दोनों बालक

उसकी दो आँखें थी। मजाल न थीं कि पड़ोस का कोई आदमी उन्हें कड़ी आँखों से देख ले। बुढ़िया दुनिया सिर पर उठा लेती। सन्तलाल हर महीने कुछ-न-कुछ दे दिया करता था। इससे रोटी-दाल चली जाती थी।

कातिक का महीना था। ज्वर का प्रकोप हो रहा था। मोहन एक दिन खेलता-कूदता बीमार पड़ गया और तीन दिन तक अचेत पड़ा रहा। ज्वर इतने जोर का था कि पास खड़े रहने से लपट-सी निकलती थी। बुढिया ओझे-सयानों के पास दौड़ती फिरती थी, पर ज्वर उतरने का नाम न लेता। सुशीला को भय हो रहा था, यह टाइफाइड है, इससे उसके प्राण सूख रहे थे।

चौथे दिन उसने रेवती से कहा — बेटी, तूने बड़े पंचजी का घर तो देखा है, जाकर उनसे कह भैया बीमार है, कोई डॉक्टर भेज दे।

रेवती को कहने भर की देर थी, दौड़ती हुई सेठ कुबेरदास के पास गई।

कुबेरदास बोले — डॉक्टर की फीस 16 रुपए है, तेरी माँ दे देगी?

रेवती ने निराश होकर कहा — अम्मा के पास रुपए कहाँ है?

कुबेरदास — तो फिर किस मुँह से मेरे डॉक्टर को बुलाती है, तेरा मामा कहाँ है? उससे जाकर कह, सेवा समिति के कोई डॉक्टर को बुला ले जाएँ। नहीं तो खैराती अस्पताल में क्यों नहीं लड़के को ले जाती? या अभी वही पुरानी बू समाई हुई है। कैसी मूर्ख स्त्री है, घर में टका नहीं और डॉक्टर का हुक्म लगा दिया। समझती होगी, फीस पंचजी दे देंगे। पंचजी क्यों फीस दे? बिरादरी का धन धर्म-कार्य के लिए है यों उड़ाने के लिए नहीं है।

रेवती माँ के पास लौटी, पर जो सुना था, वह उससे न कह सकी। घाव पर नमक क्यों छिड़के, बहाना कर दिया, बड़े पंचजी कहीं गए है।

सुशीला — तो मुनीम से क्यों नहीं कहाँ? यहाँ क्या कोई मिठाई खाए जाता था, जो दौड़ी चली आई?

इसी वक्त सन्तराम एक वैद्यजी को लेकर आ पहुँचा।

7

वैद्य भी एक दिन आकर दूसरे दिन न लौटे। सेवा-समिति के डॉक्टर भी दो दिन बड़ी मिन्नतों से आए। फिर उन्हें भी अवकाश

न रहा और मोहन की दशा दिनोंदिन बिगड़ती जाती थी। महीना बीत गया, पर ज्वर ऐसा चढ़ा कि एक क्षण के लिए भी न उतरा। उसका चेहरा इतना सूख गया कि देखकर दया आती थीं। न कुछ बोलता, न कुछ कहता, यहाँ तक कि करवट भी न बदल सकता था। पड़े-पड़े खाल फट गई, सिर के बाल गिर गए, हाथ-पाँव लकड़ी हो गए। सन्तलाल काम से छुट्टी पाता तो आ जाता, पर इससे क्या होता, तीमारदारी दया तो नहीं है।

एक दिन सन्ध्या समय उसके हाथ ठंडे हो गए। माता के प्राण पहले ही से सूखे हुए थे, यह हाल देखकर रोने-पीटने लगी। मिन्नतें तो बहुतेरी हो चुकी थीं, रोती हुई मोहन की खाट के सात फेरे करके हाथ बाँधकर बोली — भगवान, यहीं मेरे जन्म की कमाई है। अपना सर्वस्व खोकर भी मैं बालक को छाती से लगाए हुए सन्तुष्ट थी लेकिन यह चोट न सही जाएगी। तुम इसे अच्छा कर दो, इसके बदले मुझे उठा लो। बस, मैं यही दया चाहती हूँ, दयामय?

संसार के रहस्य को कौन समझ सकता है, क्या हममें से बहुतों को यह अनुभव नहीं कि जिस दिन हमने बेईमानी करके कुछ रकम उड़ाई, उसी दिन उस रकम को दुगुना नुकसान हो गया। सुशीला को उसी रात को ज्वर आ गया और उसी दिन मोहन का ज्वर उतर गया। बच्चे की सेवा-शुश्रूषा में आधी तो यों ही

रह गई थी, इस बीमारी ने ऐसा पकड़ा कि फिर न छोड़ा। मालूम नहीं, देवता बैठे सुन रहे थे या क्या, उसकी याचना अक्षरशः पूरी हुई। पन्द्रहवें दिन मोहन चारपाई से उठकर माँ के पास आया और उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। माता ने उसके गले में बाँहें डालकर उसे छाती से लगा लिया और बोली — क्यों रोते हो बेटा, मैं अच्छी हो जाऊँगी। अब मुझे क्या चिन्ता, भगवान पालने वाले है, वही तुम्हारे रक्षक है, वही तुम्हारे पिता है। अब मैं सब तरफ से निश्चिंत हूँ। जल्द अच्छी हो जाऊँगी।

मोहन बोला — जिया तो कहती है, अम्माँ अब न अच्छी होगी।

सुशीला ने बालक का चुम्बन लेकर कहा — जिया पगली है, उसे कहने दो। मैं तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगी। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। हाँ, जिस दिन तुम कोई अपराध करोगे, किसी की कोई चीज उठा लोगे, उसी दिन मैं मर जाऊँगी।

मोहन ने प्रसन्न होकर कहा — तो तुम मेरे पास से कभी नहीं जाओगी, माँ?

सुशीला ने कहा — कभी नहीं बेटा, कभी नहीं।

उसी रात को दुःख और विपत्ति की मारी हुई यह अनाथ विधवा दोनों अनाथ बालकों को भगवान पर छोड़कर परलोक सिधार गई।

8

इस घटना को तीन साल हो गए है। मोहन और रेवती दोनों उसी वृद्धा के पास रहते है। बुढिया माँ तो नहीं है लेकिन माँ से बढ़कर है। रोज मोहन को रात की रखी रोटियाँ खिलाकर गुरुजी की पाठशाला में पहुँचा आती है, छुट्टी के समय जाकर ले आती है। रेवती का अब चौदहवाँ साल है। वह घर का सारा काम — पीसना, कूटना, चौका-बर्तन, झाड़ू-बहारू करती है। बुढिया सौदा बेचने चली जाती है, तो वह दुकान पर भी आ बैठती है।

एक दिन बड़े सेठ कुबेरदास ने उसे बुला भेजा और बोले — तुझे दुकान पर बैठते शर्म नहीं आती। सारी बिरादरी की नाक कटा रही है। खबरदार, जो कल से दुकान पर बैठी। मैंने तेरे पाणिग्रहण के लिए झाबरमल जी को पक्का कर दिया है।

सेठानी ने समर्थन किया — तू अब सयानी हुई बेटी, अब तेरा इस तरह बैठना अच्छा नहीं। लोग तरह-तरह की बातें करने लगते है। सेठ झाबरमल तो राजी ही न होते थे, हमने बहुत कह-सुनकर राजी किया है। बस, समझ ले कि रानी हो जाएगी।

लाखों की सम्पत्ति है, लाखों कीं! तेरे धन्य भाग कि ऐसा वर मिला, तेरा छोटा भाई है, उसको भी कोई दुकान करा दी जाएगी।

सेठ — बिरादरी की कितनी बदनामी है।

सेठानी — 'है ही।

रेवती ने लज्जित होकर कहा — मैं क्या जानूँ, आप मामा से कहें।

सेठ ने बिगड़कर कहा — वह कौन होता है, टके पर मुनीमी करता है। उससे मैं क्या पूछूँ। मैं बिरादरी का पंच हूँ, मुझे अधिकार है जिस काम से बिरादरी का कल्याण देखूँ, वह करूँ। मैंने और पंचों की राय ले ली है। सब मुझसे सहमत है। अगर तू यों नहीं मानेगी, तो हम अदालती कार्रवाई करेंगे। तुझे खरच-बरच का काम होगा, यह लेती जा।

यह कहते हुए उन्होंने 20 रुपए के नोट रेवती की तरफ फेंक दिए।

रेवती ने उठाकर वहीं पुरजे-पुरजे कर डाले और तमतमाए मुख से बोली — बिरादरी ने तब हम लोगों की बात न पूछी, जब हम रोटियों को मुहताज थे, मेरी माता मर गई, कोई झाँकने तक न

आया। मेरा भाई बीमार हुआ, किसी ने खबर तक न ली। ऐसी बिरादरी की मुझे परवाह नहीं है।

रेवती चली गई, तो झाबरमल कोठरी से निकल आए, चेहरा उदास था।

सेठानी ने कहा — लड़की बड़ी घमंडिन है, आँख का पानी मर गया है।

झाबरमल — बीस रुपए खराब हो गए, ऐसा फाड़ा है कि जुड़ भी नहीं सकते।

कुबेरदास — तुम घबराओ नहीं, मैं इसे अदालत से ठीक करूँगा, जाती कहाँ है।

झाबरमल — अब तो आपका ही भरोसा है।

बिरादरी के बड़े पंच की बात कहीं मिथ्या हो सकती है? रेवती नाबालिग थी, माता-पिता नहीं थे, ऐसी दशा में पंचों का उस पर पूरा अधिकार था। वह बिरादरी के दबाव में नहीं रहना चाहती है, न चाहे। कानून बिरादरी के अधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकता।

सन्तलाल ने यह माजरा सुना, तो दाँत पीसकर बोले — न जाने इस बिरादरी का भगवान कब अन्त करेंगे।

रेवती — क्या बिरादरी मुझे जबरदस्ती अपने अधिकार में ले सकती है?

सन्तलाल — हाँ बेटी, धनिकों के हाथ में तो कानून भी है।

रेवती — मैं कह दूँगी कि मैं उनके पास नहीं रहना चाहती।

सन्तलाल — तेरे कहने से क्या होगा, तेरे भाग्य में यही लिखा था, तो किसका बस है। मैं जाता हूँ बड़े पंच के पास।

रेवती — नहीं मामाजी, तुम कहीं न जाओ, जब भाग्य ही का भरोसा है, तो जो कुछ भाग्य में लिखा होगा वह होगा।

रात को रेवती ने घर में काटी। बार-बार निद्रा-मग्न भाई को गले लगाती। यह अनाथ अकेला कैसे रहेगा, यह सोचकर उसका मन कातर हो जाता, पर झाबरमल की सूरत याद करके उसका संकल्प दृढ़ हो जाता।

प्रातःकाल रेवती गंगा-स्नान करने गई। यह कई महीनों से उसका नित्य का नियम था। आज जरा अंधेरा था, पर यह कोई सन्देह की बात न थी। सन्देह तब हुआ जब आठ बज गए और वह लौटकर न आई। तीसरे पहर सारी बिरादरी में खबर फैल गई, सेठ रामनाथ का कन्या गंगा में डूब गई, उसकी लाश पाई गई।

कुबेरदास ने कहा — चलो, अच्छा हुआ, बिरादरी की बदनामी तो न होगी।

झाबरमल ने दुखी मन से कहा — मेरे लिए अब कोई और उपाय कीजिए।

उधर मोहन सिर पीट-पीटकर रो रहा था और बुढ़िया उसे गोद में लिए समझा रही थी, बेटा, उस देवी के लिए क्यों रोते हो, जिन्दगी में उसको दुख-ही-दुख था। अब वह अपनी माँ की गोद में आराम कर रही है।

भूत

मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गत 30 वर्षो से वहाँ के वकील के नेता थे। उनके पिता उन्हें बाल्यावस्था में ही छोड़कर परलोक सिधार थे, घर में कोई सम्पत्ति न थी। माता ने बड़े-बड़े कष्ट झेलकर उन्हें पाला और पढ़ाया। सबसे पहले वह कचहरी में 15 रुपए मासिक पर नौकर हुए। फिर वकालत की परीक्षा दी, पास हो गए। प्रतिभा थी, दो-ही-चार वर्षो में वकालत चमक उठी। जब माता का स्वर्गवास हुआ तब पुत्र का शुमार जिले के गणमान्य व्यक्तियों में हो गया था। उनके आमदनी एक हजार रुपए महीने से कम न थी। एक विशाल भवन बनवा लिया था, कुछ जमींदारी ले ली थी, कुछ रुपए बैंक में रख दिए थे और कुछ लेन-देन में लगा दिए। इस समृद्धि पर चार पुत्रों को होना उनके भाग्य को आदर्श बनाए हुए था। चारों लड़के भिन्न-भिन्न दर्जो में पढ़ते थे। मगर यह करना कि सारी विभूति चौबेजी की अनवरत परिश्रम का फल था, उनकी पत्नी मंगला देवी के साथ अन्याय करना हैं। मंगला बड़ी ही सरल, गृह-कार्य में कुशल और पैसे का काम धेले में चलाने वाली स्त्री थी। जब तक अपना घर

न बन गया, उसने 3 रुपए से अधिक का मकान किराए पर नहीं लिया और रसोई के लिए मिसराइन तो उसने अब तक न रखी थी। उसे अगर कोई व्यसन था तो गहनों का और चौबेजी को भी अगर कोई व्यसन था तो स्त्री को गहने पहनाने का। वह सच्चे पत्नी-परायण मनुष्य थे। साधारणतः महफिलों में वेश्याओं से हँसी-मजाक कर लेना उतना बुरा नहीं समझा जाता, पर पंडित अपने जीवन में कभी नाच-गाने की महफिल में गए ही नहीं। पाँच बजे तड़के से लेकर बारह बजे रात तक उनका व्यसन मनोरंजन, पढ़ना-लिखना अनुशीलन जो कुछ था, कानून था, न उन्हें राजनीति से प्रेम था, न जाति-सेवा से, ये सभी काम उन्हें व्यर्थ से जान पड़ते थे। उनके विचार से अगर कोई काम करने लायक था, तो बस, कचहरी जाना, बहस करना, रुपए जमा करना और भोजन करके सो रहना। जैसी वेदान्ती को ब्रह्म के अतिरिक्त जगत मिथ्या जान पड़ता हैं, वैसे ही चौबेजी को कानून के सिवा सारा संसार मिथ्या प्रतीत होता था, सब माया था, एक कानून ही सत्य था।

चौबेजी के मुख-चन्द्र में केवल एक कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी, पहलौठी कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं और न अब होने की आशा ही थी। स्त्री और पुरुष, दोनो उस कन्या को याद करके रोया करते थे। लड़कियाँ बचपन में लड़कों से ज्यादा चोंचले करती हैं, उन चोंचलों के लिए दोनो प्राणी विकल रहते। माँ सोचती, लड़की होती, तो उसके लिए गहने बनवाती, उसके बाल गूँथती, लड़की पैजनियाँ पहने ठुमक-ठुमक आँगन में चलती तो कितना आनन्द आता। चौबे सोचते, कन्यादान के बिना मोक्ष कैसे होगा? कन्यादान महादान हैं, जिसने यह दान न दिया, उसका जन्म ही वृथा गया।

आखिर यह लालसा इतनी प्रबल हो गई कि मंगला ने अपनी छोटी बहन को बुलाकर कन्या की भाँति पालने का निश्चय किया। उसके माँ-बाप निर्धन थे, राजा हो गए। यह बालिका मंगला की सौतेली माँ की कन्या थी, बड़ी सुन्दर और बड़ी चंचल थी, नाम था बिन्नी।

चौबेजी का घर उसके आने से खिल उठा। दो-चार ही दिनों में लड़की अपने माँ-बाप को भूल गई। उसकी उम्र तो केवल चार वर्ष की थी, पर उसे खेलने की अपेक्षा कुछ काम करना अच्छा लगता था। मंगला रसोई बनाने जाती तो बिन्नी भी पीछे-पीछे जाती, उससे आटा गूँधने के लिए झगड़ा करती, तरकारी काटने में

उसे बड़ा मजा आता था। जब तक वकील घर पर रहते, तब तक वह उनके साथ दीवानखाने में बैठी रहती। कभी किताब उलटती, कही दवात-कलम से खेलती, चौबेजी मुस्कराकर कहते — बेटी, मार खाओगी?

बिन्नी कहती — तुम मार खाओगे, मैं तुम्हारे कान काट लूँगी, जूजू को बुलाकर पकड़ा दूँगी.

इस पर दीवानखाने पर खूब कहकहे उड़ते। वकील साहब कभी इतने बाल्यवत्सल न थे। जब बाहर से आते तो कुछ-न-कुछ सौगात बिन्नी के वास्ते जरूर लाते, और घर में कदम रखते ही पुकारते, बिन्नी बेटी, दौड़ती हुई आकर उनकी गोद में बैठ जाती।

मंगला एक दिन बिन्नी को लिए बैठी थी। इतने में पंडितजी आ गए, बिन्नी दौड़कर उसकी गोद में जा बैठी। पंडितजी ने पूछा — तू किसी बेटी हैं?

बिन्नी — न बताऊँगी।

मंगला — कह दे बेटा, जीजी की बेटी हूँ।

पंडित — तू मेरी बेटी हैं बिन्नी, कि इनकी?

बिन्नी — न बताऊँगी।

पंडित — अच्छा, हम लोग आँख बन्द किए हैं, बिन्नी जिसकी बेटी होगी, उसकी गोद में बैठ जाएगी।

बिन्नी उठी और फिर चौबेजी की गोद में बैठ गई।

पंडित — मेरी बेटी हैं, मेरी बेटी हैं, (स्त्री से) अब न कहना कि मेरी बेटी हैं।

मंगला — अच्छा, जाओ बिन्नी, अब तुम्हें मिठाई न दूँगी, गुड़िया भी न मँगा दूँगी।

बिन्नी — भैयाजी मँगवा देंगे, तुम्हें न दूँगी।

वकील साहब ने हँसकर बिन्नी को छाती से लगा लिया और गोद में लिए हुए बाहर चले। वह अपने इष्ट-मित्रों को भी इस बालक्रीड़ा का रसास्वादन कराना चाहते थे।

आज से कोई बिन्नी से पूछता हैं कि तू किसकी बेटी हैं, तो बिन्नी चट कह देती हैं — भैया की।

एक बार बिन्नी का बाप आकर उसे अपने साथ ले गया। बिन्नी ने रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। इधर चौबेजी को भी दिन काटना कठिन हो गया। एक महीना भी न गुजरने पाया था कि फिर ससुराल गए और बिन्नी को ले आए। बिन्नी अपनी माता और पिता को भूल गई। वह चौबेजी को अपना बाप और मंगला

को अपनी माँ समझने लगी। जिन्होंने उसे जन्म दिया, वे अब गैर हो गए।

3

कई साल गुजर गए। वकील साहब के बेटों के विवाह हुए। उनमें से दो अपने बाल-बच्चों को लेकर अन्य जिलों में वकालत करने चले गए। दो कॉलेज में पढ़ते थे। बिन्नी भी कली से फूल हुई। ऐसी रूप-गुण शीलवाली बालिका बिरादरी में और न थी, पढ़ने-लिखने में चतुर, घर के काम-धन्धों में कुशल, बूटे-कसीदे और सीने-पिरोने में दक्ष, पाक कला में निपुण, मधुर-भाषिणी, लज्जाशील और अनुपम रूप की राशि। अन्धेरे घर में उसके सौन्दर्य की दिव्य ज्योति से उजाला होता था। उषा की लालिमा में, ज्योत्सना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह प्राणप्रद सुषमा और वह शोभा न थी। श्वेत हेममुकुटधारी पर्वतों में भी शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विंध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।

चौबेजी ने बिन्नी के लिए सुयोग्य वर खोजना शुरू किया। लड़कों को शादियों में दिल का अरमान निकाल चुके थे, अब कन्या के

विवाह में हौसले पूरे करना चाहते थे। धन लुटाकर कीर्ति पा चुके थे, अब दान-दहेज में नाम कमाने की लालसा थी। बेटे का विवाह कर लेना आसान हैं, पर कन्या के विवाह में आबरू निबाह ले जाना कठिन हैं। नौका पर सभी यात्रा करते हैं, जो तैरकर नदी पार कर ले, वही प्रशंसा का अधिकारी हैं।

धन की कमी न थीं। अच्छा घर और सुयोग्य वर मिल गया। जन्मपत्र मिल गए, बानक बन गया, फलदान और तिलक की रस्में भी अदा कर दी गई, पर हाय रे दुर्दैव! कहाँ तो विवाह की तैयारी हो रही थी, द्वार पर दरजी, सुनार, हलवाई सब अपना-अपना काम कर रहे थे, कहाँ निर्दय विधाता ने और ही लीला रच दी। विवाह के एक सप्ताह पहले मंगला अनायास बीमार पड़ी, तीन दिन में अपने सारे अरमान लिए हुए परलोक सिधार गई।

सन्ध्या हो गई थी। मंगला चारपाई पर पड़ी हुई थी। बेटे, बहुएँ, पोते-पोतियाँ सब चारपाई के चारों ओर खड़े थे। बिन्नी पैताने में बैठी मंगला के पैर दबा रही थी। मृत्यु के समय की भयंकर निस्तब्धता छाई हुई थी, कोई किसी से न बोलता था। दिल में सब समझ रहे थे, क्या होने वाला हैं, केवल चौबेजी वहाँ न थे.

सहसा मंगला ने इधर-उधर इच्छापूर्ण दृष्टि से देखकर कहा — जरा उन्हें बुला दो, कहाँ हैं?

पंडितजी अपने कमरे में बैठे रो रहे थे। सन्देश पाते ही आँसू पोंछते हुए घर में आए और बड़े धैर्य के साथ मंगला के सामने हो गए, डर रहे थे कि मेरी आँखों से आँसू की एक बूँद भी निकली, तो घर में हाहाकार मच जाएगा।

मंगला ने कहा — एक बात पूछती हूँ, बुरा न मानना, बिन्नी तुम्हारी कौन हैं?

पंडित — बिन्नी कौन हैं? मेरी बेटी हैं और कौन?

मंगला — हाँ, मैं तुम्हारे मुँह से यही सुनना चाहती थी। उसे सदा अपनी बेटी समझने रहना। उसके विवाह के लिए मैंने जो-जो तैयारियाँ की थीं, उनमें कुछ काट-छाँट मत करना।

पंडित — इसकी कुछ चिन्ता न करो, ईश्वर ने चाहा, तो उससे कुछ ज्यादा धूम-धाम के साथ विवाह होगा।

मंगला — उसे हमेशा बुलाते रहना, तीज-त्योहार में कभी मत भूलना।

पंडित — इन बातों की मुझे याद दिलाने की जरूरत नहीं।

मंगला ने कुछ सोचकर फिर कहा — इसी साल विवाह कर देना।

पंडित — इस साल कैसे होगा?

मंगला — यह फागुन का महीना हैं, जेठ तक लगन हैं।

पंडित — हो सकेगा तो इसी साल कर दूँगा।

मंगला — हो सकने की बात नहीं, जरूर कर देना।

पंडित — कर दूँगा।

इसके बाद गोदान की तैयारी होने लगी।

4

बुढ़ापे में पत्नी की मरना बरसात में घर का गिरना हैं, फिर उसके बनने की आशा नहीं होती।

मंगला की मृत्यु से पंडितजी का जीवन अनियमित और विशृंखल-सा हो गया। लोगों से मिलना-जुलना छूट गया, कई-कई दिन कचहरी न जाते, जाते भी तो बड़े आग्रह से, भोजन से अरुचि हो गई, विन्ध्येश्वरी उनकी दशा देख-देखकर दिल में कुढ़ती और यथासाध्य उनका दिल बहलाने की चेष्टा किया करती थी, वह उन्हें आग्रह अनुरोध के साथ खिलाती थी, जब तक वह न खा लेते, वह कुछ न खाती थी। गर्मी के दिन थे ही, रात को बड़ी देर कर उनके पैताने बैठी पंखा झला करती और जब तक वह न सो

जाते, तब तक वह भी सोने न जाती। वह जरा भी सिर-दर्द की शिकायत करते, तो तुरन्त उनके सिर में तेल डालती। यहाँ तक कि रात को जब उन्हें प्यास लगी, तब खुद दौड़कर आती और उन्हें पानी पिलाती। धीरे-धीरे चौबेजी के हृदय में मंगला केवल एक सुख की स्मृति रह गई।

एक दिन चौबेजी ने बिन्नी को मंगला के सब गहने दे दिए। मंगला का यह अन्तिम आदेश था। बिन्नी फूली न समाई, उसने उस दिन खूब बनाव-सिंगार किया। जब सन्ध्या के समय पंडितजी कचहरी से आए, तो वह गहनों से लदी हुई उनके सामने कुछ लजाती और मुस्कराती हुई आकर खड़ी हो गई।

पंडितजी ने सतृष्ण नेत्रों से देखा, विन्ध्येश्वरी के प्रति उनके मन में एक नया भाव अंकुरित हो रहा था। मंगला जब तक जीवित थी, वह उनसे पिता-पुत्री के भाव को सजग और पुष्ट कराती रहती थी। अब मंगल न थी। अतएव वह भाव दिन-दिन शिथिल होता जाता था, मंगला के सामने बिन्नी एक बालिका थी, मंगला की अनुपस्थिति में वह एक रूपवती युवती थी। लेकिन सरल-हृदय बिन्नी को इसकी रत्ती-भर भी न खबर थी कि भैया के भावों में क्या परिवर्तन हो रहा हैं। उसके लिए वह वही पिता के तुल्य भैया थे। वह पुरुषों के स्वभाव से अनभिज्ञ थी। नारी-चरित्र में अवस्था के साथ मातृत्व का भाव दृढ होता जाता हैं। यहाँ तक

कि एक समय ऐसा आता हैं, जब नारी की दृष्टि में युवक मात्र पुत्र तुल्य हो जाते हैं, उनके मन में विषय-वासना का लेश भी नहीं रहा जाता, किन्तु पुरुषों में यह अवस्था कभी नहीं आतीं। उनकी कामेन्द्रियाँ क्रियाहीन भले ही हो जाए, पर विषय-वासना सम्भवतः और भी बलवती हो जाती हैं। ग्रीष्म-ऋतु के अन्तिम काल की भाँति उसकी वासना की गरमी भी प्रचंड होती जाती हैं। वह तृप्ति के लिए नीच साधनों का सहारा लेने को भी प्रस्तुत हो जाता हैं। जवानी में मनुष्य इतना नहीं गिरता। उसके चरित्र में गर्व की मात्रा अधिक रहती हैं, जो नीच साधनों से घृणा करते हैं, वह किसी के घर में घुसने के लिए जबरदस्ती कर सकता हैं, किन्तु परनाले के रास्ते नहीं जा सकता।

पंडितजी ने बिन्नी को सतृष्ण नेत्रों से देखा और अपनी इस उच्छृंखलता पर लज्जित होकर आँखें नीची कर लीं। बिन्नी इसका कुछ मतलब न समझ सकी।

पंडितजी बोले — तुम्हें देखकर मुझे मंगला की उस समय की याद आ रही हैं, जब वह विवाह के समय यहाँ आई थी। बिल्कुल ऐसी सूरत थी, यही गोरा रंग, यही प्रसन्न-मुख, यही कोमल गाल, ये ही लजीली आँखें, वह चित्र अभी तक मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ हैं। कभी मिट नहीं सकता, ईश्वर ने तुम्हारे रूप में मेरी मंगला मुझे फिर दे दी।

बिन्नी — आपके लिए क्या जलपान लाऊँ।

पंडित — ले आना, अभी बैठो, मैं बहुत दुखी हूँ, तुमने मेरे शोक को भुला दिया हैं। वास्तव में तुमने मुझे जिला लिया, नहीं तो मुझे आशा न थी कि मंगला के पीछे मैं जीवित रहूँगा, तुमने प्राणदान दिया। नहीं जानता, तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी।

बिन्नी — कहाँ चले जाने के बाद? मैं तो कहीं नहीं जा रही हूँ।

पंडित — क्यों तुम्हारे विवाह की तिथि आ रही हैं, चली ही जाओगी।

बिन्नी सकुचाती हुई बोली — ऐसी जल्दी क्या हैं?

पंडित — जल्दी क्यों नहीं, जमाना हँसेगा।

बिन्नी — हँसने दीजिए, मैं यही आपकी सेवा करती रहूँगी।

पंडित — नही बिन्नी, मेरे लिए तुम क्यों हलकान होगी, मैं अभागा हूँ, जब तक जिन्दगी हैं, जिऊँगा, चाहे रोकर जिउँ, चाहे हँस कर। हँसी मेरे भाग्य से उठ गई, तुमने इतने दिनों सम्भाल लिया, यहीं क्या कम अहसान किया, मैं जानता हूँ कि तुम्हारे जाने के बाद कोई मेरी खबर लेने वाला नहीं रहेगा, यह घर तहस-नहस हो जाएगा और मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा। पर क्या किया

जाए, लाचारी हैं, तुम्हारे बिना अब मैं क्षणभर भी नहीं रह सकता, मंगला की खाली जगह तो तुमने पूरी की, अब उसकी स्थान कौन पूरा करेगा?

बिन्नी — क्या इस साल रुक नहीं सकता, मैं इस दशा में आपको छोड़कर न जाऊँगी।

पंडित — अपने बस की बात नहीं?

बिन्नी — बहुत जल्दी मचाएँ तो आप कह दीजिएगा, अब नहीं करेंगे। उन लोगों के जी में जो आए, करे। यहाँ कोई उनका दबैल बैठा हुआ हैं?

पंडित — वे लोग अभी से आग्रह कर रहे हैं।

बिन्नी — आफ फटकार क्यों नहीं देते?

पंडित — करना तो हैं ही फिर विलम्ब क्यों करूँ? यह दुःख और वियोग तो एक दिन होना ही हैं, अपनी विपत्ति का भार तुम्हारे सिर पर क्यों रखूँ?

बिन्नी — दुःख-सुख में काम न आऊँगी, तो और किस दिन काम आऊँगी?

5

पंडितजी के मन में कई दिनों तक संग्राम होता रहा। वह बिन्नी को पिता की दृष्टि से न देख सकते थे, बिन्नी अब मंगला की बहन और उनकी साली थी, जमाना हँसेगा, तो हँसे, जिन्दगी तो आनन्द से गुजरेगी। उनकी भावनाएँ कभी इतनी उल्लासमयी न थीं, उन्हें अपने अंगों में फिर जवानी की स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था।

वह सोचते, बिन्नी को मैं अपनी पुत्री समझता था, पर वह मेरी पुत्री हैं तो नहीं, इस तरह समझने से क्या होता हैं? कौन जाने, ईश्वर को यहीं मंजूर हो, नहीं तो बिन्नी यहाँ आती ही क्यों? उसने इसी बहाने से यह संयोग निश्चित कर दिया होगा, उसकी लीला तो अपरम्पार हैं।

पंडितजी ने वर के पिता को सूचना दे दी कि कुछ विशेष कारणों से इस साल विवाह नहीं हो सकता।

विन्ध्येश्वरी को अभी तक कुछ खबर न थी कि मेरे लिए क्या-क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। वह खुश थी कि मैं भैयाजी की सेवा कर रही हूँ और भैयाजी मुझसे प्रसन्न हैं। बहन का इन्हें

बड़ा दुःख हैं, मैं न रहूँगी तो यह कहीं चले जाएँगे, कौन जाने, साधु-संन्यासी न हो जाए, घर में कैसे मन लगेगा।

वह पंडितजी का मन बहलाने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती थी। उन्हें कभी मनमारे न बैठने देती। पंडितजी का मन अब कचहरी में न लगता था। घंटे-दो-घंटे बैठकर चले आते थे। युवकों के प्रेम में विकलता होती हैं और वृद्धों के प्रेम में श्रद्धा। वे अपनी यौवन की कमी को खुशामद से, मीठी बातों से और हाजिरजवाबी से पूर्ण करना चाहते हैं।

मंगला को मरे अभी तीन महीने ही गुजरे थे कि चौबेजी ससुराल पहुँचे। सास ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसके दो पुत्र थे, घर में कुछ पूंजी न थी, उनके पालन और शिक्षा के लिए कोई ठिकाना नजर न आया, मंगला मर ही चुकी थी, लड़की का ज्योंही विवाह हो जाएगा, वह अपने घर की हो रहेगी, फिर चौबे से नाता ही टूट जाएगा, वह इसी चिन्ता में पड़ी हुई थी कि चौबेजी पहुँचे, मानो देवता स्वयं वरदान देने आए हो।

जब चौबेजी भोजन करके लेटे, तो सास ने कहा — भैया कहीं बातचीत हुई कि नहीं?

पंडित — अम्माँ, अब मेरे विवाह की बातचीत क्या होगी?

सास — क्यों भैया, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या हैं?

पंडित — करना भी चाहूँ तो बदनामी के डर से नहीं कर सकता, फिर मुझे पूछता ही कौन हैं?

सास — पूछने को हजारों हैं, दूर क्यों जाओ, अपने घर में लड़की बैठी हैं, सुना हैं, तुमने मंगला के सब गहने बिन्नी को दे दिए हैं, कहीं और विवाह हुआ तो ये कई हजार की चीजें तुम्हारे घर से निकल जाएँगी, तुमसे अच्छा घर मैं कहाँ पाऊँगी, तुम उसे अंगीकार कर लो, तो मैं तर जाऊँ।

अन्धा क्या माँगे, दो आँखें। चौबेजी ने मानो विवश होकर सास की प्रार्थना स्वीकार कर ली।

6

बिन्नी अपने गाँव के कच्चे मकान में अपना माँ के पास बैठी हुई हैं। अबकी चौबेजी ने उसकी सेवा के लिए एक लौडी भी साथ कर दी हैं, विन्ध्येश्वरी के दोनो छोटे भाई विस्मित हो-होकर उसके आभूषणों को देख रहे थे। गाँव की और कई स्त्रियाँ उसे देखने आई हुई हैं, और उसके रूपलावण्य का विकास देखकर चकित हो रही हैं, यह वही बिन्नी हैं, जो यहाँ मोटी फरिया पहने खेला करती थी, रंग-रूप कैसा निखर आया हैं, सुख की देह हैं न।

जब भीड़ कम हुई, एकान्त हुआ, तो माता ने पूछा — तेरे भैयाजी तो अच्छी तरह हैं न बेटी, यहाँ आए थे, तो बहुत दुखी थे, मंगला का शोक उन्हें खाए जाता हैं। संसार में ऐसे मर्द भी होते हैं, जो स्त्री के लिए प्राण दे देते हैं, नहीं तो स्त्री मरी और चट दूसरा ब्याह रचाया गया, मानो मनाते रहते हैं कि यह मरे तो नई-नवेली बहू घर लाएँ।

विन्ध्येश्वरी — उन्हें याद करके रोया करते हैं, चली आई हूँ, न-जाने कैसे होंगे।

माता — मुझे भी तो यही डर लगता हैं कि तेरा ब्याह हो जाने पर कहीं घबराकर साधू-फकीर न हो जाए।

विन्ध्येश्वरी — मुझे भी यही डर लगता हैं, इसी से मैंने कह दिया अभी जल्दी क्या हैं।

माता — जितने ही दिन उनकी सेवा करोगी, उतना ही स्नेह बढ़ेगा, और तुम्हारे जाने से उन्हें उतना ही दुःख भी अधिक होगा। बेटी, सच तो यह हैं कि वह तुम्हीं को देखकर जीते हैं, इधर तुम्हारी डोली उठी और उधर उनका घर सत्यानाश हुआ। मैं तुम्हारी जगह होती, तो उन्हीं से ब्याह कर लेती।

विन्ध्येश्वरी — ऐ हटो अम्माँ, गाली देती हो? उन्होंने मुझे बेटी करके पाला हैं, मैं भी उन्हें अपना पिता...।

माता — चुप रह पगली, कहने से क्या होता हैं?

विन्ध्येश्वरी — अरे सोच तो अम्माँ, कितनी बेढंगी बात हैं।

माता — मुझे तो इसमें कोई बेढंगापन नहीं दिखाई पड़ता।

विन्ध्येश्वरी — क्या कहती हो अम्माँ, उनसे मेरा — मैं तो लाज के मारे मर जाऊँ, उनके सामने ताक न सकूँ, वह भी कभी न मानेंगे, मानने का बात भी हो कोई।

माता — उनका जिम्मा मैं लेती हूँ, मैं उन्हें राजी कर लूँगी। तू राजी हो जा, याद रख यह कोई हँसी-खुशी का ब्याह नहीं हैं उनकी प्राणरक्षा की बात हैं, जिसके सिवा संसार में हमारा और कोई नहीं, फिर अभी उनकी कुछ ऐसी उम्र भी तो नहीं हैं, पचास से दो ही चार साल ऊपर होंगे, उन्होंने एक ज्योतिषी से पूछा भी था, उसने उनकी कुंडली देखकर बताया हैं कि आपकी जिन्दगी कम-से-कम 70 वर्ष की हैं। देखने-सुनने मे भी वह सौ-दो सौ में एक आदमी हैं।

बातचीत में चतुर माता ने कुछ ऐसा शब्द-व्यूह रचा कि सरल बालिका उसमें से निकल न सकी। माता जानती थी कि प्रलोभन का जादू इस पर न चलेगा, धन का, आभूषणों का, कुल-सम्मान का, सुखमय-जीवन का उसने जिक्र तक न किया। उसने केवल चौबेजी की दयनीय दशा पर जोर दिया।

7

अन्त को विन्ध्येश्वरी ने कहा — अम्माँ, मैं जानती हूँ कि मेरे न रहने से उनको बड़ा दुःख होगा, यह भी जानती हूँ कि मेरे जीवन में सुख नहीं लिखा हैं, अच्छा हैं, उनके हित के लिए मैं अपना जीवन बलिदान कर दूँगी, ईश्वर की यही इच्छा हैं, तो यही सही।

चौबेजी के घर में मंगल-गान हो रहा था, विन्ध्येश्वरी आज वधू बनकर इस घर में आई हैं, कई वर्ष पहले वह चौबेजी की पुत्री बनकर आई थी, उसने स्वप्न में भी न सोचा था कि मैं एक दिन इस घर की स्वामिनी बनूँगी।

चौबेजी की सज-धज आज देखने योग्य हैं, तनजेब का रंगीन कुरता, कतरी हुई और सँवारी हुई मूँछे, खिजाब से चमकते हुए बाल, हँसता हुआ चेहरा, चढ़ी आँखें, यौवन का पूरा स्वाँग था।

रात बीत चुकी थी। विन्ध्येश्वरी आभूषणों से लदी हुई, भारी जोड़े पहने, फर्श पर सिर झुकाए बैठी हैं, उसे कोई उत्कंठ न थी, भय न था, केवल संकोच था कि मैं उनके सामने कैसे मुँह खोलूँगी? उनकी गोद में खेली हूँ, उनके कन्धों पर बैठी हूँ, उनकी पीठ पर सवार हुई हूँ, कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी, अगर वे पिछली बातें

सोचूँ, ईश्वर उन्हें प्रसन्न रखे, जिसके लिए मैंने पुत्री बनना स्वीकार किया, वह पूर्ण हो, उनका जीवन आनन्द से व्यतीत हो।

इतने में चौबेजी आए, विन्ध्येश्वरी उठ खड़ी हुई, उसे इतनी लज्जा आई कि जी चाहा कहीं भाग जाए, खिड़की से नीचे कूद पड़े।

चौबेजी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोले — बिन्नी, मुझसे डरती हो?

बिन्नी कुछ न बोली, मूर्ति की तरह खड़ी रही, एक क्षण में चौबेजी ने उसे बिठा लिया। वह बैठ गई, उसका गला भर-भर आता था, भाग्य की निर्दय लीला, यह क्रूर क्रीड़ा उसके लिए असह्य हो रही थी।

पंडितजी ने पूछा — बिन्नी, बोलती क्यों नहीं? क्या मुझसे नाराज हो?

विन्ध्येश्वरी ने अपने कान बन्द कर लिये। यहीं परिचित आवाज वह कितने दिनों से सुनती चली आती थी, आज वह व्यंग्य से भी तीव्र और उपहास से भी कटु प्रतीत होती थी।

सहसा पंडितजी चौंक पड़े, आँखें फैल गई और दोनों हाथ मेढ़क के पैरो की भाँति सिकुड़ गए। वह दो कदम पीछे हट गए, खिड़की से मंगला झाँक रही थी! छाया नहीं, मंगला थी, सन्देह,

साकर, सजीव! उसकी आँखों में क्रोध और तिरस्कार भरा हुआ था।

चौबेजी काँपते हुए टूटी-फूटी आवाज से बोले — बिन्नी देखो, वह क्या हैं?

बिन्नी ने घबराकर खिड़की की तरफ देखा, कुछ न थी, फिर कहा — क्या हैं? मुझे तो कुछ नहीं दिखाई देता।

चौबेजी — अब गायब हो गई लेकिन ईश्वर जानता हैं, मंगला थी।

बिन्नी — बहन?

चौबेजी — हाँ-हाँ, वही, खिड़की से झाँक रही थी, मेरे तो रोएँ खड़े हो गए।

विन्धेश्वरी काँपते हुए बोली — मैं यहाँ नहीं रहूँगी।

चौबे — नहीं, नहीं, बिन्नी, कोई डर नहीं हैं, मुझे धोखा हुआ होगा, बात यह हैं कि वह घर में रहती थी, यहीं सोती थी, इसी से कदाचित मेरी भावना ने उसकी मूर्ति लाकर खड़ी कर दी, कोई बात नहीं हैं, आज का दिन कितना मंगलमय हैं कि मेरी बिन्नी यथार्थ में मेरी ही हो गई...।

यह कहते कहते चौबेजी फिर चौंके, फिर वही मूर्ति खिड़की से झाँक रही थी, मूर्ति नहीं, सन्देह, सजीव, साकार मंगला! अबकी उसकी आँखों में क्रोध न था, तिरस्कार न था, उसमें हास्य भरा हुआ था, मानो इस दृश्य पर हँस रही हैं, मानो उसके सामने कोई अभिनय हो रहा हैं।

चौबेजी ने काँपते हुए कहा — बिन्नी, फिर वही बात हुई, वह देखो मंगला खड़ी हैं।

विन्ध्येश्वरी चीखकर उनके गले से चिमट गई।

चौबेजी ने महावीर का नाम जपते हुए कहा — मैं किवाड़ बन्द किए देता हूँ।

बिन्नी — मैं अब इस घर में नहीं रहूँगी, (रोकर) भैयाजी, तुमने बहन के अन्तिम आदेश को नहीं माना, इसी से उनकी आत्मा दुखी हो रही हैं, मुझे तो किसी अमंगल की आशंका हो रही हैं।

चौबेजी ने उठकर खिड़की के द्वार बन्द कर दिए और कहा — मैं कल से दुर्गापाठ कराऊँगा, आज तक कभी ऐसा शंका न हुई थी, तुमसे क्या कहूँ, मालूम होता है... होगा, उस बात को जाने दो, यहाँ बड़ी गरमी पड़ रही हैं, अपनी पानी गिरने को दो महीने से कम नहीं हैं, हम लोग मंसूरी क्यों न चले।

विन्ध्येश्वरी — मेरा तो कहीं जाने का जी नहीं चाहता, कल से दुर्गापाठ जरूर कराना, मुझ अब इस कमरे में नींद न आएगी।

पंडित — ग्रंथों में तो यहीं देखा हैं कि मरने के बाद केवल सूक्ष्म शरीर रह जाता हैं, फिर समझ में नहीं आता, यह स्वरूप क्योंकर दिखाई दे रहा हैं। मैं सच कहता हूँ बिन्नी, अगर तुमने मुझ पर यह दया न की होती, तो मैं कहीं का न रहता, शायद इस वक्त मैं बद्रीनाथ के पहाड़ों पर सिर टकराता होता, या कौन जाने विष खाकर प्राणान्त कर चुका होता।

विन्धेश्वरी — मंसूरी में किसी होटल में ठहरना पड़ेगा।

पंडित — नहीं मकान भी मिलते हैं, मैं अपने मित्र को लिखे देता हूँ, वह कोई मकान ठीक कर रखेंगे वहाँ...।

बात पूरी न होने पाई थी कि न-जान कहाँ से जैसे आकाशवाणी हो, आवाज आई — बिन्नी तुम्हारी पुत्री हैं।

चौबेजी ने दोनो कान बन्द कर लिए, भय से थर-थर काँपते हुए बोले — बिन्नी, यहाँ से चलो, न जाने कहाँ से आवाजें आ रही हैं।

बिन्नी तुम्हारी पुत्री हैं — यह ध्वनि सहस्रों कानों से पंडितजी को सुनाई पड़ने लगी, मानो इस कमरे की एक-एक वस्तु से यही आवाज आ रही हैं।

बिन्नी ने रोकर पूछा — कैसी आवाज थी?

पंडित — क्या बताऊँ, कहते लज्जा आती हैं।

बिन्नी — जरूर बहनजी की आत्मा हैं, बहन। मुझ पर दया करो, मैं सर्वथा निर्दोष हूँ।

पंडित — फिर वही आवाज आ रही हैं, हाय ईश्वर, कहाँ जाऊँ? मेरे तो रोम-रोम में वे ही शब्द गूँज रहे हैं, बिन्नी, बुरा किया, मंगला सती थी, उसके आदेश की उपेक्षा करके मैंने अपने हक में जहर बोया, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?

यह कहकर पंडितजी ने कमरे के किवाड़ खोल दिए और बेतहाशा भागे। अपने मरदाने कमरे में पहुँचकर वह गिर पड़े, मूर्झा आ गई। विन्ध्येश्वरी भी दौड़ी, पर चौखट से बाहर निकलते ही गिर पड़ी!

सवा सेर गेहूँ

किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम न किसी के लेने में न देने में । छक्का पंजा न जानता था, छल प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठग विद्या न जानता था। भोजन मिला खा लिया न मिला चबेने पर काट दी, चबेना न मिला तो पानी पी लिया, और राम का नाम लेकर सो रहा । किन्तु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था तो उसे निवृति मार्ग का त्याग न करना पड़ता था। विशेष कर जब कोई साधु महात्मा पदार्पण करते थे तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ता थी। खुद भूखा सो सकता था पर साधु को कैसे भूखा सुलाता? भगवान के भक्त ठहरे?

एक दिन संध्या के समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर । संपूर्ण वेश उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योगसिद्धि प्राप्त

करने के लिए रुचिकर भोजन करते है। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता, प्राचीन काल में जौ का चाहे जो कुछ महत्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरूषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिंता हुई, महात्मा जी को क्या खिलाऊँ । आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव-भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतः देवताओं का पदार्थ कैसे मिलता?

सौभाग्य गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े से गेहूँ मिल गये। उसने सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा जी ने भोजन किया, लम्बी तान कर सोये । प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी किया करते थे । शंकर ने दिल में कहा — सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहान दे दूँगा, यह भी समझ जायेंगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ पसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया। और अपने को उऋण समझ कर उसकी कोई चरचा न की। विप्र जी नें फिर कभी न माँगा । सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए उसे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

सात साल गुजर गये । विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हुआ। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक सात रहकर दोनों किसान थे, अलग हो कर मजूर हो गये थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग न भड़कने पाये, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया।

जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जायँगे, एक रोयेगा तो दूसरा हँसेगा, एक के घर में मातम होगा तो दूसरे के घर में गुलगुले पकेंगे। प्रेम का बंधन, खून का बंधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता हैं। उसमे भगीरथ परिश्रम से कुल-मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसको जड़ से उखड़ता देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत न देखी। दिन भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुँह लपेट कर सो रहता इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, माँस और मज्जा को घुला दिया । बीमार पड़ा तो महीनों तक खाट से न उठा। अब गुजर बसर कैसे हो? पाँच बीघे के आधे खेत रह गये, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादा रक्षा का साधन मात्र रह गयी। जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गये, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा तो राह में विप्र जी ने टोक कर कहा — शंकर, कल आके अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साठे पाँच मन गेहूँ कब के बाकी पड़े हुए है और तू देने का नाम नही लेता, हजम करने का मन है क्या?

शंकर ने चकित हो कर कहा — मैंने तुमसे कब गेहूँ लिये थे जो साढे पाँच मन हो गये? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का न छटाँक भर अनाज है न एक पैसा उधार।

विप्र — इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नही जुड़ता। यह कहकर विप्र ने उस सवा सेर का जिक्र किया, जो आज से सात वर्ष पहले शंकर को दिया था। शंकर सुनकर अवाक रह गया । ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्हें मेरा कौन सा काम किया? जब पोथी-पत्रा देखने साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ न कुछ दक्षिणा ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति से कर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, क्या इसी नीयत से चुपचाप बैठे रहे। बोला — महाराज नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नही दिया, पर कई बार खलिहानी में सेर-सेर दो-दो से दिया है। अब आप साढ़े पाँच मन माँगते है, मै कहाँ से दूँगा?

विप्र — लेखा जौ-जौ, बखसी सौ-सौ! तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नही। चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहो हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेंक दूँ, नही तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर — पांडे. क्यो गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नही इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा?

विप्र — जिसके घर से चाहो लाओ, मैं छटाँक भर न छोडूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान के घर दोगे।

शंकर काँप उठा। हम पढ़े लिखे आदमी होते तो कह देते अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे। वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम से कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नही, फिर उसकी क्या चिंता । किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार चतुर न था। एक तो ऋण — वह भी ब्राह्मण का — बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल से उसे रोमांच हो आया। बोला — महाराज, तुम्हारा जितना होगा दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दें, इस जनम में तो ठोकर ही खा रहा हूँ, उस जन्म के लिए क्या बोऊँ। मगर यह कोई नियाव नही है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं

करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता? मैं तो दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।

विप्र — वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यो होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई बंधु है। ऋषि-मुनि सब तो ब्राह्मण ही है, देवता भी ब्राह्मण है, जो कुछ बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो?

शंकर — मेरे पास रखा तो नही, किसी से माँग-जाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा.

विप्र — मै यह न मानूँगा। सात साल हो गये, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा। गेहूँ नही दे सकते, दस्तावेज लिख दो।

शंकर — मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो, चाहे दस्तावेज लिखाओ। किस हिसाब से दाम रखोंगे?

विप्र — बाजार भाव पाँच सेर का है, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर — जब दे ही रहा हूँ तो बाजार-भाव काटूँगा, पाव भर छुड़ाकर क्यो दोषी बनूँ। हिसाब लगाया तो गेहूँ का दाम साठ रुपये हुए। साठ रूपये का दस्तावेज लिखा गया, तीन रूपया

सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद का दर साढ़े तीन रुपये सैकड़े, बारह आने का स्टाम्प, एक रूपया दस्तावेज की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव-भर ने विप्र की निन्दा की, लेकिन मुँह पर नही। महाजन से सभी को काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आये।

3

शंकर ने साल भर कठिन तपस्या की। मीयाद के पहले रूपया अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बंद हुआ। केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जाती। पैसे रोज का तम्बाकू पी जाता था। यही एक व्यसन था जिसका वह कभी त्याग न कर सका था। अब व्यसन भी इस कठिन व्रत के भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तम्बाकू की हाँड़ी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले ही त्याग की सीमा तक पहुँच चुके थे, अब प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गये। शिशिर की अस्थि-वेधक शीत को उसने आग ताप कर काट लिया। इस ध्रुव संकल्प का फल आशा से

बढ़कर निकला। साल के अंत में उसके पास साठ रूपये जमा हो गये। उसने समझा, पंडित जी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा, महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाजिर करूँगा। पन्द्रह रूपये की तो बात है, क्या पंडित जी इतना भी न मानेंगे? उसने रुपये लिए और ले जाकर पंडित जी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिये। पंडित जी ने विस्मित होकर पूछा — किसी से उधार लिये क्या?

शंकर — नही महाराज, आपके आसीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र — लेकिन यह तो साठ रुपये ही हैं।

शंकर — हाँ, महाराज, इतने अभी लीजिए बाकी दो-तीन महीने में दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र — उरिन तो तभी होगे जब मेरी कौड़ी-कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे पन्द्रह रुपये और लाओ।

शंकर — महाराज, इतनी दया करो, अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नही है, गाँव में हूँ तो कभी न कभी दे ही दूँगा ।

विप्र — मै यह रोग नही पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से साढ़े तीन रूपये सैकड़े का

ब्याज लगेगा। अपने रूपये चाहे अपने घर में रखो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर — अच्छा जितनी लाया हूँ उतना रख लीजिए । जाता हूँ कहीं से पन्द्रह रुपये और लाने की फिक्र करता हूँ ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी न रुपये न दिये, इसलिए कि उसका विश्वास न था या किसी के पास रुपया न था, बल्कि इसलिए की पंडित के शिकार को छेड़ने की किसी में हिम्मत न थी।

4

क्रिया के पश्चात प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल भर तक तपस्या कर ने पर जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसका संयम निराशा के रुप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतने कष्ट सहने पर भी साल भर में साठ रुपये से अधिक जमा न कर सका तो अब और कौन सा उपाय है जिसके द्वारा उससे दूने रुपये जमा हो । जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मेहनत से घृणा हो गयी। आशा

उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक है शक्ति है। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरुरतें जिनको उसने साल भर तक टाल रखा था, अब द्वार पर खड़ी होने वाली भिखारिणी न थी, बल्कि छाती पर सवार होने वाली पिशाचिनियाँ थी जो अपने भेंट लिये बिना जान नही छोड़ती । कपड़ों में चकतियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता। कभी कपड़े लाता, कभी खाने को कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था, वहाँ अब गाँजे और चरस का भी चस्का लगा । उसे रुपये अदा करने की कोई चिन्ता न थी, मानो उसके ऊपर किसी का पैसा नही आता। पहले जूडी चढ़ी होती थी, पर वह कान करने अवश्य जाता था। अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता ।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गये। विप्र जी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे । पहले से शिकार को चौकाना उसकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडित जी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। साठ रुपये जो जमा थे वह मिनहा करने पर शंकर के जिम्मे एक सौ बीस रुपये निकले।

शंकर — इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नही हो सकते।

विप्र — मैं इसी जन्म में लूँगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर — एक बैल है, वह ले लीजिए, एक झोपड़ी है, वह ले लीजिए और मेरे पास क्या रखा है?

विप्र — मुझे बैल-बधिया ले कर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर — और क्या है महाराज?

विप्र — कुछ नही है तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो। मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना पड़ता हैं। सूद में हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल दे देना। सच तो यौ है कि अब तुम किसी दूसरी जगह कान करने नही जा सकते, जब तक मेरे रुपये नही चुका दो । तुम्हारे पास कोई जायदाद नही है, इतनी बड़ी गठरी मै किस एतबार पर छोड़ दूँ। कौन इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे? और कही कमा कर अब तुम मुझे सूद भी नही दे सकते, तो मूल की कौन कहै?

शंकर — महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या?

विप्र — तुम्हारी घरवाली है, लड़के है, क्या वे हाथ पाँव कटा के बैठेंगे। रहा मै तुम्हें आध सेर जौ रोज कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कम्बल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिए? यह सच है कि और लोग तुम्हें छः आने रोज देते है लेकिन मुझे ऐसी गरज नही है, मै तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिए रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिंता मे पड़े रहने के बाद कहा — महाराज, यह तो जन्म भर की गुलामी हुई।

विप्र — गुलामी समझो, चाहे मजूरी समझो। मै अपने रुपये भराये बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की दूसरी बात है।

इस निर्णय की कही अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता? शरण न थी, भाग कर कहाँ जाता? दूसरे दिन उसने विप्र के यहाँ काम करना शुरु कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरो में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से संतोष होता था तो यह था कि यह मेरे पूर्वजन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किये थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर

चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति आजीवन उसके सिर से न उतरे।

5

शंकर ने विप्र जी के यहाँ बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। एक सौ बीस रूपये अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडित जी ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा । इतने अन्यायी नही, इतने निर्दय वे न थे। उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी। आज तक वह विप्र जी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नही, ईश्वर ही जाने।

पाठक, इस वृतांत को कपोल कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरो और ऐसे विप्रो से दुनिया खाली नही है।

सभ्यता का रहस्य

यों तो मेरी समझ में दुनिया की एक हजार एक बातें नहीं आती — जैसे लोग प्रातःकाल उठते ही बालों पर छुरा क्यों चलाते हैं? क्या अब पुरुषों में भी इतनी नजाकत आ गयी है कि बालों का बोझ उनसे नहीं सँभलता? एक साथ ही सभी पढ़े-लिखे आदमियों की आँखें क्यों इतनी कमजोर हो गयी है? दिमाग की कमजोरी ही इसका कारण है या और कुछ? लोग खिताबों के पीछे क्यों इतने हैरान होते हैं? इत्यादि — लेकिन इस समय मुझे इन बातों से मतलब नहीं। मेरे मन में एक नया प्रश्न उठ रहा है और उसका जवाब मुझे कोई नहीं देता। प्रश्न यह है कि सभ्य कौन है और असभ्य कौन? सभ्यता के लक्षण क्या हैं? सरसरी नजर से देखिए, तो इससे ज्यादा आसान और कोई सवाल ही न होगा। बच्चा-बच्चा इसका समाधान कर सकता है। लेकिन जरा गौर से देखिए, तो प्रश्न इतना आसान नहीं जान पड़ता। अगर कोट-पतलून पहनना, टाई-हैट कालर लगाना, मेज पर बैठकर खाना खाना, दिन में तेरह बार कोको या चाय पीना और सिगार पीते हुए चलना सभ्यता है, तो उन गोरों को भी सभ्य कहना पड़ेगा, जो

सड़क पर बैठकर शाम को कभी-कभी टहलते नजर आते हैं; शराब के नशे से आँखें सुर्ख, पैर लड़खड़ाते हुए, रास्ता चलनेवालों को अनायास छेड़ने की धुन! क्या उन गोरों को सभ्य कहा जा सकता है? कभी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सभ्यता कोई और ही चीज है, उसका देह से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना मन से।

2

मेरे इने-गिने मित्रों में एक राय रतनकिशोर भी हैं। आप बहुत ही सहृदय, बहुत ही उदार, बहुत शिक्षित और एक बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छा वेतन पाने पर भी उनकी आमदनी खर्च के लिए काफी नहीं होती। एक चौथाई वेतन तो बँगले ही की भेंट हो जाती है। इसलिए आप बहुधा चिंतित रहते हैं। रिश्वत तो नहीं लेते — कम-से-कम मैं नहीं जानता, हालाँकि कहने वाले कहते हैं — लेकिन इतना जानता हूँ कि वह भत्ता बढ़ाने के लिए दौरे पर बहुत रहते हैं, यहाँ तक कि इसके लिए हर साल बजट की किसी दूसरे मद से रुपये निकालने पड़ते हैं। उनके अफसर कहते हैं, इतने दौरे क्यों करते हो, तो जवाब देते हैं, इस जिले का काम ही ऐसा है कि जब तक खूब दौरे न किए जाएँ रिआया शांत नहीं रह

सकती। लेकिन मजा तो यह है कि राय साहब उतने दौरे वास्तव में नहीं करते, जितने कि अपने रोजनामचे में लिखते हैं। उनके पड़ाव शहर से पचास मील पर होते हैं। खेमे वहाँ गड़े रहते हैं, कैंप के अमले वहाँ पड़े रहते हैं और राय साहब घर पर मित्रों के साथ गप-शप करते रहते हैं, पर किसी की मजाल है कि राय साहब की नेकनीयती पर सन्देह कर सके। उनके सभ्य पुरुष होने में किसी को शंका नहीं हो सकती।

एक दिन मैं उनसे मिलने गया। उस समय वह अपने घसियारे दमड़ी को डाँट रहे थे। दमड़ी रात-दिन का नौकर था, लेकिन घर रोटी खाने जाया करता था। उसका घर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव में था। कल रात को किसी कारण से यहाँ न आ सका। इसलिए डाँट पड़ रही थी।

राय साहब — जब हम तुम्हें रात-दिन के लिए रखे हुए हैं, तो तुम घर पर क्यों रहे? कल के पैसे कट जायेंगे।

दमड़ी — हजूर, एक मेहमान आ गये थे, इसी से न आ सका।

राय साहब — तो कल के पैसे उसी मेहमान से लो।

दमड़ी — सरकार, अब कभी ऐसी खता न होगी।

राय साहब — बक-बक मत करो।

दमड़ी — हजूर......

राय साहब — दो रुपये जुरमाना।

दमड़ी रोता चला गया। रोजा बख्शाने आया था, नमाज़ गले पड़ गयी। दो रुपये जुरमाना ठुक गया। खता यही थी कि बेचारा कसूर माफ कराना चाहता था।

यह एक रात को गैरहाज़िर होने की सजा थी! बेचारा दिन-भर का काम कर चुका था, रात को यहाँ सोया न था, उसका दण्ड! और घर बैठे भत्ते उड़ानेवाले को कोई नहीं पूछता! कोई दंड नहीं देता। दंड तो मिले और ऐसा मिले कि जिंदगी-भर याद रहे; पर पकड़ना तो मुश्किल है। दमड़ी भी अगर होशियार होता, तो जरा रात रहे आकर कोठरी में सो जाता। फिर किसे खबर होती कि वह रात को कहाँ रहा। पर गरीब इतना चंट न था।

3

दमड़ी के पास कुल छ: बिस्वे जमीन थी। पर इतने ही प्राणियों का खर्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और स्त्री, सब खेती में लगे रहते थे, फिर भी पेट की रोटियाँ नहीं मयस्सर होती

थीं। इतनी जमीन क्या सोना उगल देती! अगर सब-के-सब घर से निकल मजदूरी करने लगते, तो आराम से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे! उसके वेतन का बड़ा भाग बैलों के दाने-चारे ही में उड़ जाता था। ये सारी तकलीफें मंजूर थीं, पर खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मंजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है, चाहे वह रुपया रोज ही क्यों न कमाये? किसानी के साथ मजदूरी करना इतने अपमान की बात नहीं, द्वार पर बँधे हुए बैल हुए बैल उसकी मान-रक्षा किया करते हैं, पर बैलों को बेचकर फिर कहाँ मुँह दिखलाने की जगह रह सकती है!

एक दिन राय साहब उसे सरदी से काँपते देखकर बोले — कपड़े क्यों नहीं बनवाता? काँप क्यों रहा है?

दमड़ी — सरकार, पेट की रोटी तो पूरा ही नहीं पड़ती, कपड़े कहाँ से बनवाऊँ?

राय साहब — बैलों को बेच क्यों नहीं डालता? सैकड़ों बार समझा चुका, लेकिन न-जाने क्यों इतनी मोटी-सी बात तेरी समझ में नहीं आती।

दमड़ी — सरकार, बिरादरी में कहीं मुँह दिखाने लायक न रहूँगा। लड़की की सगाई न हो पायेगी, टाट बाहर कर दिया जाऊँगा।

राय साहब — इन्हीं हिमाकतों से तुम लोगों की यह दुर्गति हो रही है। ऐसे आदमियों पर दया करना भी पाप है। (मेरी तरफ फिर कर) क्यों मुंशीजी, इस पागलपन का भी कोई इलाज है? जाड़ों मर रहे हैं, पर दरवाजे पर बैल जरूर बाँधेगे।

मैंने कहा — जनाब, यह तो अपनी-अपनी समझ है।

राय साहब — ऐसी समझ को दूर से सलाम कीजिए। मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था। कई हजार रुपयों पर पानी फिर जाता था। गाना होता था; दावतें होती थीं, रिश्तेदारों को न्योते दिये जाते थे, गरीबों को कपड़े बाँटे जाते थे। वालिद साहब के बाद पहले ही साल मैंने उत्सव बन्द कर दिया। फायदा क्या? मुफ्त में चार-पाँच हजार की चपत खानी पड़ती थी। सारे कसबे में वावेला मचा, आवाजें कसी गयीं, किसी ने नास्तिक कहा, किसी ने ईसाई बनाया लेकिन यहाँ इन बातों की क्या परवा! आखिर थोड़े ही दिनों में सारा कोलाहल शान्त हो गया। अजी, बड़ी दिल्लगी थी। कसबे में किसी के यहाँ शादी हो, लकड़ी मुझसे ले! पुश्तों से यह रस्म चली आती थी। वालिद तो दूसरों से दरख्त मोल लेकर इस रस्म को निभाते थे। थी

हिमाकत या नहीं? मैंने फौरन लकड़ी देना बन्द कर दिया। इस पर भी लोग बहुत रोये-धोये, लेकिन दूसरों का रोना-धोना सुनूँ, या अपना फायदा देखूँ। लकड़ी से कम-से-कम 500) रुपये सलाना की बचत हो गयी। अब कोई भूलकर भी इन चीजों के लिए दिक करने नहीं आता।

मेरे दिल में फिर सवाल पैदा हुआ, दोनों में कौन सभ्य है, कुल-प्रतिष्ठा पर प्राण देनेवाले मूर्ख दमड़ी; या धन पर कुल-मर्यादा को बलि देनेवाले राय रतन किशोर!

4

राय साहब के इजलास में एक बड़े मार्के का मुकदमा पेश था। शहर का एक रईस खून के मामले में फँस गया था। उसकी जमानत के लिए राय साहब की खुशामदें होने लगीं। इज्जत की बात थी। रईस साहब का हुक्म था कि चाहे रियासत बिक जाय, पर इस मुकदमे से बेदाग निकल जाऊँ। डालियाँ लगाई गयीं, सिफारिशें पहुँचाई गयीं, पर राय साहब पर कोई असर न हुआ। रईस के आदमियों को प्रत्यक्ष रूप से रिश्वत की चर्चा करने की

हिम्मत न पड़ती थी। आखिर जब कोई बस न चला, तो रईस की स्त्री से मिलकर सौदा पटाने की ठानी।

रात के दस बजे थे। दोनों महिलाओं में बातें होने लगीं। 20 हजार की बातचीत थी! राय साहब की पत्नी तो इतनी खुश हुई कि उसी वक्त राय साहब के पास दौड़ी हुई आयी और कहने लगी — ले लो, ले लो! तुम न लोगे, तो मैं ले लूँगी।

राय साहब ने कहा — इतनी बेसब्र न हो। वह तुम्हें अपने दिल में क्या समझेंगी? कुछ अपनी इज्जत का भी खयाल है या नहीं? माना कि रकम बड़ी है और इससे मैं एकबारगी तुम्हारी आये दिन की फरमायशों से मुक्त हो जाऊँगा, लेकिन एक सिविलियन की इज्जत भी तो कोई मामूली चीज नहीं है। तुम्हें पहले बिगड़कर कहना चाहिए था कि मुझसे ऐसी बेहूदा बातचीत करनी हो, तो यहाँ से चली जाओ। मैं अपने कानों से नहीं सुनना चाहती।

स्त्री — यह तो मैंने पहले ही किया, बिगड़कर खूब खरी-खोटी सुनायीं। क्या इतना भी नहीं जानती? बेचारी मेरे पैरों पर सर रखकर रोने लगी।

राय साहब — यह कहा था कि राय साहब से कहूँगी, तो मुझे कच्चा ही चबा जायेंगे?

यह कहते हुए राय साहब ने गदगद होकर पत्नी को गले लगा लिया।

स्त्री — अजी, मैं न-जाने ऐसी कितनी ही बातें कह चुकी, लेकिन किसी तरह टाले नहीं टलती। रो-रोकर जान दे रही है।

राय साहब — उससे वादा तो नहीं कर लिया?

स्त्री — वादा? मैं रुपये लेकर सन्दूक में रख आयी। नोट थे।

राय साहब — कितनी जबरदस्त अहमक हो, न मालूम ईश्वर तुम्हें कभी समझ भी देगा या नहीं।

स्त्री — अब क्या देगा? देना होता, तो दे न दी होती।

राय साहब — हाँ मालूम तो ऐसा ही होता है। मुझसे कहा तक नहीं और रुपये लेकर सन्दूक में दाखिल कर लिए! अगर किसी तरह बात खुल जाय, तो कहीं का न रहूँ।

स्त्री — तो भाई, सोच लो। अगर कुछ गड़बड़ हो, तो मैं जाकर रुपये लौटा दूँ।

राय साहब — फिर वही हिमाकत! अरे, अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। ईश्वर पर भरोसा करके जमानत लेनी पड़ेगी। लेकिन तुम्हारी हिमाकत में शक नहीं। जानती हो, यह साँप के मुँह में उँगली डालना है। यह भी जानती हो कि मुझे ऐसी बातों से

कितनी नफरत है, फिर भी बेसब्र हो जाती हो। अबकी बार तुम्हारी हिमाकत से मेरा व्रत टूट रहा है। मैंने दिल में ठान लिया था कि अब इस मामले में हाथ न डालूँगा, लेकिन तुम्हारी हिमाकत के मारे जब मेरी कुछ चलने भी पाये?

स्त्री — मैं जाकर लौटाये देती हूँ।

राय साहब — और मैं जाकर जहर खाये लेता हूँ।

इधर तो स्त्री-पुरुष में यह अभिनय हो रहा था, उधर दमड़ी उसी वक्त अपने गाँव के मुखिया के खेत से जुआर काट रहा था। आज वह रात-भर की छुट्टी लेकर घर गया था। बैलों के लिए चारे का एक तिनका भी नहीं है। अभी वेतन मिलने में कई दिन की देर थी, मोल ले न सकता था। घर वालों ने दिन को कुछ घास छीलकर खिलायी तो थी, लेकिन ऊँट के मुँह में जीरा। उतनी घास से क्या हो सकता था। दोनों बैल भूखे खड़े थे। दमड़ी को देखते ही दोनों पूँछें खड़ी करके हुँकारने लगे। जब वह पास गया तो दोनों उसकी हथेलियाँ चाटने लगे। बेचारा दमड़ी मन मसोसकर रह गया। सोचा, इस वक्त तो कुछ हो नहीं सकता, सबेरे किसी से कुछ उधार लेकर चारा लाऊँगा।

लेकिन जब ग्यारह बजे रात उसकी आँखें खुलीं, तो देखा कि दोनों बैल अभी तक नाँद पर खड़े हैं। चाँदनी रात थी, दमड़ी को जान

पड़ा कि दोनों उसकी ओर उपेक्षा और याचना की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी क्षुधा-वेदना देखकर उसकी आँखें सजल हो आयीं। किसान को अपने बैल अपने लड़कों की तरह प्यारे होते हैं। वह उन्हें पशु नहीं, अपना मित्र और सहायक समझता। बैलों को भूखे खड़े देखकर नींद आँखों से भाग गयी। कुछ सोचता हुआ उठा। हँसिया निकाली और चारे की फिक्र में चला। गाँव के बाहर बाजरे और जुआर के खेत खड़े थे। दमड़ी के हाथ काँपने लगे। लेकिन बैलों की याद ने उसे उत्तेजित कर दिया। चाहता, तो कई बोझ काट सकता था; लेकिन वह चोरी करते हुए भी चोर न था। उसने केवल उतना ही चारा काटा, जितना बैलों को रात-भर के लिए काफी हो। सोचा, अगर किसी ने देख भी लिया, तो उससे कह दूँगा, बैल भूखे थे, इसलिए काट लिया। उसे विश्वास था कि थोड़े-से चारे के लिए कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कुछ बेचने के लिए तो काट नहीं रहा हूँ; फिर ऐसा निर्दयी कौन है, जो मुझे पकड़ ले। बहुत करेगा, अपने दाम ले लेगा। उसने बहुत सोचा। चारे का थोड़ा होना ही उसे चोरी के अपराध से बचाने को काफी था। चोर उतना काटता, जितना उससे उठ सकता। उसे किसी के फायदे और नुकसान से क्या मतलब? गाँव के लोग दमड़ी को चारा लिये जाते देखकर बिगड़ते जरूर, पर कोई चोरी के इलजाम में न फँसाता, लेकिन संयोग से

हल्के के थाने का सिपाही उधर जा निकला। वह पड़ोस के एक बनिये के यहाँ जुआ होने की खबर पाकर कुछ ऐंठने की टोह में आया था। दमड़ी को चारा सिर पर उठाते देखा, तो सन्देह हुआ। इतनी रात गये कौन चारा काटता है? हो न हो, कोई चोरी से काट रहा है, डाँटकर बोला — कौन चारा लिए जाता है? खड़ा रह!

दमड़ी ने चौककर पीछे देखा, तो पुलिस का सिपाही! हाथ-पाँव फूल गये, काँपते हुए बोला — हुजूर, थोड़ा ही-सा काटा है, देख लीजिए।

सिपाही — थोड़ा काटा हो या बहुत, है तो चोरी। खेत किसका है?

दमड़ी — बलदेव महतो का।

सिपाही ने समझा था, शिकार फँसा, इससे कुछ ऐंठँगा; लेकिन वहाँ क्या रखा था। पकड़कर गाँव में लाया और जब वहाँ भी कुछ हत्थे चढ़ता न दिखाई दिया तो थाने ले गया। थानेदार ने चालान कर दिया। मुकदमा राय साहब ही के इजलास में पेश किया।

राय साहब ने दमड़ी को फँसे हुए देखा, तो हमदर्दी के बदले कठोरता से काम लिया। बोले — यह मेरी बदनामी की बात है। तेरा क्या बिगड़ा, साल-छ: महीने की सजा हो जायेगी, शर्मिन्दा तो मुझे होना पड़ रहा है! लोग यही तो कहते होंगे कि राय साहब के

आदमी ऐसे बदमाश और चोर हैं। तू मेरा नौकर न होता, तो मैं हलकी सजा देता; लेकिन तू मेरा नौकर है, इसलिए कड़ी-से-कड़ी सजा दूँगा। मैं यह नहीं सुन सकता कि राय साहब ने अपने नौकर के साथ रिआयत की।

यह कहकर राय साहब ने दमड़ी को छः महीने की सख्त कैद का हुक्म सुना दिया।

उसी दिन उन्होंने खून के मुकदमे में जमानत ले ली। मैंने दोनों वृत्तान्त सुने और मेरे दिल में यह ख्याल और भी पक्का हो गया कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे-से-बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उस पर परदा डाल सकते हैं, तो आप सभ्य हैं, सज्जन हैं, जेन्टिलमैन हैं। अगर आप में यह सिफ़त नहीं तो आप असभ्य हैं, गँवार हैं, बदमाश हैं। यह सभ्यता का रहस्य है!

समस्या

मेरे दफ्तर में चार चपरासी हैं। उनमें एक का नाम गरीब है। वह बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहने वाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला यथा नाम तथा गुण वाला मनुष्य है। मुझे इस दफ्तर में साल-भर होते हैं, मगर मैंने उसे एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया। मैं उसे 9 बजे दफ्तर में अपनी फटी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी हो गया हूँ कि मानो वह भी उसी इमारत का कोई अंग है। इतना सरल है कि किसी की बात टालना नहीं जाना। एक मुसलमान है। उससे सारा दफ्तर डरता है, मालूम नहीं क्यों? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के और कुछ नहीं मालूम होता। उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपुर रियासत में काजी हैं, फूफा टोंक की रियासत में कोतवाल हैं। उसे सर्वसम्मति ने 'काजी-साहेब' की उपाधि दे रखी है। शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण हैं। उनके आशीर्वादों का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक है। ये तीनों कामचोर, गुस्ताख और आलसी हैं। कोई छोटा-सा काम करने को भी कहिए तो बिना नाक-भौं

सिकोड़े नहीं करते। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही नहीं! केवल बड़े बाबू से कुछ दबते हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे झगड़ बैठते हैं। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी दफ्तर में किसी की मिट्टी इतनी खराब नही है, जितनी बेचारे गरीब की। तरक्की का अवसर आया है, तो ये तीनों मार ले जाते हैं, गरीब को कोई पूछता भी नहीं। और सब दस-दस पाते हैं, वह अभी छः ही में पड़ा हुआ है। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी नहीं टिकते — यहाँ तक कि तीनों चपरासी उस पर हुकूमत जताते हैं और ऊपर की आमदनी में तो उस बेचारे का कोई भाग ही नहीं। तिस पर भी दफ्तर के सब कर्मचारी — दफ्तरी से लेकर बाबू तक सब — उससे चिढ़ते हैं। उसकी कितनी ही बार शिकायतें हो चुकी हैं, कितनी ही बार जुर्माना हो चुका है और डाँट-डपट तो नित्य ही हुआ करती है। इसका रहस्य कुछ मेरी समझ में न आता था। हाँ, मुझे उस पर दया अवश्य आती थी, और आपने व्यवहार से मैं यह दिखाना चाहता था कि मेरी दृष्टि में उसका आदर चपरासियों से कम नहीं। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे अन्य कर्मचारियों से लड़ भी चुका हूँ।

2

एक दिन बड़े बाबू ने गरीब से अपनी मेज साफ करने को कहा। वह तुरन्त मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाड़न का झटका लगा, तो दावात उलट गयी और रोशनाई मेज पर फैल गयी। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर हो गये। उसके कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा गरीब आँखों में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत् खड़ा सुनता था, मानो उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बाबू का जरा-सी बात पर इतना भयंकर रौद्र रूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने इससे भी बड़ा कोई अपराध किया होता, तो भी उस पर इतना वज्र-प्रहार न होता। मैंने अंग्रेजी में कहा — बाबू साहब, आप यह अन्याय कर रहे हैं। उसने जान-बूझकर तो रोशनाई गिराया नहीं। इसका इतना कड़ा दण्ड अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबूजी ने नम्रता से कहा — आप इसे जानते नहीं, बड़ा दुष्ट है।

'मैं तो उसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।'

'आप अभी उसे जानते नहीं, एक ही पाजी है। इसके घर दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन-देन करता है; कई भैंसे लगती हैं। इन्हीं बातों का इसे घमण्ड है।'

'घर की ऐसी दशा होती, तो आपके यहाँ चपरासगिरी क्यों करता?'

'विश्वास मानिए, बड़ा पोढ़ा आदमी है और बला का मक्खीचूस।'

'यदि ऐसा ही हो, तो भी कोई अपराध नहीं है।'

'अजी, अभी आप इन बातों को नहीं जानते। कुछ दिन और रहिए तो आपको स्वयं मालूम हो जाएगा कि यह कितना कमीना आदमी है?'

एक दूसरे महाशय बोल उठे — भाई साहब, इसके घर मनों दूध-दही होता है, मनों मटर, जुवार, चने होते हैं, लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत न हुई कि कभी थोड़ा-सा दफ्तरवालों को भी दे दो। यहाँ इन चीजों को तरसकर रह जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले? और यह सब कुछ इसी नौकरी के बदौलत हुआ है। नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग न थी।

बड़े बाबू कुछ सकुचाकर बोले — यह कोई बात नहीं। उसकी चीज है, किसी को दे या न दे; लेकिन यह बिल्कुल पशु है।

मैं कुछ-कुछ मर्म समझ गया। बोला — यदि ऐसे तुच्छ हृदय का आदमी है, तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले। संकोच दूर हुआ। बोले — इन सौगातों से किसी का उबार तो होता नहीं, केवल देने वाले की सहृदयता प्रकट होती है। और आशा भी उसी से की जाती है, जो इस योग्य होता है। जिसमें सामर्थ्य ही नहीं, उससे कोई आशा नहीं करता। नंगे से कोई क्या लेगा?

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दरसा दी थी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं, छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननिहाल दरिद्र हो, तो हम उससे आशा नहीं रखते! कदाचित् वह हमें विस्मृत हो जाती है। किन्तु वे सामर्थ्यवान् होकर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजें, तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है। हम अपने निर्धन मित्र के पास जायँ, तो उसके एक बीड़े पान से ही संतुष्ट हो जाते हैं; पर ऐसा कौन मनुष्य है, जो अपने किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान के लौटाकर उसे मन में कोसने न लगे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते तो, कदाचित् वह उनके शिशुपाल और जरासंध से भी बड़े शत्रु होते। यह मानव-स्वभाव है।

3

कई दिन पीछे मैंने गरीब से पूछा — क्यों जी, तुम्हारे घर पर कुछ खेती-बारी होती है?

गरीब ने दीन भाव से कहा — हाँ, सरकार, होती है। आपके दो गुलाम हैं, वही करते हैं?

'गायें-भैंसें भी लगती हैं?'

'हाँ, हुजूर; दो भैंसें लगती हैं, मुदा गायें अभी गाभिन नहीं है। हुजूर, लोगों के ही दया-धरम से पेट की रोटियाँ चल जाती हैं।'

'दफ्तर के बाबू लोगों की भी कभी कुछ खातिर करते हो?'

गरीब ने अत्यन्त दीनता से कहा — हुजूर; मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार के सिवाय और क्या होता है। आप लोग राजा हैं, यह मोटी-झोटी चीजें किस मुँह से आपकी भेंट करूँ। जी डरता है, कहीं कोई डाँट न बैठे कि इस टके के आदमी की इतनी मजाल। इसी के मारे बाबूजी, हियाव नहीं पड़ता। नहीं तो दूध-दही की कौन बिसात थी। मुँह लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

'भला एक दिन कुछ लाके दो तो, देखो, लोग क्या कहते हैं। शहर में यह चीजें कहाँ मयस्सर होती हैं। इन लोगों का जी कभी-कभी मोटी-झोटी चीजों पर चला करता है।'

'जो सरकार, कोई कुछ कहे तो? कहीं कोई साहब से शिकायत कर दे तो मैं कहीं का न रहूँ।'

'इसका मेरा जिम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा। कोई कुछ कहेगा, तो मैं समझा दूँगा।'

'तो हुजूर, आजकल तो मटर की फसिल है। चने के साग भी हो गये हैं और कोल्हू भी खड़ा हो गया है। इसके सिवाय तो और कुछ नहीं है।'

'बस, तो यही चीजें लाओ।'

'कुछ उल्टी-सीधी पड़े, तो हुजूर ही सँभालेंगे!'

'हाँ जी, कह तो दिया कि मैं देख लूँगा।'

दूसरे दिन गरीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर टोकरियाँ थीं, उसमें मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था, उसमें ऊख का रस था। तीनों ऊख का एक-एक गट्ठर काँख में दबाये हुए थे। गरीब आकर चुपके से बरामदे के सामने पेड़ के नीचे खड़ा हो गया।

दफ्तर में आने का उसे साहस नहीं होता था, मानो कोई अपराधी वृक्ष के नीचे खड़ा था कि इतने में दफ्तर के चपरासियों और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख लेकर चूसने लगा, कई आदमी टोकरों पर टूट पड़े, लूट मच गयी। इतने में बड़े बाबू दफ्तर में आ पहुँचे। यह कौतुक देखा तो उच्च स्वर से बोले — यह क्या भीड़ लगा रखी है, अपना-अपना काम देखो।

मैंने जाकर उनके कान में कहा — गरीब, अपने घर से यह सौगात लाया है। कुछ आप ले लीजिए, कुछ इन लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा — क्यों गरीब, तुम ये चीजें यहाँ क्यों लाये? अभी ले जाओ, नहीं तो मैं साहब से रपट कर दूँगा। कोई हम लोगों को मलूका समझ लिया है।

गरीब का रंग उड़ गया। थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी न निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राजी हुए। सब चीजों में से आधी-आधी अपने घर भिजवायी। आधी में अन्य लोगों के हिस्से लगाये गये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

4

अब दफ्तर में गरीब का नाम होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं; दिन-भर दौड़ना न पड़ता। कर्मचारियों के व्यंग्य और अपने सहयोगियों के कटुवाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते। उसके नाम में भी थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। वह गरीब से गरीबदास बना। स्वभाव में कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्मगौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ली। वह अब भी कभी देर करके दफ्तर आता, कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठ रहता। उसके सभी अपराध अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतिष्ठा का गुर हाथ लग गया था। वह अब दसवें-पाँचवें दिन दूध, दही लाकर बड़े बाबू की भेंट किया करता। देवता को संतुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काँइयाँपन आ गया।

एक रोज बड़े बाबू ने उसे सरकारी फार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े-बड़े पुलिंदे थे। ठेले पर आये। गरीब ने ठेलेवालों से बारह आने मजदूरी तय की थी। जब कागज दफ्तर में गये तो उसने बड़े बाबू से बारह आने पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किये। लेकिन दफ्तर से कुछ

दूर जाकर उसकी नीयत बदली। अपनी दस्तूरी माँगने लगा। ठेलेवाले राजी न हुए। इस पर गरीब ने बिगड़कर सब पैसे जेब में रख लिये और धमकाकर बोला — अब एक फूटी कौड़ी भी न दूँगा। जाओ जहाँ फरियाद करो। देखें, क्या बना लेते हो।

ठेलेवाले ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही गायब हुई जाती है तो रो-धोकर चार आने पैसे देने पर राजी हुए। गरीब ने अठन्नी उसके हवाले की, बारह आने की रसीद लिखवाकर उसके अँगूठे के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर में दाखिल हो गयी।

यह कुतूहल देखकर में दंग रह गया। यह वही गरीब है, जो कई महीने पहले सरलता और दीनता की मूर्ति था, जिसे कभी चपरासियों से भी अपने हिस्से की रकम माँगने का साहस न होता था, जो दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने का तो जिक्र ही क्या। यह स्वभावांतर देखकर अत्यन्त खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किसके सिर था? मेरे सिर, जिसने उसे चघड़पन और धूर्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा — इस काँइयाँपन से, जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था, जो दूसरों का अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहूर्त था, जब मैंने उसे प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मार्ग दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयंकर मार्ग था। मैंने बाह्य प्रतिष्ठा पर उसकी आत्म-प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

दो सखियाँ

लखनऊ

1-7-25

प्यारी बहन,

जब से यहाँ आयी हूँ, तुम्हारी याद सताती रहती है। काश! तुम कुछ दिनों के लिए यहाँ चली आतीं, तो कितनी बहार रहती। मैं तुम्हें अपने विनोद से मिलाती। क्या यह सम्भव नहीं है? तुम्हारे माता-पिता क्या तुम्हें इतनी आजादी भी न देंगे? मुझे तो आश्चर्य यही है कि बेड़ियाँ पहनकर तुम कैसे रह सकती हो! मैं तो इस तरह घण्टे-भर भी नहीं रह सकती। ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि मेरे पिताजी पुरानी लकीर पीटने वालों में नहीं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं, जिन्होंने नारी-जीवन को स्वर्ग बना दिया है। नहीं तो मैं कहीं की न रहती।

विनोद हाल ही में इंग्लैंड से डी. फिल. होकर लौटे हैं और जीवन-यात्रा आरम्भ करने के पहले एक बार संसार-यात्रा करना चाहते हैं। योरप का अधिकांश भाग तो वह देख चुके हैं, पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया की सैर किये बिना उन्हें चैन नहीं। मध्य

एशिया और चीन का तो यह विशेष रूप से अध्ययन करना चाहते हैं। योरोपियन यात्री जिन बातों की मीमांसा न कर सके, उन्हीं पर प्रकाश डालना इनका ध्येय है। सच कहती हूँ, चन्दा, ऐसा साहसी, ऐसा निर्भीक, ऐसा आदर्शवादी पुरुष मैंने कभी नहीं देखा था। मैं तो उनकी बातें सुनकर चकित हो जाती हूँ। ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका उन्हें पूरा ज्ञान न हो, जिसकी वह आलोचना न कर सकते हो; और यह केवल किताबी आलोचना नहीं होती, उसमें मौलिकता और नवीनता होती है। स्वतन्त्रता के तो वह अनन्य उपासक हैं। ऐसे पुरुष की पत्नी बनकर ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो अपने सौभाग्य पर गर्व न करे। बहन, तुमसे क्या कहूँ कि प्रातःकाल उन्हें अपने बँगले की ओर आते देखकर मेरे चित्त की क्या दशा हो जाती है। यह उन पर न्योछावर होने के लिए विकल हो जाता है। यह मेरी आत्मा में बस गये हैं। अपने पुरुष की मैंने मन में जो कल्पना की थी, उसमें और उनमें बाल बराबर भी अन्तर नहीं। मुझे रात-दिन यही भय लगा रहता है कि कहीं मुझमें उन्हें कोई त्रुटि न मिल जाय। जिन विषयों से उन्हें रुचि है, उनका अध्ययन आधी रात तक बैठी किया करती हूँ। ऐसा परिश्रम मैंने कभी न किया था। आईने-कंघी से मुझे कभी उतना प्रेम न था, सुभाषितों को मैंने कभी इतने चाव से कण्ठ न किया था। अगर इतना सब कुछ करने पर भी मैं उनका हृदय न पा

सकी, तो बहन, मेरा जीवन नष्ट हो जायेगा, मेरा हृदय फट जायेगा और संसार मेरे लिए सूना हो जायेगा।

कदाचित् प्रेम के साथ ही मन में ईर्ष्या का भाव भी उदय हो जाता है। उन्हें मेरे बँगले की ओर जाते हुए देख जब मेरी पड़ोसिन कुसुम अपने बरामदे में आकर खड़ी हो जाती है, तो मेरा ऐसा जी चाहता है कि उसकी आँखें ज्योतिहीन हो जायँ। कल तो अनर्थ ही हो गया। विनोद ने उसे देखते ही हैट उतार ली और मुस्कराए। वह कुलटा भी खीसें निकालने लगी। ईश्वर सारी विपत्तियाँ दे, पर मिथ्याभिमान न दे। चुड़ैलों की-सी तो आपकी सूरत है, पर अपने को अप्सरा समझती हैं। आप कविता करती हैं और कई पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छप भी गई हैं। बस, आप जमीन पर पाँव नहीं रखतीं। सच कहती हूँ, थोड़ी देर के लिए विनोद पर से मेरी श्रद्धा उठ गयी। ऐसा आवेश होता था कि चलकर कुसुम का मुँह नोच लूँ। खैरियत हुई कि दोनों में बातचीत न हुई, पर विनोद आकर बैठे तो आध घण्टे तक मैं उनसे न बोल सकी, जैसे उनके शब्दों में वह जादू ही न था, वाणी में वह रस ही न था। तब से अब तक मेरे चित्त की व्यग्रता शान्त नहीं हुई। रात-भर मुझे नींद नहीं आयी, वही दृश्य आँखों के सामने बार-बार आता था। कुसुम को लज्जित करने के लिए कितने मसूबे बाँध चुकी हूँ। अगर यह भय न होता कि विनोद

मुझे ओछी और हलकी समझेंगे, तो मैं उनसे अपने मनोभावों को स्पष्ट कह देती। मैं सम्पूर्णतः उनकी होकर उन्हें सम्पूर्णतः अपना बनाना चाहती हूँ। मुझे विश्वास है कि संसार का सबसे रूपवान् युवक मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसे आँख उठाकर न देखूँगी। विनोद के मन में मेरे प्रति यह भाव क्यों नहीं है।

चन्दा, प्यारी बहन; एक सप्ताह के लिए आ जा। तुझसे मिलने के लिए मन अधीर हो रहा है। मुझे इस समय तेरी सलाह और सहानुभूति की बड़ी जरूरत है। यह मेरे जीवन का सबसे नाजुक समय है। इन्हीं दस-पाँच दिनों में या तो पारस हो जाऊँगी या मिट्टी। लो सात बज गए और अभी बाल तक नहीं बनाये। विनोद के आने का समय है। अब विदा होती हूँ। कहीं आज फिर अभागिनी कुसुम अपने बरामदे में न आ खड़ी हो। अभी से दिल काँप रहा है। कल तो यह सोचकर मन को समझाया था कि यों ही सरल भाव से वह हँस पड़ी होगी। आज भी अगर वही दृश्य सामने आया, तो उतनी आसानी से मन को न समझा सकूँगी।

तुम्हारी,

पद्मा।

2

गोरखपुर

5-7-25

प्रिय पद्मा,

भला एक युग के बाद तुम्हें मेरी सुधि तो आई। मैंने तो समझा था, शायद तुमने परलोक-यात्रा कर ली। यह उस निष्ठुरता का दंड ही है, जो कुसुम तुम्हें दे रही है। 15 एप्रिल को कॉलेज बन्द हुआ और एक जुलाई को आप खत लिखती हैं — पूरे ढाई महीने बाद, वह भी कुसुम की कृपा से। जिस कुसुम को तुम कोस रही हो, उसे मैं आशीर्वाद दे रही हूँ। वह दारुण दुःख की भाँति तुम्हारे रास्ते में न आ खड़ी होती, तो तुम्हें क्यों मेरी याद आती? खैर, विनोद की तुमने जो तसवीर खींची, वह बहुत ही आकर्षक है और मैं ईश्वर से मना रही हूँ, वह दिन जल्द आए कि मैं उनसे बहनोई के नाते मिल सकूँ। मगर देखना, कहीं सिविल मैरेज न कर बैठना। विवाह हिन्दू-पद्धति के अनुसार ही हो। हाँ, तुम्हें अख्तियार है जो सैकड़ों बेहूदा और व्यर्थ के कपड़े हैं, उन्हें निकाल डालो। एक सच्चे, विद्वान पण्डित को अवश्य बुलाना, इसलिए नहीं कि वह तुमसे बात-बात पर टके निकलवाये, बल्कि

इसलिए कि वह देखता रहे कि वह सब कुछ शास्त्र-विधि से हो रहा है, या नहीं।

अच्छा, अब मुझसे पूछो कि इतने दिनों क्यों चुप्पी साधे बैठी रही। मेरे ही खानदान में इन ढाई महीनों में, पाँच शादियाँ हुई। बारातों का ताँता लगा रहा। ऐसा शायद ही कोई दिन गया हो कि एक सौ मेहमानों से कम रहे हों और जब बारात आ जाती थी, तब तो उनकी संख्या पाँच-पाँच सौ तक पहुँच जाती थी। ये पाँचों लड़कियाँ मुझसे छोटी हैं और मेरा बस चलता तो अभी तीन-चार साल तक न बोलती, लेकिन मेरी सुनता कौन है और विचार करने पर मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि माता-पिता का लड़कियों के विवाह के लिए जल्दी करना कुछ अनुचित नहीं है। जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर माता-पिता अकाल मर जायँ, तो लड़की का विवाह कौन करे। भाइयों का क्या भरोसा। अगर पिता ने काफी दौलत छोड़ी है तो कोई बात नहीं; लेकिन जैसा साधारणत: होता है, पिता ऋण का भार छोड़ गये, तो बहन भाइयों पर भार हो जाती है। यह भी अन्य कितने ही हिन्दू-रस्मों की भाँति आर्थिक समस्या है, और जब तक हमारी आर्थिक दशा न सुधरेगी, यह रस्म भी न मिटेगी।

अब मेरे बलिदान की बारी है। आज के पंद्रहवें दिन यह घर मेरे लिए विदेश हो जायगा। दो-चार महीने के लिए आऊँगी, तो

मेहमान की तरह। मेरे विनोद बनारसी हैं, अभी कानून पढ़ रहे हैं। उनके पिता नामी वकील हैं। सुनती हूँ, कई गाँव हैं, कई मकान हैं, अच्छी मर्यादा है। मैंने अभी तक वर को नहीं देखा। पिताजी ने मुझसे पुछवाया था कि इच्छा हो, तो वर को बुला दूँ। पर मैंने कह दिया, कोई जरूरत नहीं। कौन घर में बहू बने। है तकदीर ही का सौदा। न पिताजी ही किसी के मन में पैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो-एक बार देख ही लेती, नहीं मुलाकात ही कर लेती तो क्या हम दोनों एक-दूसरे को परख लेते? यह किसी तरह संभव नहीं। ज्यादा-से-ज्यादा हम एक-दूसरे का रंग-रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है कि पिताजी मुझसे कम संयत नहीं हैं। मेरे दोनों बड़े बहनोई सौंदर्य के पुतले न हों पर कोई रमणी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरी बहनें उनके साथ आनन्द से जीवन बिता रही हैं। फिर पिताजी मेरे ही साथ क्यों अन्याय करेंगे। यह मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में कुछ लोगों का वैवाहिक जीवन सुखकर नहीं है, लेकिन संसार में ऐसा कौन समाज है, जिसमें दुखी परिवार न हों। और फिर हमेशा पुरुषों ही का दोष तो नहीं होता, बहुधा स्त्रियाँ ही विष का गाँठ होती हैं। मैं तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ। हाँ, मैं तुम्हें विनोद से छीनना तो नहीं चाहती लेकिन अगर 20 जुलाई तक तुम दो दिन

के लिए आ सको, तो मुझे जिला लो। ज्यों-ज्यों इस व्रत का दिन निकट आ रहा है, मुझे एक अज्ञात शंका हो रही है; मगर तुम खुद बीमार हो, मेरी दवा क्या करोगी — जरूर आना बहन!

तुम्हारी,

चन्दा।

3

मंसूरी

5-8-25

प्यारी चन्दा,

सैंकड़ों बातें लिखनी हैं, किस क्रम से शुरू करूँ, समझ में नहीं आता। सबसे पहले तुम्हारे विवाह के शुभ अवसर पर न पहुँच सकने के लिए क्षमा चाहती हूँ। मैं आने का निश्चय कर चुकी थी, मैं और प्यारी चंदा के स्वयंवर में न जाऊँ: मगर उसके ठीक तीन दिन पहले विनोद ने अपना आत्मसमर्पण करके मुझे ऐसा मुग्ध कर दिया कि फिर मुझे किसी की सुधि न रही। आह! वे प्रेम के अन्तस्तल से निकले हुए उष्ण, आवेशमय और कंपित

शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं। मैं खड़ी थी, और विनोद मेरे सामने घुटने टेके हुए प्रेरणा, विनय और आग्रह के पुतले बने बैठे थे। ऐसा अवसर जीवन में एक ही बार आता है, केवल एक बार, मगर उसकी मधुर स्मृति किसी स्वर्ग-संगीत की भाँती जीवन के तार-तार में व्याप्त रहता है। तुम उस आनन्द का अनुभव कर सकोगी — मैं रोने लगी, कह नहीं सकती, मन में क्या-क्या भाव आये; पर मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। कदाचित् यही आनन्द की चरम सीमा है। मैं कुछ-कुछ निराश हो चली थी। तीन-चार दिन से विनोद को आते-जाते कुसुम से बातें करते देखती थी, कुसुम नित नए आभूषणों से सजी रहती थी और क्या कहूँ, एक दिन विनोद ने कुसुम की एक कविता मुझे सुनायी और एक-एक शब्द पर सिर धुनते रहे। मैं मानिनी तो हूँ ही; सोचा, जब यह उस चुड़ैल पर लट्टू हो रहे हें, तो मुझे क्या गरज पड़ी है कि इनके लिए अपना सिर खपाऊँ। दूसरे दिन वह सबेरे आये, तो मैंने कहला दिया, तबीयत अच्छी नहीं है। जब उन्होंने मुझसे मिलने के लिए आग्रह किया, तब विवश होकर मुझे कमरे में आना पड़ा। मन में निश्चय करके आयी थी — साफ कह दूंगी अब आप न आया कीजिए। मैं आपके योग्य नहीं हूँ, मैं कवि नहीं, विदुषी नहीं, सुभाषिणी नहीं....एक पूरी स्पीच मन में उमड़ रही थी, पर कमरे में आई और विनोद के सतृष्ण नेत्र देखे, प्रबल

उत्कंठा में काँपते हुए होंठ — बहन, उस आवेश का चित्रण नहीं कर सकती। विनोद ने मुझे बैठने भी न दिया। मेरे सामने घुटनों के बल फर्श पर बैठ गये और उनके आतुर उन्मत्त शब्द मेरे हृदय को तरंगित करने लगे।

एक सप्ताह तैयारियों में कट गया। पापा ओर मामा फूले न समाते थे। और सबसे प्रसन्न थी कुसुम! यही कुसुम जिसकी सूरत से मुझे घृणा थी! अब मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने उस पर सन्देह करके उसके साथ घोर अन्याय किया। उसका हृदय निष्कपट है, उसमें न ईर्ष्या है, न तृष्णा, सेवा ही उसके जीवन का मूलतत्व है। मैं नहीं समझती कि उसके बिना ये सात दिन कैसे कटते। मैं कुछ खोई-खोई सी जान पड़ती थी। कुसुम पर मैंने अपना सारा भार छोड़ दिया था। आभूषणों के चुनाव और सजाव, वस्त्रों के रंग और काट-छाँट के विषय में उसकी सुरुचि विलक्षण है। आठवें दिन जब उसने मुझे दुलहिन बनाया, तो मैं अपना रूप देखकर चकित रह गई। मैंने अपने को कभी ऐसी सुन्दरी न समझा था। गर्व से मेरी आँखों में नशा-सा छा गया।

उसी दिन संध्या-समय विनोद और में दो भिन्न जल-धाराओं की भाँति संगम पर मिलकर अभिन्न हो गये। विहार-यात्रा की तैयारी पहले ही से हो चुकी थी, प्रात:काल हम मंसूरी के लिए रवाना हो गये। कुसुम हमें पहुँचाने के लिए स्टेशन तक आई और विदा

होते समय बहुत रोयी। उसे साथ ले चलना चाहती थी, पर न जाने क्यों वह राजी न हुई।

मंसूरी रमणीक है, इसमें सन्देह नहीं। श्यामवर्ण मेघ-मालाएँ पहाड़ियों पर विश्राम कर रही हैं, शीतल पवन आशा-तरंगों की भाँति चित्त का रंजन कर रहा है, पर मुझे ऐसा विश्वास है कि विनोद के साथ मैं किसी निर्जन वन में भी इतने ही सुख से रहती। उन्हें पाकर अब मुझे किसी वस्तु की लालसा नहीं। बहन, तुम इस आनन्दमय जीवन की शायद कल्पना भी न कर सकोगी। सुबह हुई, नाश्ता आया, हम दोनों ने नाश्ता किया; डाँडी तैयार है, नौ बजते-बजते सैर करने निकल गए। किसी जल-प्रपात के किनारे जा बैठे। वहाँ जल-प्रवाह का मधुर संगीत सुन रहे हैं। या किसी शिला-खंड पर बैठे मेघों की व्योम-क्रीड़ा देख रहे हैं। ग्यारह बजते-बजते लौटे। भोजन किया। मैं प्यानो पर जा बैठी। विनोद को संगीत से प्रेम है। खुद बहुत अच्छा गाते हैं और मैं गाने लगती हूँ, तब तो वह झूमने ही लगते हैं। तीसरे पहर हम एक घंटे के लिए विश्राम करके खेलने या कोई खेल देखने चले जाते हैं। रात को भोजन करने के बाद थियेटर देखते हैं और वहाँ से लौट कर शयन करते हैं। न सास की घुड़कियाँ हैं न ननदों की कानाफूसी, न जेठानियों के ताने। पर इस सुख में भी मुझे कभी-कभी एक शंका-सी होती है — फूल में कोई काँटा

तो नहीं छिपा हुआ है, प्रकाश के पीछे कहीं अन्धकार तो नहीं है! मेरी समझ में नहीं आता, ऐसी शंका क्यों होती है। अरे, यह लो पाँच बज गए, विनोद तैयार हैं, आज टेनिस का मैच देखने जाना है। मैं भी जल्दी से तैयार हो जाऊँ। शेष बातें फिर लिखूँगी।

हाँ, एक बात तो भूली ही जा रही थी। अपने विवाह का समाचार लिखना। पतिदेव कैसे हैं? रंग-रूप कैसा है? ससुराल गयी, या अभी मैके ही में हो? ससुराल गयीं, तो वहाँ के अनुभव अवश्य लिखना। तुम्हारी खूब नुमाइश हुई होगी। घर, कुटुम्ब और मुहल्ले की महिलाओं ने घूँघट उठा-उठाकर खूब मुँह देखा होगा, खूब परीक्षा हुई होगी। ये सभी बातें विस्तार से लिखना। देखें कब फिर मुलाकात होती है।

तुम्हारी,

पद्मा।

4

गोरखपुर

1-9-25

प्यारी पद्मा,

तुम्हारा पत्र पढ़कर चित्त को बड़ी शांति मिली। तुम्हारे न आने ही से मैं समझ गई थी कि विनोद बाबू तुम्हें हर ले गए, मगर यह न समझी थी कि तुम मंसूरी पहुँच गयी। अब उस आमोद-प्रमोद में भला गरीब चन्दा क्यों याद आने लगी। अब मेरी समझ में आ रहा है कि विवाह के लिए नए और पुराने आदर्श में क्या अन्तर है। तुमने अपनी पसन्द से काम लिया, सुखी हो। मैं लोक-लाज की दासी बनी रही, नसीबों को रो रही हूँ।

अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। दान-दहेज के टंटे से तो मुझे कुछ मतलब है नहीं। पिताजी ने बड़ा ही उदार-हृदय पाया है। खूब दिल खोलकर दिया होगा। मगर द्वार पर बारात आते ही मेरी अग्नि-परीक्षा शुरू हो गयी। कितनी उत्कण्ठा थी — वह-दर्शन की, पर देखूँ कैसे। कुल की नाक न कट जाएगी। द्वार पर बारात आयी। सारा जमाना वर को घेरे हुए था। मैंने सोचा — छत पर से देखूँ। छत पर गयी, पर वहाँ से भी कुछ न दिखाई दिया। हाँ, इस अपराध के लिए अम्माँजी की घुड़कियाँ सुननी पड़ीं। मेरी जो बात इन लोगों को अच्छी नहीं लगती, उसका दोष मेरी शिक्षा के माथे मढ़ा जाता है। पिताजी बेचारे मेरे साथ बड़ी सहानुभूति रखते हैं। मगर किस-किस का मुँह पकड़ें। द्वारचार तो यों गुजरा और भाँवरों की तैयारियाँ होने लगी। जनवासे से गहनों

और कपड़ों का थाल आया। बहन! सारा घर — स्त्री-पुरुष — सब उस पर कुछ इस तरह टूटे, मानो इन लोगों ने कभी कुछ देखा ही नहीं। कोई कहता है, कंठा तो लाये ही नहीं; कोई हार के नाम को रोता है! अम्माँजी तो सचमुच रोने लगी, मानो मैं डुबा दी गयी। वर-पक्षवालों की दिल खोलकर निंदा होने लगी। मगर मैंने गहनों की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखा। हाँ, जब कोई वर के विषय में कोई बात करता था, तो मैं तन्मय होकर सुनने लगती था। मालूम हुआ — दुबले-पतले आदमी हैं। रंग साँवला है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं, हँसमुख हैं। इन सूचनाओं से दर्शनोत्कंठा और भी प्रबल होती थी। भाँवरों का मुहूर्त ज्यों-ज्यों समीप आता था, मेरा चित्त व्यग्र होता जाता था। अब तक यद्यपि मैंने उनकी झलक भी न देखी थी, पर मुझे उनके प्रति एक अभूतपूर्व प्रेम का अनुभव हो रहा था। इस वक्त यदि मुझे मालूम हो जाता कि उनके दुश्मनों को कुछ हो गया है, तो मैं बावली हो जाती। अभी तक मेरा उनसे साक्षात् नहीं हुआ हैं, मैंने उनकी बोली तक नहीं सुनी है, लेकिन संसार का सबसे रूपवान् पुरुष भी, मेरे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। अब वही मेरे सर्वस्व हैं।

आधी रात के बाद भाँवरें हुईं। सामने हवन-कुण्ड था, दोनों ओर विप्रगण बैठे हुए थे, दीपक जल रहा था, कुल देवता की मूर्ति रखी हुई थीं। वेद मंत्र का पाठ हो रहा था। उस समय मुझे ऐसा

मालूम हुआ कि सचमुच देवता विराजमान हैं। अग्नि, वायु, दीपक, नक्षत्र सभी मुझे उस समय देवत्व की ज्योति से प्रदीप्त जान पड़ते थे। मुझे पहली बार आध्यात्मिक विकास का परिचय मिला। मैंने जब अग्नि के सामने मस्तक झुकाया, तो यह कोरी रस्म की पाबंदी न थी, मैं अग्निदेव को अपने सम्मुख मूर्तिमान्, स्वर्गीय आभा से तेजोमय देख रही थी। आखिर भाँवरें भी समाप्त हो गई; पर पतिदेव के दर्शन न हुए।

अब अन्तिम आशा यह थी कि प्रातःकाल जब पतिदेव कलेवा के लिए बुलाये जायँगे, उस समय देखूँगी। तब उनके सिर पर मौर न होगा, सखियों के साथ मैं भी जा बैठूँगी और खूब जी भरकर देखूँगी। पर क्या मालूम था कि विधि कुछ और ही कुचक्र रच रहा है। प्रातःकाल देखती हूँ, तो जनवासे के खेमे उखड़ रहे हैं। बात कुछ न थी। बारातियों के नाश्ते के लिए जो सामान भेजा गया था, वह काफी न था। शायद घी भी खराब था। मेरे पिताजी को तुम जानती ही हो। कभी किसी से दबे नहीं, जहाँ रहे शेर बनकर रहे। बोले — जाते हैं, तो जाने दो, मनाने की कोई जरूरत नहीं; कन्यापक्ष का धर्म है बारातियों का सत्कार करना, लेकिन सत्कार का यह अर्थ नहीं कि धमकी और रोब से काम लिया जाय, मानो किसी अफसर का पड़ाव हो। अगर वह अपने

लड़के की शादी कर सकते हैं, तो मैं भी अपनी लड़की की शादी कर सकता हूँ।

बारात चली गई और मैं पति के दर्शन न कर सकी! सारे शहर में हलचल मच गई। विरोधियों को हँसने का अवसर मिला। पिताजी ने बहुत सामान जमा किया था। वह सब खराब हो गया। घर में जिसे देखिए, मेरी ससुराल की निंदा कर रहा है — उजड्ड हैं, लोभी हैं, बदमाश हैं, मुझे जरा भी बुरा नहीं लगता। लेकिन पति के विरुद्ध मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहती। एक दिन अम्माँजी बोली — लड़का भी बेसमझ है। दूध पीता बच्चा नहीं, कानून पढ़ता है, मूँछ-दाढ़ी आ गई है, उसे अपने बाप को समझाना चाहिए था कि आप लोग क्या कर रहे हैं। मगर वह भी भीगी बिल्ली बना रहा। मैं सुनकर तिलमिला उठी। कुछ बोली तो नहीं, पर अम्माँजी को मालूम जरूर हो गया कि इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं। मैं तुम्हीं से पूछती हूँ बहन, जैसी समस्या उठ खड़ी हुई थी, उसमें उनका क्या धर्म था? अगर वह अपने पिता और अन्य सम्बन्धियों का कहना न मानते, तो उनका अपमान न होता? उस वक्त उन्होंने वही किया, जो उचित था। मगर मुझे विश्वास है कि जरा मामला ठंडा होने पर वह आयेंगे। मैं अभी से उनकी राह देखने लगी हूँ। डाकिया चिट्ठियाँ लाता है, तो दिल में धड़कन होने लगती हैं — शायद उनका पत्र भी हो!

जी में बार-बार आता है, क्यों न मैं ही एक खत लिखूँ; मगर संकोच में पड़कर रह जाती हूँ। शायद मैं कभी न लिख सकूँगी। मान नहीं है केवल संकोच है। पर हाँ, अगर दस-पाँच दिन और उनका पत्र न आया, या वह खुद न आए, तो संकोच मान का रूप धारण कर लेगा। क्या तुम उन्हें एक चिट्ठी नहीं लिख सकती! सब खेल बन जाय। क्या मेरी इतनी खातिर भी न करोगी? मगर ईश्वर के लिए उस खत में कहीं यह न लिख देना कि चंदा ने प्रेरणा की है। क्षमा करना ऐसी भद्दी गलती की, तुम्हारी ओर से शंका करके मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ, मगर मैं समझदार थी ही कब?

तुम्हारी,

चन्दा।

5

मंसूरी

20-9-25

प्यारी चन्दा,

मैंने तुम्हारा खत पाने के दूसरे ही दिन काशी खत लिख दिया था। उसका जवाब भी मिल गया। शायद बाबूजी ने तुम्हें खत लिखा हो। कुछ पुराने खयाल के आदमी हैं। मेरी तो उनसे एक दिन भी न निभती। हाँ, तुमसे निभ जायगी। यदि मेरे पति ने मेरे साथ यह बर्ताव किया होता — अकारण मुझसे रूठे होते — तो मैं जिन्दगी-भर उनकी सूरत न देखती। अगर कभी आते भी, तो कुत्तों की तरह दुत्कार देती। पुरुष पर सबसे बड़ा अधिकार उसकी स्त्री का है। माता-पिता को खुश रखने के लिए वह स्त्री का तिरस्कार नहीं कर सकता। तुम्हारे ससुरालवालों ने बड़ा घृणित व्यवहार किया। पुराने खयालवालों का गजब का कलेजा है, जो ऐसी बातें सहते हैं। देखा उस प्रथा का फल, जिसकी तारीफ करते तुम्हारी जबान नहीं थकती। वह दीवार सड़ गई। टीपटाप करने से काम न चलेगा। उसकी जगह नये सिरे से दीवार बनाने की जरूरत है।

अच्छा, अब कुछ मेरी भी कथा सुन लो। मुझे ऐसा संदेह हो रहा है कि विनोद ने मेरे साथ दगा की है। इनकी आर्थिक दशा वैसी नहीं, जैसी मैंने समझी थी। केवल मुझे ठगने के लिए इन्होंने सारा स्वाँग भरा था। मोटर माँगे की थी, बँगले का किराया अभी तक नहीं दिया गया, फरनीचर किराये के थे। यह सच है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुझे धोखा नहीं दिया। कभी अपनी दौलत

की डींग नहीं मारी, लेकिन ऐसा रहन-सहन बना लेना, जिससे दूसरों को अनुमान हो कि यह कोई बड़े धनी आदमी हैं, एक प्रकार का धोखा ही है। यह स्वाँग इसीलिए भरा गया था कि कोई शिकार फँस जाय। अब देखती हूँ कि विनोद मुझसे अपनी असली हालत को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। अपने खत मुझे नहीं देखने देते, कोई मिलने आता है, तो चौंक पड़ते हैं और घबरायी हुई आवाज में बैरा से पूछते हैं, कौन है? तुम जानती हो, मैं धन की लौंडी नहीं। मैं केवल विशुद्ध हृदय चाहती हूँ। जिसमें पुरुषार्थ है, प्रतिभा है, वह आज नहीं तो कल अवश्य ही धनवान् होकर रहेगा। मैं इस कपट-लीला से जलती हूँ। अगर विनोद मुझसे अपनी कठिनाइयाँ कह दें, तो मैं उनके साथ सहानुभूति करूँगी, उन कठिनाइयों को दूर करने में उनकी मदद करूँगी। यों मुझसे परदा करके यह मेरी सहानुभूति और सहयोग ही से हाथ नहीं धोते, मेरे मन में अविश्वास, द्वेष और क्षोभ का बीज बोते हैं। यह चिंता मुझे मारे डालती हैं। अगर इन्होंने अपनी दशा साफ-साफ बता दी होती, तो मैं यहाँ मंसूरी आती ही क्यों? लखनऊ में ऐसी गरमी नहीं पड़ती कि आदमी पागल हो जाय। यह हजारों रुपये क्यों पानी पड़ता। सबसे कठिन समस्या जीविका की है। कई विद्यालयों में आवेदन-पत्र भेज रखे हैं। जवाब का इंतजार कर रहे हैं। शायद इस महीने के अंत तक कहीं जगह मिल जाय। पहले

तीन-बार सौ मिलेंगे। समझ में नहीं आता, कैसे काम चलेगा। डेढ़ सौ रुपये तो पापा मेरे कालेज का खर्च देते थे। अगर दस-पाँच महीने जगह न मिली तो यह क्या करें गे, यह फिक्र और भी खाये डालती है। मुश्किल यही है कि विनोद मुझसे परदा रखते हैं। अगर हम दोनों बैठकर परामर्श कर लेते, तो सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं। मगर शायद यह मुझे इस योग्य ही नहीं समझते। शायद इनका खयाल है कि मैं केवल रेशमी गुड़िया हूँ, जिसे भाँति-भाँति के आभूषणों, सुगन्धों और रेशमी वस्त्रों से सजाना ही काफी है। थिएटर में कोई नया तमाशा होने वाला होता है, दौड़े हुए आकर मुझे खबर देते हैं। कहीं कोई जलसा हो, कोई खेल हो, कहीं सैर करना हो उसकी शुभ सूचना मुझे अविलम्ब दी जाती है और बड़ी प्रसन्नता के साथ, मानो मैं रात-दिन विनोद और क्रीड़ा और विलास में मग्न रहना चाहती हूँ, मानो मेरे हृदय में गंभीर अंश है ही नहीं। यह मेरा अपमान है; घोर अपमान, जिसे मैं अब नहीं सह सकती। मैं अपने संपूर्ण अधिकार लेकर ही संतुष्ट हो सकती हूँ। बस, इस वक्त इतना ही। बाकी फिर। अपने यहाँ का हाल-हवाल विस्तार से लिखना। मुझे अपने लिए जितनी चिंता है, उससे कम तुम्हारे लिए नहीं है। देखो, हम दोनों के डोंगे कहाँ लगते हैं। तुम अपनी स्वदेशी, पाँच हजार वर्षों की पुरानी जर्जर नौका पर बैठी हो, मैं नये, द्रुतगामी मोटर-बोट पर। अवसर, विज्ञान

और उद्योग। मेरे साथ हैं। लेकिन कोई दैवी विपत्ति आ जाय, तब भी इसी मोटर-बोट पर डूबूँगी। साल में लाखों आदमी रेल के टक्करों से मर जाते हैं, पर कोई बैलगाडियों पर यात्रा नहीं करता। रेलों का विस्तार बढ़ता ही जाता है। बस।

तुम्हारी,

पद्मा।

6

गोरखपुर

25-9-25

प्यारी पद्मा,

कल तुम्हारा खत मिला, आज जवाब लिख रही हूँ। एक तुम हो कि महीनों रटाती हो। इस विषय में तुम्हें मुझसे उपदेश लेना चाहिए। विनोद बाबू पर तुम व्यर्थ ही आक्षेप लगा रही हो। तुमने क्यों पहले ही उनकी आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल नहीं की? बस, एक सुन्दर, रसिक, शिष्ट, वाणी-मधुर युवक देखा और फूल उठीं? अब भी तुम्हारा ही दोष है। तुम अपने व्यवहार से,

रहन-सहन से सिद्ध कर दो कि तुममें गंभीर अंश भी हैं, फिर देखूँ कि विनोद बाबू कैसे तुमसे परदा रखते हैं। और बहन, यह तो मानवी स्वभाव है। सभी चाहते हैं कि लोग हमें संपन्न समझें। इस स्वाँग को अंत तक निभाने की चेष्टा की जाती है और जो इस काम में सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल समझा जाता है। जिस युग में धन ही सर्वप्रधान हो, मर्यादा, कीर्ति, यश — यहाँ तक कि विद्या भी धन से खरीदी जा सके, उस युग में स्वाँग भरना एक लाजिमी बात हो जाती है। अधिकार योग्यता का मुँह ताकते हैं! यही समझ लो कि इन दोनों में फूल और फल का संबंध है। योग्यता का फूल लगा और अधिकार का फल आया।

इन ज्ञानोपदेश के बाद अब तुम्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। तुमने पतिदेव के नाम जो पत्र लिखा था, उसका बहुत अच्छा असर हुआ। उसके पाँचवें ही दिन स्वामी का कृपापात्र मुझे मिला। बहन, वह खत पाकर मुझे कितनी खुशी हुई, इसका तुम अनुमान कर सकती हो। मालूम होता था, अंधे को आँखें मिल गयी हैं। कभी कोठे पर जाती थी, कभी नीचे आती थी। सारे में खलबली पड़ गयी। तुम्हें वह पत्र अत्यन्त निराशाजनक जान पड़ता, मेरे लिए वह संजीवन-मंत्र था, आशादीपक था। प्राणेश ने बारातियों की उद्दंडता पर खेद प्रकट किया था, पर बड़ों के सामने वह जबान कैसे खोल सकते थे। फिर जनातियों ने भी, बारातियों का

जैसा आदर-सत्कार करना चाहिए था, वैसा नहीं किया। अन्त में लिखा था — 'प्रिये, तुम्हारे दर्शनों की कितनी उत्कंठा है, लिख नहीं सकता। तुम्हारी कल्पित मूर्ति नित आँखों के सामने रहती है। पर कुल-मर्यादा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है। जब तक माता-पिता का रुख न पाऊँ, आ नहीं सकता। तुम्हारे वियोग में चाहे प्राण ही निकल जायँ, पर पिता की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, एक बात का दृढ़-निश्चय कर चुका हूँ — चाहे इधर की दुनियां उधर हो जाय, कपूत कहलाऊँ, पिता के कोप का भागी बनूँ, घर छोड़ना पड़े पर अपनी दूसरी शादी न करूँगा। मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ, मामला इतना तूल न खींचेगा। यह लोग थोड़े दिनों में नर्म पड़ जायँगे और तब मैं आऊँगा और अपनी हृदयेश्वरी को आँखों पर बिठाकर लाऊँगा।'

बस, अब मै संतुष्ट हूँ बहन, मुझे और कुछ न चाहिए। स्वामी मुझ पर इतनी कृपा रखते हैं, इससे अधिक और वह क्या कर सकते हैं! प्रियतम! तुम्हारी चन्दा सदा तुम्हारी रहेगी, तुम्हारी इच्छा ही उसका कर्त्तव्य है। वह जब तक जिएगी, तुम्हारे पवित्र चरणों से लगी रहेगी। उसे बिसारना मत।

बहन, आँखों में आँसू भर आते हैं, अब नहीं लिखा जाता, जवाब जल्द देना।

तुम्हारी,

चन्दा।

7

दिल्ली

15-12-25

प्यारी बहन,

तुझसे बार-बार क्षमा माँगती हूँ, पैरों पड़ती हूँ। मेरे पत्र न लिखने का कारण आलस्य न था, सैर-सपाटे की धुन न थी। रोज सोचती थी कि आज लिखूँगी, पर कोई-न-कोई ऐसा काम आ पड़ता था, कोई ऐसी बात हो जाती थी; कोई ऐसी बाधा आ खड़ी होती थी कि चित्त अशांत हो जाता था और मुँह लपेट कर पड़ रहती थी। तुम मुझे अब देखो तो शायद पहिचान न सको। मंसूरी से दिल्ली आये एक महीना हो गया। यहाँ विनोद को तीन सौ रुपये की एक जगह मिल गयी है। यह सारा महीना बाजार की खाक छानने में कटा। विनोद ने मुझे पूरी स्वाधीनता दे रखी है। मैं जो चाहूँ, करूँ, उनसे कोई मतलब नहीं। वह मेरे मेहमान हैं।

गृहस्थी का सारा बोझ मुझ पर डालकर वह निश्चिंत हो गए हैं। ऐसा बेफिक्रा मैंने आदमी ही नहीं देखा। हाजिरी की परवाह है, न डिनर की, बुलाया तो आ गए, नहीं तो बैठे हैं। नौकरों से कुछ बोलने की तो मानो इन्होंने कसम ही खा ली है। उन्हें डाटूँ तो मैं, रखूँ तो मैं, निकालूँ तो मैं, उनसे कोई मतलब ही नहीं। मैं चाहती हूँ, वह मेरे प्रबन्ध की आलोचना करें, ऐब निकालें; मैं चाहती हूँ जब मैं बाजार से कोई चीज लाऊँ, तो वह बतावें मैं जट गई या जीत आई; मैं चाहती हूँ महीने के खर्च का बजट बनाते समय मेरे और उनके बीच में खूब बहस हो, पर इन अरमानों में से एक भी पूरा नहीं होता। मैं नहीं समझती, इस तरह कोई स्त्री कहाँ तक गृह-प्रबन्ध में सफल हो सकती है। विनोद के इस सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ने मेरी निज की जरूरतों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रखी। अपने शौक की चीजें खुद खरीदकर लाते बुरा मालूम होता है, कम-से-कम मुझसे नहीं हो सकता। मैं जानती हूँ, मैं अपने लिए कोई चीज लाऊँ, तो वह नाराज न होंगे। नहीं, मुझे विश्वास है, खुश होंगे; लेकिन मेरा जी चाहता है, मेरे शौक सिंगार की चीजें वह खुद ला कर दें। उनसे लेने में जो आनन्द है, वह खुद जाकर लाने में नहीं। पिताजी अब भी मुझे सौ रुपया महीना देते हैं और उन रुपयों को मैं अपनी जरूरतों पर खर्च कर सकती हूँ। पर न जाने क्यों मुझे भय होता

है कि कहीं विनोद समझें, मैं उनके रुपये खर्च किये डालती हूँ। जो आदमी किसी बात पर नाराज नहीं हो सकता, वह किसी बात पर खुश भी नहीं हो सकता। मेरी समझ में ही नहीं आता, वह किस बात से खुश और किस बात से नाराज होते हैं। बस, मेरी दशा उस आदमी की-सी है, जो बिना रास्ता जाने इधर-उधर भटकता फिरे। तुम्हें याद होगा, हम दोनों कोई गणित का प्रश्न लगाने के बाद कितनी उत्सुकता से उसका जवाब देखती थी; जब हमारा जवाब किताब के जवाब से मिल जाता था, तो हमें कितना हार्दिक आनन्द मिलता था। मेहनत सफल हुई, इसका विश्वास हो जाता था। जिन गणित की पुस्तकों में प्रश्नों के उत्तर न लिखे होते थे, उसके प्रश्न हल करने की हमारी इच्छा ही न होती थी। सोचते थे, मेहनत अकारथ जायगी। मैं रोज प्रश्न हल करती हूँ, पर नहीं जानती कि जवाब ठीक निकला, या गलत। सोचो, मेरे चित्त की क्या दशा होगी।

एक हफ्ता होता है, लखनऊ की मिस रिग से भेंट हो गई। वह लेडी डॉक्टर हैं और मेरे घर बहुत आती-जाती हैं। किसी का सिर भी धमका और मिस रिग बुलायी गयीं। पापा जब मेडिकल कालेज में प्रोफेसर थे, तो उन्होंने इन मिस रिग को पढ़ाया था। उसका एहसान वह अब भी मानती हैं। यहाँ उन्हें देखकर भोजन का निमंत्रण न देना अशिष्टता की हद होती। मिस रिग ने दावत

मंजूर कर ली। उस दिन मुझे जितनी कठिनाई हुई, वह बयान नहीं कर सकती। मैंने कभी अंगरेजों के साथ टेबुल पर नहीं खाया। उनमें भोजन के क्या शिष्टाचार हैं, इसका मुझे बिलकुल ज्ञान नहीं। मैंने समझा था, विनोद मुझे सारी बातें बता देंगे। वह बरसों अंगरेजों के साथ इंग्लैंड रह चुके हैं। मैंने उन्हें मिस रिग के आने की सूचना भी दे दी। पर उस भले आदमी ने मानो सुना ही नहीं। मैंने भी निश्चय किया, मैं तुमसे कुछ न पूछूँगी, यही न होगा कि मिस रिग हँसेंगी। बला से। अपने ऊपर बार-बार झुँझलाती थी कि कहाँ मिस रिग को बुला बैठी। पड़ोस के बंगलों में कई हमीं-जैसे परिवार रहते हैं। उनसे सलाह ले सकती थी। पर यही संकोच होता था कि ये लोग मुझे गँवारिन समझेंगे। अपनी इस विवशता पर थोड़ी देर तक आँसू भी बहाती रही। आखिर निराश होकर अपनी बुद्धि से काम लिया। दूसरे दिन मिस रिग आयीं। हम दोनों भी मेज पर बैठे। दावत शुरू हुई। मैं देखती थी कि विनोद बार-बार झेंपते थे और मिस रिग बार-बार नाक सिकोड़ती थीं, जिससे प्रकट हो रहा था कि शिष्टाचार की मर्यादा भंग हो रही है। मैं शर्म के मारे मरी जाती थी। किसी भाँति विपत्ति सिर सके टली। तब मैंने कान पकड़े कि अब किसी अंगरेज की दावत न करूँगी। उस दिन से देख रही हूँ, विनोद मुझसे कुछ खिंचे हुए हैं। मैं भी नहीं बोल रही

हूँ। वह शायद समझते हैं कि मैंने उनकी भद्द करा दी। मैं समझ रही हूँ। कि उन्होंने मुझे लज्जित लज्जित किया। सच कहती हूँ, चन्दा, गृहस्थी के इन झंझटों में मुझे अब किसी से हँसने बोलने का अवसर नहीं मिलता। इधर महीनों से कोई नयी पुस्तक नहीं पढ़ सकी। विनोद की विनोदशीलता भी न जाने कहाँ चली गयी। अब वह सिनेमा या थिएटर का नाम भी नहीं लेते। हाँ, मैं चलूँ तो वह तैयार हो जायेंगे। मैं चाहती हूँ, प्रस्ताव उनकी ओर से हो, मैं उसका अनुमोदन करूँ। शायद वह पहिले की आदतें छोड़ रहे हैं। मैं तपस्या का संकल्प उनके मुख पर अंकित पाती हूँ। ऐसा जान पड़ता है, अपने में गृह-संचालन की शक्ति न पाकर उन्होंने सारा भार मुझ पर डाल दिया है। मंसूरी में वह घर के संचालक थे। दो-ढाई महीने में पन्द्रह सौ खर्च किये। कहाँ से लाये, यह में अब तक नहीं जानती। पास तो शायद ही कुछ रहा हो। संभव है किसी मित्र से ले लिया हो। तीन सौ रुपये महीने की आमदनी में थिएटर और सिनेमा का जिक्र ही क्या! पचास रुपये तो मकान ही के निकल जाते हैं। मैं इस जंजाल से तंग आ गयी हूँ। जी चाहता है, विनोद से कह दूँ कि मेरे चलाये यह ठेला न चलेगा। आप तो दो-ढाई घंटा यूनिवर्सिटी में काम करके दिन-भर चैन करें, खूब टेनिस खेलें, खूब उपन्यास पढ़ें, खूब सोयें और मैं सुबह से आधी रात तक घर के

झंझटों में मरा करूँ। कई बार छेड़ने का इरादा किया, दिल में ठानकर उनके पास गयी भी, लेकिन उनका सामीप्य मेरे सारे संयम, सारी ग्लानि, सारी विरक्ति को हर लेता है। उनका विकसित मुखमंडल, उनके अनुरक्त नेत्र, उनके कोमल शब्द मुझ पर मोहिनी मंत्र-सा डाल देते हैं। उनके एक आलिंगन में मेरी सारी वेदना विलीन हो जाती है। बहुत अच्छा होता, अगर यह इतने रूपवान्, इतने मधुरभाषी, इतने सौम्य न होते। तब कदाचित् मैं इनसे झगड़ बैठती, अपनी कठिनाइयाँ कह सकती। इस दशा में तो इन्होंने मुझे जैसे भेड़ बना लिया है। मगर माया को तोड़ने का मौका तलाश कर रही हूँ। एक तरह से मैं अपना आत्म-सम्मान खो बैठी हूँ। मैं क्यों हर एक बात में किसी की अप्रसन्नता से डरती रहती हूँ? मुझमें क्यों यह भाव नहीं आता कि जो कुछ मैं कर रही हूँ, वह ठीक है। मैं इतनी मुखापेक्षा क्यों करती हूँ? इस मनोवृत्ति पर मुझे विजय पाना है, चाहे जो कुछ हो। अब इस वक्त विदा होती हूँ। अपने यहाँ के समाचार लिखना, जी लगा है।

तुम्हारी,

पद्मा।

8

काशी

25-12-25

प्यारी पद्मा,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे कुछ दुःख हुआ, कुछ हँसी आयी, कुछ क्रोध आया। तुम क्या चाहती हो, यह तुम्हें खुद नहीं मालूम। तुमने आदर्श पति पाया है, व्यर्थ की शंकाओं से मन को अशांत न करो। तुम स्वाधीनता चाहती थीं, वह तुम्हें मिल गयी। दो आदमियों के लिए तीन सौ रुपये कम नहीं होते। उस पर अभी तुम्हारे पापा भी सौ रुपये दिये जाते हैं। अब और क्या करना चाहिए? मुझे भय होता है कि तुम्हारा चित्त कुछ अव्यवस्थित हो गया है। मेरे पास तुम्हारे लिए सहानुभूति का एक शब्द भी नहीं।

मैं पन्द्रह तारीख को काशी आ गयी। स्वामी स्वयं मुझे विदा कराने गये थे। घर से चलते समय बहुत रोई। पहले मैं समझती थी कि लड़कियाँ झूठ-मूठ रोया करती हैं। फिर मेरे लिए तो माता-पिता का वियोग कोई नई बात न थी। गर्मी, दशहरा और बड़े दिन की छुट्टियों के बाद छः सालों से इस वियोग का अनुभव

कर रही हूँ। कभी आँखों में आँसू न आते थे। सहेलियों से मिलने की खुशी होती थी। पर अबकी तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई हृदय को खींचे लेता है। अम्माँजी के गले लिपटकर तो मैं इतना रोई कि मुझे मूर्छा आ गयी। पिताजी के पैरों पर लोट कर रोने की अभिलाषा मन में ही रह गयी। हाय, वह रुदन का आनन्द! उस समय पिता के चरणों पर गिरकर रोने के लिए मैं अपने प्राण तक दे देती। यही रोना आता था कि मैंने इनके लिए कुछ न किया। मेरा पालन-पोषण करने में इन्होंने क्या कुछ कष्ट न उठाया! मैं जन्म की रोगिणी हूँ। रोज ही बीमार रहती थी। अम्माँजी रात-रात भर मुझे गोद में लिये बैठी रह जाती थी। पिताजी के कन्धों पर चढ़कर उचकने की याद मुझे अभी तक आती है। उन्होंने कभी मुझे कड़ी निगाह से नहीं देखा। मेरे सिर में दर्द हुआ और उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। दस वर्ष की उम्र तक तो यों गए। छः साल देहरादून में गुजरे। अब, जब इस योग्य हुई कि उनकी कुछ सेवा करूँ, तो यों पर झाड़कर अलग हो गई। कुल आठ महीने तक उनके चरणों की सेवा कर सकी और यही आठ महीने मेरे जीवन की निधि है। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मेरा जन्म फिर इसी गोद में हो और फिर इसी अतुल पितृस्नेह का आनन्द भोगूँ।

सन्ध्या समय गाड़ी स्टेशन से चली। मैं जनाना कमरे में थी और लोग दूसरे कमरे में थे। उस वक्त सहसा मुझे स्वामीजी को देखने की प्रबल इच्छा हुई। सान्त्वना, सहानुभूति और आश्रय के लिए हृदय व्याकुल हो रहा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई कैदी काले पानी जा रहा हो।

घंटे भर के बाद गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। मैं पीछे की ओर खिड़की से सिर निकालकर देखने लगी। उसी वक्त द्वार खुला और किसी ने कमरे में कदम रखा। उस कमरे में एक औरत भी न थी। मैंने चौंककर पीछे देखा तो एक पुरुष। मैंने तुरन्त मुँह छिपा लिया और बोली, आप कौन हैं? यह जनाना कमरा है। मरदाने कमरे में जाइए।

पुरुष ने खड़े-खड़े कहा — मैं तो इसी कमरे में बैठूँगा। मरदाने कमरे में भीड़ बहुत है।

मैंने रोष से कहा — नहीं, आप इसमें नहीं बैठ सकते।

'मैं तो बैठूँगा।'

'आपको निकलना पड़ेगा। आप अभी चले जाइये, नहीं तो मैं अभी जंजीर खींच लूँगी।'

‘अरे साहब, मैं भी आदमी हूँ, कोई जानवर नहीं हूँ। इतनी जगह पड़ी हुई है। आपका इसमें हरज क्या है?’

गाड़ी ने सीटी दी। मैं और घबराकर बोली — आप निकलते हैं, या मैं जंजीर खींचूँ?

पुरुष ने मुस्कराकर कहा — आप तो बड़ी गुस्सावर मालूम होती हैं। एक गरीब आदमी पर आपको जरा भी दया नहीं आती?

गाड़ी चल पड़ी। मारे क्रोध और लज्जा के मुझे पसीना आ गया। मैंने फौरन द्वार खोल दिया और बोली — अच्छी बात है, आप बैठिए, मैं ही जाती हूँ।

बहन, मैं सच कहती हूँ, मुझे उस वक्त लेशमात्र भी भय न था। जानती थी, गिरते ही मर जाऊँगी, पर एक अजनबी के साथ अकेले बैठने से मर जाना अच्छा था। मैंने एक पैर लटकाया ही था कि उस पुरुष ने मेरी बाँह पकड़ ली और अन्दर खींचता हुआ बोला — अब तक तो आपने मुझे काले पानी भेजने का सामान कर दिया था। यहाँ और कोई तो है नहीं, फिर आप इतना क्यों घबराती हैं। बैठिए, जरा हँसिए-बोलिए। अगले स्टेशन पर मैं उतर जाऊँगा, इतनी देर तक कृपा-कटाक्ष से वंचित न कीजिए। आपको देखकर दिल काबू से बाहर हुआ जाता है। क्यों एक गरीब का खून सिर पर लीजिएगा।.......

मैंने झटककर अपना हाथ छुटा लिया। सारी देह काँपने लगी। आँखों में आँसू भर आये। उस वक्त अगर मेरे पास कोई छुरी या कटार होती, तो मैंने जरूर उसे निकाल लिया होता और मरने-मारने को तैयार हो गई होती। मगर इस दशा में क्रोध से ओंठ चबाने के सिवा और क्या करती! आखिर झल्लाना व्यर्थ समझकर मैंने सावधान होने की चेष्टा करके कहा — आप कौन हैं? उसने उसी ढिठाई से कहा — तुम्हारे प्रेम का इच्छुक।

'आप तो मजाक करते हैं। सच बतलाइए।'

'सच बता रहा हूँ, तुम्हारा आशिक हूँ।'

'अगर आप मेरे आशिक हैं, तो कम-से-कम इतनी बात मानिए कि अगले स्टेशन पर उतर जाइए। मुझे बदनाम करके आप कुछ न पायेंगे। मुझ पर इतनी दया कीजिए।'

मैंने हाथ जोड़कर यह बात कही। मेरा गला भी भर आया था। उस आदमी ने द्वार की ओर जाकर कहा — अगर आपका यही हुक्म है, तो लीजिए, जाता हूँ। याद रखिएगा। उसने द्वार खोल लिया और एक पाँव आगे बढ़ाया। मुझे मालूम हुआ वह नीचे कूदने जा रहा है। बहन, नहीं कह सकती कि उस वक्त मेरे दिल की क्या दशा हुई। मैंने बिजली की तरह लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और अपनी तरफ जोर से खींच लिया।

उसने ग्लानि से भरे हुए स्वर में कहा — क्यों खींच लिया, मैं तो चला जा रहा था।

‘अगला स्टेशन आने दीजिए।’

‘जब आप भगा ही रही हैं, तो जितनी जल्द भाग जाऊँ उतना ही अच्छा।’

‘मैं यह कब कहती हूँ कि आप चलती गाड़ी से कूद पड़िए।’

‘अगर मुझ पर इतनी दया है, तो एक बार जरा दर्शन ही दे दो।’

‘अगर आपकी स्त्री से कोई दूसरा पुरुष बातें करता, तो आपको कैसा लगता?’

पुरुष ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा — मैं उसका खून पी जाता।

मैंने निस्संकोच होकर कहा — तो फिर आपके साथ मेरे पति क्या व्यवहार करेंगे, यह भी आप समझते होंगे?

‘तुम अपनी रक्षा आप ही कर सकती हो। प्रिये! तुम्हें पति की मदद की जरूरत ही नहीं। अब आओ, मेरे गले से लग जाओ। मैं ही तुम्हारा भाग्यशाली स्वामी और सेवक हूँ।’

मेरा हृदय उछल पड़ा। एक बार मुँह से निकला — ’अरे! आप!!’ और मैं दूर हटकर खड़ी हो गयी। एक हाथ लंबा घूँघट खींच लिया। मुँह से एक शब्द न निकला।

स्वामी ने कहा — अब यह शर्म और परदा कैसा?

मैंने कहा — आप बड़े छलिये हैं! इतनी देर तक मुझे रुलाने में क्या मजा आया?

स्वामी — इतनी देर में मैंने तुम्हें जितना पहचान लिया, उतना घर के अन्दर शायद बरसों में भी न पहचान सकता। यह अपराध क्षमा करो। क्या तुम सचमुच गाड़ी से कूद पड़तीं?

'अवश्य?'

'बड़ी खैरियत हुई, मगर यह दिल्लगी बहुत दिनों याद रहेगी।'

मेरे स्वामी औसत कद के, साँवले, चेचकरू, दुबले आदमी हैं। उनसे कहीं रूपवान् पुरुष मैंने देखे हैं: पर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो रहा था! कितनी आनन्दमय सन्तुष्टि का अनुभव कर रही थी, मैं बयान नहीं कर सकती।

मैंने पूछा — गाड़ी कब तक पहुँचेगी?

'शाम को पहुँच जायेंगे।'

मैंने देखा, स्वामी का चेहरा कुछ उदास हो गया है। वह दस मिनट तक चुपचाप बैठे बाहर की तरफ ताकते रहे। मैंने उन्हें केवल बात में लगाने ही के लिए यह अनावश्यक प्रश्न पूछा था। पर अब भी जब वह न बोले तो मैंने फिर न छेड़ा। पानदान

खोलकर पान बनाने लगी। सहसा, उन्होंने कहा — चन्दा, एक बात कहूँ?

मैंने कहा — हाँ-हाँ, शौक से कहिए।

उन्होंने सिर झुकाकर शर्माते हुए कहा — मैं जानता कि तुम इतनी रूपवती हो, तो मैं तुमसे विवाह न करता। अब तुम्हें देखकर मुझे मालूम हो रहा है कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। मैं किसी तरह तुम्हारे योग्य न था।

मैंने पान का बीड़ा उन्हें देते हुए कहा — ऐसी बातें न कीजिए। आप जैसे हैं, मेरे सर्वस्व हैं। मैं आपकी दासी बनकर अपने भाग्य को धन्य मानती हूँ।

दूसरा स्टेशन आ गया। गाड़ी रुकी। स्वामी चले गये। जब-जब गाड़ी रुकती थी, वह आकर दो-चार बातें कर जाते थे। शाम को हम लोग बनारस पहुँच गए। मकान एक गली में है और मेरे घर से बहुत छोटा है। इन कई दिनों में यह भी मालूम हो रहा है कि सासजी स्वभाव की रूखी हैं। लेकिन अभी किसी के बारे में कुछ नहीं कह सकती। सम्भव है, मुझे भ्रम हो रहा हो। फिर लिखूँगी। मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि घर कैसा है, आर्थिक दशा कैसी है, सास-ससुर कैसे हैं। मेरी इच्छा है कि यहाँ सभी मुझ से खुश रहें। पतिदेव को मुझसे प्रेम है, यह मेरे लिए काफी है।

मुझे और किसी बात की परवा नहीं। तुम्हारे बहनोईजी का मेरे पास बार-बार आना सासजी को अच्छा नहीं लगता। वह समझती हैं, कहीं यह सिर न चढ़ जाय। क्यों मुझ पर उनकी यह अकृपा है, कह नहीं सकती; पर इतना जानती हूँ कि वह अगर इस बात से नाराज होती हैं, तो हमारे ही भले के लिए। वह ऐसी कोई बात क्यों करेंगी, जिसमें हमारा हित न हो। अपनी सन्तान का अहित कोई माता नहीं कर सकती। मुझ ही में कोई बुराई उन्हें नजर आई होगी। दो-चार दिन में आप ही मालूम हो जाएगा! अपने यहाँ के समाचार लिखना। जवाब की आशा एक महीने के पहले तो है नहीं, यों तुम्हारी खुशी।

तुम्हारी,

चन्दा

9

दिल्ली

1-2-26

प्यारी बहन,

तुम्हारे प्रथम मिलन की कुतूहलमय कथा पढ़कर, चित्त प्रसन्न हो गया। मुझे तुम्हारे ऊपर हसद हो रहा है। मेंने समझा था, तुम्हें मुझ पर हसद होगा, पर क्रिया उलटी हो गयी, तुम्हें चारों ओर हरियाली ही नजर आती है, मैं जिधर नजर डालती हूँ, सूखे रेत और नग्न टीलों के सिवा और कुछ नहीं। खैर! अब कुछ मेरा वृत्तान्त सुनो —

“अब जिगर थामकर बैठो, मेरी बारी आयी।”

विनोद की अविचलित दार्शनिकता अब असह्य हो गयी है। कुछ विचित्र जीव हैं, घर में आग लगे, पत्थर पड़े इनकी बला से। इन्हें मुझ पर जरा भी दया नहीं आती। मैं सुबह से शाम तक घर के झंझटों में कुढ़ा करूँ, इन्हें कुछ परवाह नहीं। ऐसा सहानुभूति से खाली आदमी कभी नहीं देखा था। इन्हें तो किसी जंगल में तपस्या करनी चाहिए थी। अभी तो खैर दो ही प्राणी हैं, लेकिन कहीं बाल-बच्चे हो गये तब तो मैं बे-मौत मर जाऊँगी। ईश्वर न करे, वह दारुण विपत्ति मेरे सिर पड़े। चन्दा, मुझे अब दिल से लगी हुई है कि किसी भाँति इनकी वह समाधि भंग कर दूँ। मगर कोई उपाय सफल नहीं होता, कोई चाल ठीक नहीं पड़ती। एक दिन मैंने उनके कमरे के लैम्प का बल्ब तोड़ दिया। कमरा अँधेरा पड़ा रहा। आप सैर करके आये, तो कमरा अँधेरा देखा। मुझसे पूछा, मैंने कह दिया बल्ब टूट गया। बस, आपने भोजन

किया और मेरे कमरे में आकर लेट रहे। पत्रों और उपन्यासों की ओर देखा तक नहीं, न-जाने वह उत्सुकता कहाँ विलीन हो गयी। दिन-भर गुजर गया, आपको बल्ब लगवाने की कोई फिक्र नहीं। आखिर, मुझी को बाजार से लाना पड़ा।

एक दिन मैंने झुँझलाकर रसोइये को निकाल दिया। सोचा जब लाला रात-भर भूखे सोयेंगे, तब आँखें खुलेंगी। मगर इस भले आदमी ने कुछ पूछा तक नहीं। चाय न मिली, कुछ परवाह नहीं। ठीक दस बजे आपने कपड़े पहने, एक बार रसोई की ओर जाकर देखा, सन्नाटा था। बस, कॉलेज चल दिये। एक आदमी पूछता है, महाराज कहाँ गया, क्यों गया; अब क्या इन्तजाम होगा, कौन खाना पकायेगा, कम-से-कम इतना तो मुझसे कह सकते थे कि तुम अगर नहीं पका सकती, तो बाजार ही से कुछ खाना मँगवा लो। जब वह चले गए, तो मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। रायल होटल से खाना मँगवाया और बैरे के हाथ कालेज भेज दिया। पर खुद भूखी ही रही। दिन-भर भूख के मारे बुरा हाल था। सिर में दर्द होने लगा। आप कालेज से आए और मुझे पड़े देखा तो ऐसे परेशान हुए मानो मुझे त्रिदोष है। उसी वक्त एक डाक्टर बुला भेजा। डाक्टर आये, आँखें देखी, जबान देखी, हरारत देखी, लगाने की दवा अलग दी, पीने की अलग, आदमी दवा लेने गया। लौटा तो बारह रुपये का बिल भी था। मुझे इन सारी

बातों पर ऐसा क्रोध आ रहा था कि कहाँ भागकर चली जाऊँ। उस पर आप आराम-कुर्सी डालकर मेरी चारपाई के पास बैठ गए और एक-एक पल पर पूछने लगे कैसा जी है? दर्द कुछ कम हुआ? यहाँ मारे भूख के आँतें कुलकुला रही थी। दवा हाथ से छुई तक नहीं। आखिर झख मारकर मैंने फिर बैरे से खाना मँगवाया। फिर चाल उलटी पड़ी। मैं डरी कि कहीं सबेरे फिर यह महाशय डॉक्टर को न बुला बैठें, इसलिए सबेरा होते ही हारकर फिर घर के काम-धन्धे में लगी। उसी वक्त एक दूसरा महाराज बुलवाया। अपने पुराने महाराज को बेकसूर निकालकर दण्डस्वरूप एक काठ के उल्लू को रखना पड़ा,जो मामूली चपातियाँ भी नहीं पका सकता। उस दिन से एक नयी बला गले पड़ी। दोनों वक्त दो घंटे इस महाराज को सिखाने में लग जाते हैं। इसे अपनी पाक-कला का ऐसा घमण्ड है कि मैं चाहे जितना बकूँ, पर करता अपने ही मन की है। उस पर बीच-बीच में मुस्कराने लगता है, मानो कहता हो कि 'तुम इन बातों को क्या जानो, चुपचाप बैठी देखती जाव।' जलाने चली थी विनोद को और खुद जल गयी। रुपये खर्च हुए, वह तो हुए ही, एक और जंजाल में फँस गयी। मैं खुद जानती हूँ कि विनोद का डॉक्टर को बुलाना या मेरे पास बैठे रहना केवल दिखावा था। उनके चेहरे पर जरा भी घबराहट न थी, चित्त जरा भी अशांत न था।

चंदा, मुझे क्षमा करना। मैं नहीं जानती कि ऐसे पुरुष के पाले पड़कर तुम्हारी क्या दशा होती, पर मेरे लिए इस दशा में रहना असह्य है। मैं आगे जो वृत्तान्त कहने वाली हूँ, उसे सुनकर तुम नाक-भौं सिकोड़ोगी, मुझे कोसोगी, कलंकिनी कहोगी; पर जो चाहे कहो, मुझे परवा नहीं। आज चार दिन होते हैं, मैंने त्रिया-चरित्र का एक नया अभिनय किया। हम दोनों सिनेमा देखने गये थे। वहाँ मेरी बगल में एक बंगाली बाबू बैठे हुए थे। विनोद सिनेमा में इस तरह बैठते हैं, मानो ध्यानावस्था में हों। न बोलना, न चालना! फिल्म इतनी सुन्दर थी, ऐक्टिंग इतनी सजीव कि मेरे मुँह से बार-बार प्रशंसा के शब्द निकल जाते थे। बंगाली बाबू को भी बड़ा आनन्द आ रहा था। हम दोनों उस फिल्म पर आलोचनाएँ करने लगे। वह फिल्म के भावों की इतनी रोचक व्याख्या करता था कि मन मुग्ध हो जाता था। फिल्म से ज्यादा मजा मुझे उसकी बातों में आ रहा था। बहन, सच कहती हूँ, शक्ल-सूरत में वह विनोद के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकता, पर केवल विनोद को जलाने के लिए मैं उससे मुस्करा-मुस्करा कर बातें करने लगी। उसने समझा, कोई शिकार फँस गया। अवकाश के समय वह बाहर जाने लगा, तो मैं भी उठ खड़ी हुई; पर विनोद अपनी जगह पर ही बैठे रहे।

मैंने कहा — बाहर चलते हो, मेरी तो बैठे-बैठे कमर दुख गयी।

विनोद बोले — हाँ-हाँ चलो, इधर-उधर टहल आयें। मैंने लापरवाही से कहा — तुम्हारा जी न चाहे तो मत चलो, मैं मजबूर नहीं करती।

विनोद फिर अपनी जगह पर बैठते हुए बोले — अच्छी बात है।

मैं बाहर आयी तो बंगाली बाबू ने पूछा — क्या आप यहीं की रहने वाली हैं?

'मेरे पति यहाँ यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।'

'अच्छा! वह आपके पति थे। अजीब आदमी हैं।'

'आपको तो मैंने शायद यहाँ पहले ही देखा है।'

'हाँ, मेरा मकान तो बंगाल में है। कंचनपुर के महाराज साहब का प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। महाराजा साहब वाइसराय से मिलने आये हैं। '

'तो अभी दो-चार दिन रहिएगा?'

'जी हाँ, आशा तो करता हूँ। रहूँ तो साल-भर रह जाऊँ। जाऊँ तो दूसरी गाड़ी से चला जाऊँ। हमारे महाराजा साहब का कुछ ठीक नहीं। यों बड़े सज्जन और मिलनसार हैं। आपसे मिलकर बहुत खुश होंगे।

यह बातें करते-करते हम रेस्ट्राँ में पहुँच गये। बाबू ने चाय और टोस्ट लिया। मैंने सिर्फ चाय ली।

'तो इसी वक्त आपका महाराजा साहब से परिचय करा दूँ। आपको आश्चर्य होगा कि मुकुटधारियों में भी इतनी नम्रता और विनय हो सकती है। उनकी बातें सुनकर आप मुग्ध हो जायँगी।'

मैंने आईने में अपनी सूरत देखकर कहा — जी नहीं, फिर किसी दिन पर रखिए। आपसे तो अक्सर मुलाकात होती रहेगी। क्या आपकी स्त्री आपके साथ नहीं आयीं?

युवक ने मुस्कराकर कहा — मैं अभी क्वाँरा हूँ और शायद क्वाँरा ही रहूँ?

मैंने उत्सुक होकर पूछा — अच्छा! तो आप भी स्त्रियों से भागने वाले जीवों में हैं। इतनी बातें तो हो गयी और आपका नाम तक न पूछा।

बाबू ने अपना नाम भुवनमोहन दास गुप्त बताया। मैंने अपना परिचय दिया।

'जी नहीं, मैं उन अभागों में हूँ, जो एक बार निराश होकर फिर उसकी परीक्षा नहीं करते। रूप की तो संसार में कमी नहीं, मगर

रूप और गुण का मेल बहुत कम देखने में आता है। जिस रमणी से मेरा प्रेम था, वह आज एक बड़े वकील की पत्नी है। मैं गरीब था। इसकी सजा मुझे ऐसी मिली कि जीवनपर्यन्त न भूलेगी। साल-भर तक जिसकी उपासना की, जब उसने मुझे धन पर बलिदान कर दिया, तो अब और क्या आशा रखूँ?

मैंने हँसकर कहा — आपने बहुत जल्द हिम्मत हार दी।

भुवन ने सामने द्वार की ओर ताकते हुए कहा — मैंने आज तक ऐसा वीर ही नहीं देखा, जो रमणियों से परास्त न हुआ हो। ये हृदय पर चोट करती हैं और हृदय एक ही गहरी चोट सह सकता है। जिस रमणी ने मेरे प्रेम को तुच्छ समझकर पैरों से कुचल दिया, उसको मैं दिखाना चाहता हूँ कि मेरी आँखों में धन कितनी तुच्छ वस्तु है, यही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। मेरा जीवन उसी दिन सफल होगा, जब विमला के घर के सामने मेरा विशाल भवन होगा और उसका पति मुझसे मिलने में अपना सौभाग्य समझेगा।

मैंने गम्भीरता से कहा — यह तो कोई बहुत ऊँचा उद्देश्य नहीं है। आप यह क्यों समझते हैं कि विमला ने केवल धन के लिए आपका परित्याग किया। सम्भव है, इसके और भी कारण हों। माता-पिता ने उस पर दबाव डाला हो, या अपने ही में उसे कोई

ऐसी त्रुटि दिखलाई दी हो, जिससे आपका जीवन दुःखमय हो जाता। आप यह क्यों समझते हैं कि जिस प्रेम से वंचित होकर आप इतने दुःखी हुए, उसी प्रेम से वंचित होकर वह सुखी हुई होगी। सम्भव था, कोई धनी स्त्री पाकर आप भी फिसल जाते।

भुवन ने जोर देकर कहा — यह असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। मैं उसके लिए त्रिलोक का राज्य भी त्याग देता।

मैंने हँसकर कहा — हाँ, इस वक्त आप ऐसा कह सकते हैं; मगर ऐसी परीक्षा में पड़कर आपकी क्या दशा होती, इसे आप निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते। सिपाही की बहादुरी का प्रमाण उसकी तलवार है, उसकी जबान नहीं। इसे अपना सौभाग्य समझिए कि आपको उस परीक्षा में नहीं पड़ना पड़ा। वह प्रेम, प्रेम नहीं है, जो प्रत्याघात की शरण ले। प्रेम का आदि भी सहृदयता है और अन्त भी सहृदयता। सम्भव है, आपको अब भी कोई ऐसी बात मालूम हो जाय, जो विमला की तरफ से आपको नर्म कर दे।

भुवन गहरे विचार में डूब गया। एक मिनट के बाद उन्होंने सिर उठाया। और बोले — मिसेज विनोद, आपने आज एक ऐसी बात सुझा दी, जो आज तक मेरे ध्यान में आयी ही न थी। यह भाव कभी मेरे मन में उदय ही नहीं हुआ। मैं इतना अनुदार क्यों हो

गया, समझ में नहीं आता। मुझे आज मालूम हुआ कि प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन रमणियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष कभी प्रेम के लिए आत्म-समर्पण नहीं कर सकता — वह प्रेम को स्वार्थ और वासना से पृथक नहीं कर सकता। अब मेरा जीवन सुखमय हो जायगा। आपने मुझे आज शिक्षा दी है, उसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

यह कहते-कहते भुवन सहसा चौंक पड़े और बोले — ओह! मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ — सारा रहस्य समझ में आ गया, अब कोई बात छिपी नहीं है। ओह, मैंने विमला के साथ घोर अन्याय किया! महान् अन्याय! मैं बिल्कुल अंधा हो गया था। विमला, मुझे क्षमा करो।

भुवन इसी तरह देर तक विलाप करते रहे। बार-बार मुझे धन्यवाद देते थे और मूर्खता पर पछताते थे। हमें इसकी सुध ही न रही कि कब घंटी बजी, कब खेल शुरू हुआ। यकायक विनोद कमरे में आए। मैं चौंक पड़ी। मैंने उनके मुख की ओर देखा, किसी भाव का पता न था। बोले — तुम अभी यही हो, पद्मा! खेल शुरू हुए तो देर हुई! मैं चारों तरफ तुम्हें खोज रहा था।

मैं हकबकाकर उठ खड़ी हुई और बोली — खेल शुरू हो गया? घंटी की आवाज तो सुनायी ही नहीं दी।

भुवन भी उठे। हम फिर आकर तमाशा देखने लगे। विनोद ने मुझे अगर इस वक्त दो-चार लगने वाली बातें कह दी होतीं, उनकी आँखों में क्रोध की झलक दिखायी देती, तो मेरा अशान्त हृदय सँभल जाता, मेरे मन को ढाढ़स होती, पर उनके अविचलित विश्वास ने मुझे और भी अशांत कर दिया। बहन, मैं चाहती हूँ, वह मुझ पर शासन करें। मैं उनकी कठोरता, उनकी उद्दण्डता, उनकी बलिष्ठता का रूप देखना चाहती हूँ। उनके प्रेम, प्रमोद, विश्वास का रूप देख चुकी। इससे मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होती! तुम उस पिता को क्यों कहोगी, जो अपने पुत्र को अच्छा खिलाये, अच्छा पहनाये, पर उसकी शिक्षा-दीक्षा की कुछ चिन्ता न करे; वह जिस राह जाय, उस राह जाने दे; जो कुछ करे, वह करने दे। कभी उसे कड़ी आँख से देखे भी नहीं। ऐसा लड़का अवश्य ही आवारा हो जायगा। मेरा भी वही हाल हुआ जाता है। यह उदासीनता मेरे लिए असह्य है। इस भले आदमी ने यहाँ तक न पूछा कि भुवन कौन है? भुवन ने यही तो समझा होगा कि इसका पति इसकी बिल्कुल परवाह नहीं करता। विनोद खुद स्वाधीन रहना चाहते हैं, मुझे भी स्वाधीन छोड़ देना चाहते हैं। वह मेरे किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। इसी तरह चाहते हैं कि मैं भी उनके किसी काम में हस्तक्षेप न करूँ मैं इस स्वाधीनता को दोनों ही के लिए विष तुल्य समझती हूँ। संसार में

स्वाधीनता का चाहे जो भी मूल्य हो, घर में तो पराधीनता ही फलती-फूलती है। मैं जिस तरह अपने एक जेवर को अपना समझती हूँ, उसी तरह विनोद को अपना समझना चाहती हूँ। अगर मुझसे पूछे बिना विनोद उसे किसी को दे दें, तो मैं लड़ पड़ूँगी। मैं चाहती हूँ, कहाँ हूँ, क्या पढ़ती हूँ, किस तरह जीवन जीवन व्यतीत करती हूँ, इन सारी बातों पर उनकी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए। जब वह मेरी परवाह नहीं करते, तो मैं उनकी परवाह क्यों करूँ? इस खींचातानी में हम एक-दूसरे से अलग होते चले जा रहे हैं और क्या कहूँ, मुझे कुछ नहीं मालूम कि वह किन मित्रों को रोज पत्र लिखते हैं। उन्होंने भी मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा। खैर, मैं क्या लिख रही थी, क्या कहने लगी। विनोद ने मुझसे कुछ नहीं पूछा। मैं फिर भुवन से फिल्म के सम्बन्ध में बातें करने लगी। जब खेल खत्म हो गया और हम लोग बाहर आए और ताँगा ठीक करने लगे, तो भुवन ने कहा — मैं अपनी कार में आपको पहुँचा दूँगा।

हमने कोई आपत्ति नहीं की। हमारे मकान का पता पूछकर भुवन ने कार चला दी। रास्ते में मैंने भुवन से कहा — कल मेरे यहाँ दोपहर का खाना खाइएगा।

भुवन ने स्वीकार कर लिया। भुवन तो हमें पहुँचाकर चले गए, पर मेरा मन बड़ी देर तक उन्हीं की तरफ लगा रहा। इन दो-

तीन घंटों में भुवन को जितना समझी, उतना विनोद को आज तक नहीं समझी। मैंने भी अपने हृदय की जितनी बातें उससे कह दीं, उतनी विनोद से आज तक नहीं कहीं। भुवन उन मनुष्यों में है, जो किसी पर पुरुष को मेरी कुदृष्टि डालते देखकर उसे मार डालेगा। उसी तरह मुझे किसी पुरुष से हँसते देखकर मेरा खून पी लेगा और जरूरत पड़ेगी, तो मेरे लिए आग में कूद पड़ेगा। ऐसा ही पुरुष-चरित्र मेरे हृदय पर विजय पर सकता है। मेरे ही हृदय पर नहीं, नारी-जाति (मेरे विचार में) ऐसे ही पुरुष पर जान देती हैं। वह निर्बल है, इसलिए बलवान् का आश्रय ढूँढ़ती है।

बहन, तुम ऊब गई होगी, खत बहुत लम्बा हो गया; मगर इस काण्ड को समाप्त किए बिना नहीं रहा जाता। मैंने सबेरे ही से भुवन की दावत की तैयारी शुरू कर दी। रसोइया तो काठ का उल्लू है, मैंने सारा काम अपने हाथ से किया। भोजन बनाने में ऐसा आनन्द मुझे और कभी न मिला था।

भुवन बाबू की कार ठीक समय पर आ पहुँची। भुवन उतरे और सीधे मेरे कमरे में आए। दो-चार बातें हुईं। डिनर-टेबल पर जा बैठे। विनोद भी भोजन करने आए। मैंने उन दोनों आदमियों का परिचय करा दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विनोद ने भुवन की ओर से कुछ उदासीनता दिखायी। इन्हें राजाओं-रईसों से चिढ़ है, साम्यवादी हैं। जब राजाओं से चिढ़ है तो उनके पिट्ठुओं से

क्यों न होती। वह समझते हैं, इन रईसों के दरबार में खुशामदी, निकम्मे, सिद्धान्त-हीन, चरित्रहीन लोगों का जमघट रहता है, जिनका इसके सिवाय और कोई काम नहीं कि अपने रईस की हर एक उचित-अनुचित इच्छा पूरी करें और प्रजा का गला काटकर अपना घर भरे। भोजन के समय बातचीत की धारा घूमते-घूमते विवाह और प्रेम-जैसे महत्त्व के विषय पर आ पहुँची।

विनोद ने कहा — नहीं, मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसन्द नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में था। तब से दुनियां बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जौ-भर भी अन्तर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं।

भुवन ने कहा — आखिर आपको इसमें क्या दोष दिखाई देते हैं?

विनोद ने विचारकर कहा — इसमें सबसे बड़ा ऐब यह है कि यह एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देता है।

'और दूसरा?'

'दूसरा यह कि यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक हैं। यह स्त्रीव्रत और पतिव्रत का स्वाँग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है, उतनी और किसी भौतिक या दैविक क्रांति से भी

नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी, सड़ी हुई, लज्जाजनक पाशविक लकीरों को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्त्वपूर्ण नाम देकर हमने उस कैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिए कि वह उसका भरण-पोषण करता है। क्या स्त्री का कर्त्तव्य केवल पुरुष की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है? उस सम्पत्ति के लिए जिस पर, हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहान्त के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। हमारे ही वीर्य से उत्पन्न सन्तान हमारी कमाई हुई जायदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थान्धता, कितना दासत्व छिपा हुआ है, इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस कैद में जकड़ी हुई समाज की सन्तान यदि आज घर में, देश में, संसार में, अपने क्रूर स्वार्थ के लिए रक्त की नदियाँ बहा रही है, तो क्या आश्चर्य है। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।'

भुवन चकित हो गया। मैं खुद चकित हो गई। विनोद ने इस विषय पर मुझसे कभी इतनी स्पष्टता से बातचीत न की थी। मैं

यह तो जानती थी, वह साम्यवादी हैं, दो-एक बार इस विषय पर उनसे बहस भी कर चुकी हूँ, पर वैवाहिक प्रथा के वे इतने विरोधी हैं, यह मुझे मालूम न था। भुवन के चेहरे से ऐसा प्रकट होता था कि उन्होंने ऐसे दार्शनिक विचारों की गंध तक नहीं पाई। जरा देर के बाद बोले — प्रोफेसर साहेब, आपने तो मुझे एक बड़े चक्कर में डाल दिया। आखिर आप इस प्रथा की जगह कोई और प्रथा रखना चाहते हैं या विवाह की आवश्यकता ही नहीं समझते? जिस तरह पशु-पक्षी आपस में मिलते हैं, वह हमें भी करना चाहिए?

विनोद ने तुरंत उत्तर दिया — बहुत कुछ। पशु-पक्षियों में सभी का मानसिक विकास एक-सा नहीं है। कुछ ऐसे हैं, जो जोड़े के चुनाव में कोई विचार नहीं रखते। कुछ ऐसे हैं, जो एक बार बच्चे पैदा करने के बाद अलग हो जाते हैं, और कुछ ऐसे हैं, जो जीवनपर्यन्त एक साथ रहते हैं। कितनी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझता हूँ, जो जीवनपर्यन्त एक साथ रहते हैं। मगर स्वेच्छा से। उनके यहाँ कोई कैद नहीं, कोई सजा नहीं। दोनों अपने-अपने चारे-दाने की फिक्र करते हैं। दोनों मिलकर रहने का स्थान बनाते हैं, दोनों साथ बच्चों का पालन करते हैं। उनके बीच में कोई तीसरा नर या मादा आ ही नहीं सकता, यहाँ तक कि उनमें से जब एक मर

जाता है तो दूसरा मरते दम तक फुट्टैल रहता है। यह अन्धेर मनुष्य-जाति ही में है कि स्त्री ने किसी दूसरे पुरुष से हँसकर बात की और उसके पुरुष की छाती पर साँप लोटने लगा, खून-खराबे के मंसूबे सोचे जाने लगे। पुरुष ने किसी दूसरी स्त्री की ओर रसिक नेत्रों से देखा और अर्धांगिनी ने त्योरियाँ बदलीं, पति के प्राण लेने को तैयार हो गई। यह सब क्या है? ऐसा मनुष्य-समाज सभ्यता का किस मुँह से दावा कर सकता है?

भुवन ने सिर सहलाते हुए कहा — मगर मनुष्यों में भी तो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। कुछ लोग हर महीने एक नया जोड़ा खोज निकालेंगे।

विनोद ने हँसकर कहा — लेकिन यह इतना आसान काम न होगा। या तो वह ऐसी स्त्री चाहेगा, जो सन्तान का पालन स्वयं कर सकती हो या उसे एक मुश्त सारी रकम अदा करना पड़ेगी!

भुवन भी हँसे — आप अपने को किस श्रेणी में रक्खेंगे?

विनोद इस प्रश्न के लिए तैयार न थे। था भी बेढंगा-सा सवाल। झेंपते हुए बोले — परिस्थितियाँ जिस श्रेणी में ले जायँ। मैं स्त्री और पुरुष दोनों के लिए पूर्ण स्वाधीनता का हामी हूँ। कोई कारण नहीं है कि मेरा मन किसी नवयौवना की ओर आकर्षित

हो और वह भी मुझे चाहे तो भी मैं समाज और नीति के भय से उसकी ओर ताक न सकूँ। मैं इसे पाप नहीं समझता।

भुवन अभी कुछ उत्तर न देने पाये थे कि विनोद उठ खड़े हुए। कॉलेज के लिए देर हो रही थी। तुरन्त कपड़े पहने और चल दिये। हम दोनों दीवानखाने में आकर बैठे और बातें करने लगे।

भुवन ने सिगार जलाते हुए कहा — 'कुछ सुना' कहाँ जाकर तान टूटी?

मैंने मारे शर्म के सिर झुका लिया। क्या जवाब देती। विनोद की अन्तिम बात ने मेरे हृदय पर कठोर आघात किया था। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि विनोद ने केवल मुझे सुनाने के लिए विवाह का यह नया खण्डन तैयार किया है। वह मुझसे पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। वह किसी रमणी की ताक में हैं, मुझसे उनका जी भर गया। वह ख्याल करके मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कदाचित् एकांत में मैं न रोती, पर भुवन के सामने मैं संयत न रह सकी। भुवन ने मुझे बहुत सांत्वना दी — आप व्यर्थ इतना शोक करती हैं। मिस्टर विनोद आपका मान न करें; पर संसार में कम-से-कम एक ऐसा व्यक्ति है, जो आपके संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता।

आप-जैसी रमणी-रत्न पाकर संसार में ऐसा कौन पुरुष है, जो अपने भाग्य को धन्य न मानेगा। आप इसकी बिलकुल चिन्ता न करें।

मुझे भुवन की यह बात बुरी मालूम हुई। क्रोध से मेरा मुख लाल हो गया। यह धूर्त मेरी इस दुर्बलता से लाभ उठाकर मेरा सर्वनाश करना चाहता है। अपने दुर्भाग्य पर बराबर रोना आता था। अभी विवाह हुए साल भी नहीं पूरा हुआ, मेरी यह दशा हो गई कि दूसरों को मुझे बहकाने और मुझ पर अपना जादू चलाने का साहस हो रहा है। जिस वक्त मैंने विनोद को देखा था, मेरा हृदय कितना फूल उठा था। मैंने अपने हृदय को कितनी भक्ति से उनके चरणों पर अर्पण किया था। मगर क्या जानती थी कि इतनी जल्द मैं उनकी आँखों से गिर जाऊँगी और मुझे परित्यक्ता समझ, फिर शोहदे मुझ पर डोरे डालेंगे।

मैंने आँसू पोंछते हुए कहा — मैं आपसे क्षमा माँगती हूँ। मुझे जरा विश्राम लेने दीजिए।

'हाँ-हाँ, आराम करें; मैं बैठा देखता रहूँगा।'

'जी नहीं, अब आप कृपा करके जाइए। यों मुझे आराम न मिलेगा।'

'अच्छी बात है, आप आराम कीजिए। मैं सन्ध्या-समय आकर देख जाऊँगा।'

'जी नहीं, आपको कष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है।'

'अच्छा तो मैं कल जाऊँगा। शायद महाराजा साहब भी आवें।'

'नहीं, आप लोग मेरे बुलाने का इन्तजार कीजिएगा। बिना बुलाये न आइएगा।'

'यह कहती हुई मैं उठकर अपने सोने के कमरे की ओर चली। भुवन एक क्षण मेरी ओर देखता रहा, फिर चुपके से चला गया।

बहन, इसे दो दिन हो गये हैं। पर मैं कमरे से बाहर नहीं निकली। भुवन दो-तीन बार आ चुका है, मगर मैंने उससे मिलने से साफ इनकार कर दिया। अब शायद उसे फिर आने का साहस न होगा। ईश्वर ने बड़े नाजुक मौके पर मुझे सुबुद्धि प्रदान की, नहीं तो मैं अब तक अपना सर्वनाश कर बैठी होती। विनोद प्राय: मेरे पास ही बैठे रहते हैं। लेकिन उनसे बोलने को मेरा जी नहीं चाहता। जो पुरुष व्यभिचार का दार्शनिक सिद्धांतों से समर्थन कर सकता है, जिसकी आँखों में विवाह-जैसे पवित्र बन्धन को कोई मूल्य नहीं, जो न मेरा हो सकता है, न मुझे अपना बना सकता है, उसके साथ मुझ-जैसी मानिनी गर्विणी स्त्री का कै दिन निर्वाह होगा!

बस, अब विदा होती हूँ। बहन, क्षमा करना। मैंने तुम्हारा बहुत-सा अमूल्य समय ले लिया। मगर इतना समझ लो कि मैं तुम्हारी दया नहीं, सहानुभूति चाहती हूँ।

तुम्हारी,

पद्मा।

10

काशी

5-1-26

बहन,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोई उपन्यास पढ़कर उठी हूँ। अगर तुम उपन्यास लिखो, तो मुझे विश्वास है, उसकी धूम मच जाय। तुम आप उसकी नायिका बन जाना। तुम ऐसी-ऐसी बातें कहाँ सीख गयी, मुझे तो यही आश्चर्य है। उस बंगाली के साथ तुम अकेली कैसी बैठी बातें करती रहीं, मेरी तो समझ नहीं आता। मैं तो कभी न कर सकती। तुम विनोद को जलाना चाहती हो, उनके चित्त को अशांत करना चाहती हो। उस

गरीब के साथ तुम कितना भयंकर अन्याय कर रही हो! तुम यह क्यों समझती हो कि विनोद तुम्हारी उपेक्षा कर रहे हैं, अपने विचारों में इतने मग्न है कि उनकी रुचि ही नहीं रही। संभव है, वह कोई दार्शनिक तत्व खोज रहें हो, कोई थीसिस लिख रहीं हो, किसी पुस्तक की रचना कर रहे हों। कौन कह सकता है? तुम जैसी रूपवती स्त्री पाकर यदि कोई मनुष्य चिन्तित रहे, तो समझ लो कि उसके दिल पर कोई बड़ा बोझ हैं। उनको तुम्हारी सहानुभूति की जरुरत है, तुम उनका बोझ हलका कर सकती हों। लेकिन तुम उलटे उन्हीं को दोष देती हों। मेरी समझ में नही आता कि तुम एक दिन क्यों विनोद से दिल खोलकर बातें नहीं कर लेती, संदेह को जितनी जल्द हो सकें, दिल से निकाल डालना चाहिए। संदेह वह चोट है, जिसका उपचार जल्द न हो, तो नासूर पड़ जाता है और फिर अच्छा नहीं होता। क्यों दो-चार दिनों के लिए यहाँ नहीं चली आतीं? तुम शायद कहो, तू ही क्यों नहीं चली आती। लेकिन मै स्वतन्त्र नही हूँ, बिना सास-ससुर से पूछे कोई काम नहीं कर सकती। तुम्हें तो कोई बंधन नहीं है।

बहन, आजकल मेरा जीवन हर्ष और शोक का विचित्र मिश्रण हो रहा हैं। अकेली होती हूँ, तो रोती हूँ, आनन्द आ जाते है तो हँसती हूँ। जी चाहता है, वह हरदम मेरे सामने बैठे रहते। लेकिन रात के बारह बजे के पहले उनके दर्शन नहीं होते। एक

दिन दोपहर को आ गये, तो सासजी ने ऐसा डाँटा कि कोई बच्चे को क्या डाँटेगा। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि सासजी को मुझसे चिढ़ हैं। बहन, मैं उन्हें भरसक प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हूँ। जो काम कभी न किये थे, वह उनके लिए करती हूँ, उनके स्नान के लिए पानी गर्म करती हूँ, उनकी पूजा के लिए चौकी बिछाती हूँ। वह स्नान कर लेती हैं, तो उनकी धोती छाँटती हूँ, वह लेटती हैं तो उनके पैर दबाती हूँ; जब वह सो जाती है तो उन्हें पंखा झलती हूँ। वह मेरी माता हैं, उन्ही के गर्भ से वह रत्न उत्पन्न हुआ है जो मेरा प्राणाधार है। मै उनकी कुछ सेवा कर सकूँ, इससे बढ़कर मेरे लिए सौभाग्य की और क्या बात होगी। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि वह मुझसे हँसकर बोले, मगर न जाने क्यों वह बात-बात पर मुझे कोसने दिया करती हैं। मैं जानती हूँ, दोष मेरा ही हैं। हाँ, मुझे मालूम नहीं, वह क्या हैं। अगर मेरा यही अपराध है कि मैं अपनी दोनों नन्दों से रूपवती क्यों हूँ, पढ़ी-लिखी क्यों हूँ, आन्नद मुझे इतना क्यों चाहते हैं, तो बहन, यह मेरे बस की बात नही। मेरे प्रति सासजी को भ्रम होता होगा कि मैं ही आनन्द को भरमा रहीं हूँ। शायद वह पछताती है कि क्यों मुझे बहू बनाया! उन्हें भय होता है कि कहीं मैं उनके बेटे को उनसे छीन न लूँ। दो-एक बार मुझे जादूगरनी कही चुकी हैं। दोनों ननदें अकारण ही मुझसे जलती रहती है। बड़ी

ननदजी तो अभी कलोर हैं, उनका जलना मेरी समझ में नही आता। मैं उनकी जगह होती,तो अपनी भावज से कुछ सीखने की, कुछ पढ़ने की कोशिश करती, उनके चरण धो-धोकर पीती, पर इस छोकरी को मेरा अपमान करने ही में आन्नद आता हैं। मैं जानती हूँ, थोड़े दिनों में दोनों ननदें लज्जित होंगी। हाँ, अभी वे मुझसे बिचकती हैं। मैं अपनी तरफ से तो उन्हें अप्रसन्न होने को कोई अवसर नहीं देती।

मगर रुप को क्या करूँ। क्या जानती थी कि एक दिन इस रुप के कारण मैं अपराधिनी ठहरायी जाऊँगी। मैं सच कहती हूँ बहन, यहाँ मैंने सिंगार करना एक तरह से छोड़ ही दिया हैं। मैली-कुचैली बनी बैठी रहती हूँ। इस भय से कि कोई मेरे पढ़ने-लिखने पर नाक न सिकोड़े, पुस्तकों को हाथ नहीं लगाती। घर से पुस्तकों का एक गट्ठर बाँध लायी थी। उसमें कोई पुस्तकें बड़ी सुन्दर हैं। उन्हें पढ़ने के लिए बार-बार जी चाहता हैं, मगर छरती हूँ कि कोई ताना न दे बैठे। दोनों ननदें मुझे देखती रहती हैं कि यह क्या करती हैं, कैसे बैठती है, कैसे बोलती है, मानो दो-दो जासूस मेरे पीछे लगा दिए गए हों। इन दोनों महिलाओं को मेरी बदगोई में क्यों इतना मजा आता हैं, नही कह सकती। शायद आजकल उन्हे सिवा दूसरा काम ही नहीं। गुस्सा तो ऐसा आता हैं कि एक बार झिड़क दूँ, लेकिन मन को समझाकर रोक

लेती हूँ। यह दशा बहुत दिनों नहीं रहेगी। एक नए आदमी से कुछ हिचक होना स्वाभाविक ही है, विशेषकर जब वह नया आदमी शिक्षा और विचार व्यवहार में हमसे अलग हो। मुझी को अगर किसी फ्रेंच लेडी के साथ रहना पड़े, तो शायद मे भी उसकी हरएक बात को आलोचना और कुतूहल की दृष्टि से देखने लगूँ। यह काशी-वासी लोग पूजा-पाठ बहुत करते है। सासजी तो रोज गंगा-स्नान करने जाती हैं। बड़ी ननद भी उनके साथ जाती है। मैने कभी पूजा नहीं की। याद है, हम और तुम पूजा करने वालों को कितना बनाया करती थी। अगर मै पूजा करने वालों का चरित्र कुछ उन्नत पाती, तो शायद अब तक मै भी पूजा करती होती। लेकिन मुझे तो कभी ऐसा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ, पूजा करने वालियाँ भी उसी तरह दूसरों की निन्दा करती हैं, उसी तरह आपस में लड़ती-झगड़ती हैं, जैसे वे जो कभी पूजा नहीं करतीं। खैर, अब मुझे धीरे-धीरे पूजा से श्रद्धा होती जा रही हैं। मेरे ददिया ससुरजी ने एक छोटा-सा ठाकुरद्वारा बनवा दिया था। वह मेरे घर के सामने ही हैं। मैं अक्सर सासजी के साथ वहाँ जाती हूँ और अब यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि उन विशाल मूर्तियों के दर्शन से मुझे अपने अंतस्तल में एक ज्योति का अनुभव होता है। जितनी अश्रद्धा से मैं राम और कृष्ण के जीवन की आलोचना किया करती थी, वह बहुत कुछ मिट चुकी हैं।

लेकिन रूपवती होने का दण्ड यहीं तक बस नहीं है। ननदें अगर मेरे रुप कों देखकर जलती हैं, तो यह स्वाभाविक हैं। दुःखी तो इस बात का है कि यह दण्ड मुझे उस तरफ से भी मिल रहा है, जिधर से इसकी कोई संभावना न होनी चाहिए — मेरे आनन्द बाबू भी मुझे इसका दण्ड दे रहे है। हाँ, उनकी दण्डनीति एक निराले ही ढंग की हैं। वह मेरे पास नित्य ही कोई-न-कोई सौगात लाते रहते है। वह जितनी देर मेरे पास रहते है। उनके मन में यह संदेह होता रहता है कि मुझे उनका रहना अच्छा नहीं लगता। वह समझते है कि मैं उनसे जो प्रेम करती हूँ, यह केवल दिखावा है, कोशल है। वह मेरे सामने कुछ ऐसे दबे-दबाये, सिमटे-सिमटाये रहते है कि मैं मारे लज्जा के मर जाती हूँ। उन्हें मुझसे कुछ कहते हुए ऐसा संकोच होता है, मानो वह कोई अनाधिकार चेष्टा कर रहे हों। जैसे मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए कोई आदमी उज्जवल वस्त्र पहनने वालों से दूर ही रहना चाहता है, वही दशा इनकी है। वह शायद समझते हैं कि किसी रूपवती स्त्री को रूपहीन पुरुष से प्रेम हो ही नहीं सकता। शायद वह दिल में पछताते है कि क्यों इससे विवाह किया। शायद उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होती है। वह मुझे कभी रोते देख लेते है, तो समझते है। मैं अपने भाग्य को रो रही हूँ, कोई पत्र लिखते देखते हैं, तो समझते है, मैं उनकी रुपहीनता ही का रोना रो रही हूँ। क्या कहूँ

बहन, यह सौन्दर्य मेरी जान का गाहक हो गया। आनन्द के मन से शंका को निकालने और उन्हें अपनी ओर से आश्वासन देने के लिए मुझे ऐसी-ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, ऐसे-ऐसे आचरण करने पड़ते हैं, जिन पर मुझे घृणा होती हैं। अगर पहले से यह दशा जानती, तो ब्रह्मा से कहती कि मुझे कुरूपा ही बनाना। बड़े असमंजस में पड़ी हूँ! अगर सासजी की सेवा नहीं करती, बड़ी ननदजी का मन नहीं रखती, तो उनकी आँखों से गिरती हूँ। अगर आनन्द बाबू को निराश करती हूँ, तो कदाचित् मुझसे विरक्त ही हो जायँ। मै तुमसे अपने हृदय की बात कहती हूँ। बहन, तुमसे क्या पर्दा रखना है; मुझे आनन्द बाबू से उतना प्रेम है, जो किसी स्त्री को पुरूष से हो सकता है, उनकी जगह अब अगर इन्द्र भी सामने आ जायँ, तो मै उनकी ओर आँख उठाकर न देखूँ। मगर उन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ। मै देखती हूँ, वह किसी न किसी बहाने से बार-बार घर मे आते है और दबी हुई, ललचाई हुई नजरों से मेरे कमरे के द्वार की ओर देखते है, तो जी चाहता है, जाकर उनका हाथ पकड़ लूँ और अपने कमरे में खींच ले आऊँ। मगर एक तो डर होता है कि किसी की आँख पड़ गयी, तो छाती पीटने लगेगी, और इससे भी बड़ा डर यह कि कहीं आनन्द इसे भी कौशल ही न समझ बैठे। अभी उनकी आमदनी बहुत कम है, लेकिन दो-चार रुपये सौगातों मे रोज उड़ाते हैं।

अगर प्रेमोपहार-स्वरूप वह धेले की कोई चीज दें, तो मैं उसे आँखों से लगाऊँ, लेकिन वह कर-स्वरूप देते हैं, मानो उन्हें ईश्वर ने यह दण्ड दिया हैं। क्या करूँ, अब मुझे भी प्रेम का स्वाँग करना पड़ेगा। प्रेम-प्रदर्शन से मुझे चिढ़ हैं। तुम्हें याद होगा, मैने एक बार कहा था कि प्रेम या तो भीतर ही रहेगा या बाहर ही रहेगा। समान रूप से वह भीतर और बाहर दोनों जगह नहीं रह सकता। स्वाँग वेश्याओं के लिए है, कुलवंती तो प्रेम को हृदय ही में संचित रखती हैं!

बहन, पत्र बहुत लम्बा हो गया, तुम पढ़ते-पढ़ते ऊब गयी होगी। मैं भी लिखते-लिखते थक गयी। अब शेष बातें कल लिखूँगी। परसों यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचेगा।

X X X

बहन, क्षमा करना; कल पत्र लिखने का अवसर नहीं मिला। रात एक ऐसी बात हो गयी,

जिससे चित्त अशान्त उठा। बड़ी मुश्किलों से यह थोड़ा-सा समय निकाल सकी हूँ। मैने अभी तक आनन्द से घर के किसी प्राणी की शिकायत नहीं की थी। अगर सासजी ने कोई बात की दी या ननदजी ने कोई ताना दे दिया; तो इसे उनके कानों तक क्यों पहुँचाऊँ। इसके सिवा कि गृह-कलह उत्पन्न हो, इससे और क्या

हाथ आयेगा। इन्हीं जरा-जरा सी बातों को न पेट में डालने से घर बिगड़ते हैं। आपस में वैमनस्य बढ़ता हैं। मगर संयोग की बात, कल अनायास ही मेरे मुँह से एक बात निकल गयी जिसके लिये मै अब भी अपने को कोस रहीं हूँ, और ईश्वर से मनाती हूँ कि वह आगे न बढ़े। बात यह हुई कि कल आन्नद बाबू बहुत देर करके मेरे पास आये। मैं उनके इन्तजार में बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी। सहसा सासजी ने आकर पूछा — क्या अभी तक बिजली जल रही है? क्या वह रात-भर न आयें, तो तुम रात-भर बिजली जलाती रहोगी?

मैनें उसी वक्त बत्ती ठण्डी कर दी। आनन्द बाबू थोड़ी ही देर मे आयें, तो कमरा अँधेरा पड़ा था न-जाने उस वक्त मेरी मति कितनी मन्द हो गयी थी। अगर मैने उनकी आहट पाते ही बत्ती जला दी होती, तो कुछ न होता, मगर मैं अँधेरे में पड़ी रहीं। उन्होनें पूछा — क्या सो गयीं? यह अंधेरा क्यों पड़ा हुआ है?

हाय! इस वक्त भी यदि मैने कह दिया होता कि मैने अभी बत्ती गुल कर दी तो बात बन जाती। मगर मेरे मुँह से निकला — ’सासजी का हुक्म हुआ कि बत्ती गुल कर दो, गुल कर दी। तुम रात-भर न आओ, तो क्या रातभर बत्ती जलती रहें?’

'तो अब तो जला दो। मै रोशनी के सामने से आ रहा हूँ। मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं।'

'मैने अब बटन को हाथ से छूने की कसम खा ली है। जब जरूरत पड़ेगी; तो मोम की बत्ती जला लिया करूँगी। कौन मुफ्त में घुड़कियाँ सहें।'

आनन्द ने बिजली का बटन दबाते हुए कहा — और मैंने कसम खा ली कि रात-भर बत्ती जलेगी, चाहे किसी को बुरा लगे या भला। सब कुछ देखता हूँ, अन्धा नहीं हूँ। दूसरी बहू आकर इतनी सेवा करेगी तो देखूँगा; तुम नसीब की खोटी हो कि ऐसे प्राणियों के पाले पड़ी। किसी दूसरी सास की तुम इतनी खिदमत करतीं, तो वह तुम्हें पान की तरह फेरती, तुम्हें हाथों पर लिए रहती, मगर यहाँ चाहे प्राण ही दे दे, किसी के मुँह से सीधी बात न निकलेगी।

मुझे अपनी भूल साफ मालूम हो गयी। उनका क्रोध शान्त करने के इरादे से बोली — गलती भी तो मेरी ही थी कि व्यर्थ आधी रात तक बत्ती जलायें बैठी रही। अम्माँजी ने गुल करने को कहा, तो क्या बुरा कहा? मुझे समझाना, अच्छी सीख देना, उनका धर्म हैं। मेरा धर्म यही है कि यथाशक्ति उनकी सेवा करूँ और उनकी शिक्षा को गिरह बाँधूँ।

आनन्द एक क्षण द्वार की ओर ताकते रहे। फिर बोले — मुझे मालूम हो रहा है कि इस घर में मेरा अब गुजर न होगा। तुम नहीं कहतीं, मगर मै सब कुछ सुनता रहता हूँ। सब समझता हूँ। तुम्हें मेरे पापों का प्रायश्चित करना पड़ रहा हैं। मै कल अम्माँजी से साफ-साफ कह दूँगा — अगर आपका यही व्यवहार है, तो आप अपना घर लीजिए, मै अपने लिए कोई दूसरी राह निकाल लूँगा।

मैंने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा — नहीं-नहीं। कहीं ऐसा गजब भी न करना। मेरे मुँह में आग लगे, कहाँ से कहाँ बत्ती का जिक्र कर बैठी। मैं तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ, मुझे न सासजी से कोई शिकायत है, न ननदजी से, दोनों मुझसे बड़ी है, मेरी माता के तुल्य हैं। अगर एक बात कड़ी भी कह दें, तो मुझे सब्र करना चाहिए! तुम उनसे कुछ न कहना नहीं तो मुझे बड़ा दु:ख होगा।

आनन्द ने रुँधे कंठ से कहा — तुम्हारी-जैसी बहू पाकर भी अम्माजी का कलेजा नहीं पसीजता, अब क्या कोई स्वर्ग की देवी घर में आती? तुम डरो मत, मैं ख्वामख्वाह लड़ूँगा नहीं। मगर हाँ, इतना अवश्य कह दूँगा कि जरा अपने मिजाज को काबू में रखें। आज अगर मै दो-चार सौ रुपयें घर में लाता होता, तो कोई चूँ न करता। कुछ कमाकर नहीं लाता, यह उसी का दण्ड है। सच

पूछो, तो मुझे विवाह करने का कोई अधिकार ही न था। मुझ-जैसे मन्द बुद्धि को, जो कौड़ी कमा नहीं सकता, उसे अपने साथ किसी महिला को डुबाने का क्या हक था! बहनजी को न-जाने क्या सूझी है कि तुम्हारे पीछे पड़ी रहती हैं। ससुराल का सफाया कर दिया, अब यहाँ भी आग लगाने पर तुली हुई है। बस, पिताजी का लिहाज करता हूँ, नहीं इन्हें तो एक दिन में ठीक कर देता।

बहन, उस वक्त तो मैंने किसी तरह उन्ही शान्त किया, पर नहीं कह सकती कि कब वह उबल पड़े। मेरे लिए वह सारी दुनिया से लड़ाई मोल ले लेंगे। मैं जिन परिस्थितियों में हूँ, उनका तुम अनुमान कर सकती हो। मुझ पर कितनी ही मार पड़े मुझे रोना न चाहिए, जबान तक न हिलाना चाहिए। मैं रोयी और घर तबाह हुआ। आनन्द फिर कुछ न सुनेंगे, कुछ न देखेंगे। कदाचित इस उपाय से वह अपने विचार मे मेरे हृदय में अपने प्रेम का अंकुर जमाना चाहते हो। आज मुझे मालूम हुआ कि यह कितने क्रोधी हैं। अगर मैंने जरा-सा पुचारा दे दिया होता, तो रात ही को वह सासजी की खोपड़ी पर जा पहुँचते। कितनी युवतियाँ इसी अधिकार के गर्व में अपने को भूल जाती हैं। मै तो बहन, ईश्वर ने चाहा तो कभी न भूलूँगी। मुझे इस बात का डर नहीं है कि आनन्द अलग घर बना लेंगे, तो गुजर कैसे होगा। मै उनके साथ सब-कुछ झेल सकती हूँ। लेकिन घर तो तबाह हो जायेगा।

बस, प्यारी पद्मा, आज इतना ही। पत्र का जवाब जल्द देना।

तुम्हारी,

चन्दा।

11

दिल्ली

5-2-26

प्यारी चन्दा,

क्या लिखूँ, मुझ पर तो विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा! हाय, वह चले गए। मेरे विनोद का तीन दिन से पता नहीं — निर्मोही चला गया, मुझे छोड़कर बिना कुछ कहे-सुने चला गया — अभी तक रोयी नहीं। जो लोग पूछने आते हैं, उनसे बहाना कर देती हूँ कि — दो-चार दिन में आयेंगे, एक काम से काशी गये हैं। मगर जब रोऊँगी तो यह शरीर उन आँसुओं में डूब जायेगा। प्राण उसी मे विसर्जित हो जायँगे। छलिये ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा, रोज की तरह उठा, भोजन किया, विद्यालय गया;नियत समय पर लौटा, रोज की तरह मुसकराकर मेरे पास आया। हम दोनों ने जलपान

किया, फिर वह दैनिक पत्र पढ़ने लगा, मैं टेनिस खेलने चली गयी। इधर कुछ दिनो से उन्हें टेनिस से कुछ प्रेम न रहा था, मैं अकेली ही जाती। लौटी, तो रोज ही की तरह उन्हें बरामदे में टहलते और सिगार पीते देखा। मुझे देखते ही वह रोज की तरह मेरा ओवरकोट लाये और मेरे ऊपर डाल दिया। बरामदे से नीचे उतरकर खुले मैदान मे हम टहलने लगे। मगर वह ज्यादा बोले नहीं, किसी विचार में डूबे रहें। जब ओस अधिक पड़ने लगी, तो हम दोनों फिर अन्दर चले आयें। उसी वक्त वह बंगाली महिला आ गयी, जिनसे मैंने वीणा सीखना शुरू किया है। विनोद भी मेरे साथ ही बैठे रहे। संगीत उन्हें कितना प्रिय है, यह तुम्हें लिख चुकी हूँ। कोई नयी बात नहीं हुई। महिला के चले जाने के बाद हमने साथ-ही-साथ भोजन किया फिर मै अपने कमरे में लेटने आयी। वह रोज की तरह अपने कमरे मे लिखने-पढ़ने चले गये! मैं जल्द ही सो गयी, लेकिन बेखबर पड़ी रहूँ, उनकी आहट पाते ही आप-ही-आप आँखें खुल गयीं। मैंने देखा, वह अपना हरा शाल ओढ़े खड़े थे। मैंने उनकी ओर हाथ बढ़ाकर कहा — आओ, खड़े क्यों हो, और फिर सो गयी। बस, प्यारी बहन! वही विनोद के अंतिम दर्शन थे। कह नहीं सकती, वह पलंग पर लेटे या नहीं। इन आँखों में न-जाने कौन-सी महानिद्रा समायी हुई थी। प्रातः उठी तो विनोद को न पाया। मैं उनसे पहले उठती

हूँ, वह पड़े सोते रहते हैं। पर आज वह पलंग पर न थे। शाल भी न था। मैने समझा, शायद अपने कमरे में चले गये हों। स्नान-गृह में चली गयी। आध घंटे मे बाहर आयी, फिर भी वह न दिखायी दिये। उनके कमरे में गयी, वहाँ भी न थे। आश्चर्य हुआ कि इतने सबेरे कहाँ चले गये। सहसा खूँटी पर पड़ी — कपड़े ने थे। किसी से मिलने चले गये? या स्नान के पहले सैर करने की ठानी। कम-से-कम मुझसे कह तो देते, संशय मे तो जी न पड़ता। क्रोध आया — मुझे लौंडी समझते हैं –

हाजिरी का समय आया। बैरा मेज पर चाय रख गया। विनोद के इंतजार में चाय ठंडी हो गयी। मै बार-बार झुँझलाती थी, कभी भीतर जाती, कभी बाहर आती, ठान ली थी कि आज ज्योंही महाशय आयेंगे, ऐसा लताड़ूँगी कि वह भी याद करेंगे। कह दूँगी, आप अपना घर लीजिए, आपको अपना घर मुबारक रहें, मै अपने घर चली जाऊँगी। इस तरह तो रोटियाँ वहाँ भी मिल जायेंगी। जाड़े के नौ बजने में देर ही क्या लगती है। विनोद का अभी पता नहीं। झल्लायी हुई कमरे मे गयी कि एक पत्र लिखकर मेज पर रख दूँ — साफ-साफ लिख दूँ कि इस तरह अगर रहना है, तो आप रहिए मे नहीं रह सकती। मै जितना ही तरह देती जाती हूँ, उतना ही तुम मुझे चिढ़ाते हों। बहन, उस क्रोध मे सन्तप्त भावों की नदी-सी मन में उमड़ रही थी। अगर लिखने

बैठती, तो पन्नों-के-पन्ने लिख डालती। लेकिन आह! मै तो भाग जान की धमकी ही दे रही थी, वह पहले ही भाग चुके थे। ज्योंही मेज पर बैठी, मुझे पैड मे उनका एक पत्र मिला। मैंने तुरन्त उस पत्र को निकाल लिया और सरसरी निगाह से पढ़ा — मेरे हाथ काँपने लगे, पाँव थरथराने लगे, जान पड़ा कमरा हिल रहा है। एक ठण्डी, लम्बी, हृदय को चीरने वाली आह खींचकर मैं कोच पर गिर पड़ी। पत्र यह था —

'प्रिये! नौ महीने हुए, जब मुझे पहली बार तुम्हारे दर्शनों का सौभाग्य हुआ था। उस वक्त मैंने अपने को धन्य माना था। आज तुमसे वियोग का दुर्भाग्य हो रहा है फिर भी मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मुझे जाने का लेशमात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मै जानता हूँ तुम खुश होगी। जब तुम मेरे साथ सुखी नही रह सकती; तो मैं जबरदस्ती क्यों पड़ा रहूँ। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हम और तुम अलग हो जायँ। मै जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा। तुम भी जैसी हो, वैसी ही रहोगी। फिर सुखी जीवन की सम्भावना कहाँ? मै विवाह को आत्म-विकास का पूरी का साधन समझता हूँ। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वर्ना मै विवाह की कोई जरुरत नहीं समझता। मानव सन्तान बिना विवाह के भी जीवित रहेगी और शायद इससे अच्छे रूप में। वासना भी बिना विवाह के पूरी हो सकती है, घर के

प्रबन्ध के लिए विवाह करने की काई जरुरत नहीं। जीविका एक बहुत ही गौण प्रश्न है। जिसे ईश्वर ने दो हाथ दिये है वह कभी भूखा नहीं रह सकता। विवाह का उद्देश्य यही और केवल यही हैं कि स्त्री और पुरूष एक-दूसरे की आत्मोन्नति में सहायक हों। जहाँ अनुराग हों, वहा विवाह है और अनुराग ही आत्मोन्नति का मुख्य साधन है। जब अनुराग न हो, तो विवाह भी न रहा। अनुराग के बिना विवाह का अर्थ नहीं।

'जिस वक्त मैंने तुम्हें पहली बार देखा था, तुम मुझे अनुराग की सजीव मूर्ति-सी नजर आयी थीं। तुममें सौंदर्य था, शिक्षा थी, प्रेम था, स्फूर्ति थी, उमंग थी। मैं मुग्ध हो गया। उस वक्त मेरी अन्धी आँखों को यह न सूझा कि जहाँ तुममें इतने गुण थे, वहाँ चंचलता भी थी, जो इन सब गुणों पर पर्दा डाल देती। तुम चंचल हो, गजब की चंचल, जो उस वक्त मुझे न सूझा था। तुम ठीक वैसी ही हो, जैसी तुम्हारी दूसरी बहनें होती है, न कम, न ज्यादा। मैंने तुमको स्वाधीन बनाना चाहा था, क्योंकि मेरी समझ मे अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए इसी की सबसे अधिक जरूरत है। संसार भर में पुरूषों के विरुद्ध क्यों इतना शोर मचा हुआ है? इसीलिए कि हमने औरतों की आजादी छीन ली है और उन्हें अपनी इच्छाओं की लौंडी बना रखा है। मैंने तुम्हें स्वाधीन कर दिया। मै तुम्हारे ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता। तुम

अपनी स्वामिनी हो, मुझे कोई चिन्ता न थी। अब मुझे मालूम हो रहा है, तुम स्वेच्छा से नहीं, संकोच या भय या बन्धन के कारण रहती हो। दो ही चार दिन पहले मुझ पर यह बात खुली है। इसीलिए अब मै तुम्हारे सुख के मार्ग में बाधा नहीं डालना चाहता। मै कहीं भागकर नहीं जा रहा हूँ। केवल तुम्हारे रास्ते से हटा जा रहा हूँ, और इतनी दूर हटा जा रहा हूँ, कि तुम्हें मेरी ओर से पूरी निश्चिन्तता हो जाय। अगर मेरे बगैर तुम्हारा जीवन अधिक सुन्दर हो सकता है, तो तुम्हें जबरन नहीं रखना चाहता। अगर मै समझता कि तुम मेरे सुख के मार्ग बाधक हो रही हों, तो मैंने तुमसे साफ-साफ कह दिया होता। मै धैर्य और नीति का ढोंग नहीं मानता, केवल आत्मा का संतोष चाहता हूँ — अपने लिए भी, तुम्हारे लिए भी। जीवन का तत्व यही है; मूल्य यही है। मैंने डेस्क में अपने विभाग के अध्यक्ष के नाम एक पत्र लिखकर रख दिया हैं। वह उनके पास भेज देना। रुपये की कोई चिन्ता मत करना। मेरे एकाउंट मे अभी इतने रुपये हैं, जो तुम्हारे लिए कई महीने को काफी हैं, और उस वक्त तक मिलते रहेगें, जब तक तुम लेना चाहोगी। मै समझता हूँ, मैंने अपना भाव स्पष्ट कर दिया है। इससे अधिक स्पष्ट मै नहीं करना चाहता। जिस वक्त तुम्हारी इच्छा मुझसे मिलने की हो, बैंक से मेरा पता पूछ लेना। मगर दो-चार दिन के बाद। घबराने की कोई बात नहीं। मै स्त्री

को अबला या अपंग नहीं समझता। वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हैं — अगर करना चाहें। अगर अब या अब से दो-चार महीना, दो-चार साल पीछे तुम्हें मेरी याद आए और तुम समझों कि मेरे साथ सुखी रह सकती हो, तो मुझे केवल दो शब्द लिखकर डाल देना, मै तुरन्त आ जाऊँगा, क्योंकि मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं हैं। तुम्हारे साथ मेरे जीवन के जितने के जितने दिन कटे हैं, वह मेरे लिए स्वर्ग-स्वप्न के दिन हैं। जब तक जिऊँगा, इस जीवन की आनन्द-स्मृतियों कों हृदय में संचित रखूँगा। आह! इतनी देर तक मन को रोके रहने के बाद आँखों से एक बूँद आँसू गिर ही पड़ा। क्षमा करना, मैनें तुम्हें 'चंचल' कहा हैं। अचंचल कौन है? जानता हूँ कि तुमने मुझे अपने हृदय से निकालकर फेंक दिया हैं, फिर भी इस एक घंटे में कितनी बार तुमको देख-देखकर लौट आया हूँ! मगर इन बातों को लिखकर मैं तुम्हारी दया को उकसाना नहीं चाहता। तुमने वही किया, जिसका मेरी नीति में तुमको अधिकार था, है और रहेगा। मैं विवाह में आत्मा को सर्वोपरि रखना चाहता हूँ। स्त्री और पुरुष में मै वही प्रेम चाहता हूँ, जो दो स्वाधीन व्यक्तियों में होता हैं। वह प्रेम नहीं जिसका आधार पराधीनता हैं।

'बस, अब और कुछ न लिखूँगा। तुमको एक चेतावनी देने की इच्छा हो रही है पर दूँगा नहीं; क्योंकि तुम अपना भला और बुरा

खुद समझ सकती हो। तुमने सलाह देने का हक मुझसे छीन लिया है। फिर भी इतना कहे बगैर नहीं रहा जाता कि संसार में प्रेम का स्वाँग भरने वाले शोहदों की कमी नहीं है, उनसे बचकर रहना। ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम जहाँ रहो, आनन्द से रहो। अगर कभी तुम्हें मेरी जरूरत पड़े, तो याद करना। तुम्हारी एक तस्वीर का अपहरण किये जाता हूँ। क्षमा करना, क्या मेरा इतना अधिकार भी नहीं? हाय! जी चाहता है, एक बार फिर देख आऊँ, मगर नहीं आऊँगा।'

–तुम्हारा ठुकराया हुआ,

विनोद।

बहन, यह पत्र पढ़कर मेरे चित्त की जो दशा हुई, उसका तुम अनुमान कर सकती हो। रोयी तो नहीं; पर दिल बैठा जाता था। बार-बार जी चाहता था कि विष खाकर सो रहूँ। दस बजने में अब थोड़ी ही देर थी। मैं तुरन्त विद्यालय गयी और दर्शन-विभाग के अध्यक्ष को विनोद का पत्र दिया। वह एक मदरासी सज्जन हैं। मुझे बड़े आदर से बिठाया और पत्र पढ़कर बोले — आपको मालूम है, वह कहाँ गये और कब तक आयेंगे? इसमें तो केवल एक मास की छुट्टी माँगी गयी है। मैंने बहाना किया — वह एक आवश्यक कार्य से काशी गये है। और निराश होकर लौट

आयी। मेरी अन्तरात्मा सहस्रों जिह्वा बनकर मुझे धिक्कार रही थी। कमरे में उनकी तस्वीर के सामने घुटने टेककर मैंने जितने पश्चाताप-पूर्ण शब्दों में क्षमा माँगी है, वह अगर किसी तरह उनके कानों तक पहुँच सकती, तो उन्हें मालूम होता कि उन्हें मेरी ओर से कितना भ्रम हुआ! तब से अब तक मैंने कुछ भोजन नहीं किया और न एक मिनट सोयी। विनोद मेरी क्षुधा और निद्रा भी अपने साथ लेते गये और शायद इसी तरह दस-पाँच दिन उनकी खबर न मिली, तो प्राण भी चले जायेंगे। आज मैं बैंक तक गयी थी, यह पूछने कि हिम्मत न पड़ी कि विनोद का कोई पत्र आया। वह सब क्या सोचते कि यह उनकी पत्नी होकर हमसे पूछने आयी हैं!

बहन, अगर विनोद न आये, तो क्या होगा? मैं समझती थी, वह मेरी तरफ से उदासीन हैं, मेरी परवा नहीं करते, मुझसे अपने दिल की बातें छिपाते हैं, उन्हें शायद मैं भारी हो गयी हूँ। अब मालूम हुआ, मै कैसे भयंकर-भ्रम में पड़ी हुई थी। उनका मन इतना कोमल है, यह मैं जानती, तो उस दिन क्यों भुवन को मुँह लगाती? मैं उस अभागे का मुँह तक न देखती। इस वक्त जो उसे देख पाऊँ, तो शायद गोली मार दूँ। जरा तुम विनोद के पत्र को फिर पढ़ो, बहन — आप मुझे स्वाधीन बनाने चले थे। अगर स्वाधीन बनाते थे, तो भुवन से जरा देर मेरा बातचीत कर लेना क्यों इतना अखरा? मुझे उनकी अविचलित शांति से चिढ़ होती थी। वास्तव

में उनके हृदय में इस रात-सी बात ने जितनी अशांति पैदा कर दी, शायद मुझमें न कर सकती। मैं किसी रमणी से उनकी रूचि देखकर शायद मुँह फुला लेती, ताने देती, खुद रोती, उन्हें रुलाती; पर इतनी जल्द भाग न जाती। मर्दों का घर छोड़कर भागना तो आज तक नहीं सुना, औरतें ही घर छोड़कर मैके भागती है, या कहीं डूबने जाती हैं, या आत्महत्या करती हैं। पुरूष निर्द्वन्द्व बैठे मूँछों पर ताव देते हैं। मगर यहाँ उल्टी गंगा बह रही हैं — पुरूष ही भाग खड़ा हुआ! इस अशांति की थाह कौन लगा सकता हैं? इस प्रेम की गहराई को कौन समझ सकता हैं? मै तो अगर इस वक्त विनोद के चरणों पर पड़े-पड़े मर जाऊँ तो समझूँ, मुझे स्वर्ग मिल गया। बस, इसके सिवा मुझे अब और कोई इच्छा नहीं हैं। इस अगाध-प्रेम ने मुझे तृप्त कर दिया। विनोद मुझसे भागे तो, लेकिन भाग न सके। वह मेरे हृदय से, मेरी धारणा से, इतने निकट कभी न थे। मैं तो अब भी उन्हें अपने सामने बैठा देख रही हूँ। क्या मेरे सामने फिलासफर बनने चले थे? कहाँ गयी आपकी वह दार्शनिक गंभीरता? यों अपने को धोखा देते हो? यों अपनी आत्मा को कुचलते हों? अबकी तो तुम भागे, लेकिन फिर भागना तो देखूँगी। मै न जानती थी कि तुम ऐसे चतुर बहुरूपिये हो। अब मैंने समझा, और शायद तुम्हारी दार्शनिक गंभीरता को भी समझ मे आया होगा कि प्रेम जितना ही सच्चा

जितना ही हार्दिक होता है, उतना ही कोमल होता हैं, वह विपत्ति के उन्मत्त सागर में थपेड़े खा सकता है, पर अवहेलना की एक चोट भी नहीं सह सकता। बहिन, बात विचित्र है, पर है सच्ची, मै इस समय अपने अन्तस्तल में जितनी उमंग, जितने आनन्द का अनुभव कर रही हूँ, याद नहीं आता कि विनोद के हृदय से लिपटकर भी कभी पाया हो। तब पर्दा बीच में था, अब कोई पर्दा बीच में नहीं रहा। मै उनको प्रचलित प्रेम व्यापार की कसौटी पर कसना चाहती थी। यह फैशन हो गया कि पुरुष घर मे आयें, तो स्त्री के वास्ते कोई तोहफा लाये, पुरुष रात-दिन स्त्री के लिए गहने बनवाने, कपड़े सिलवाने, बेल, फीते, लेस खरीदने में मस्त रहे, फिर स्त्री को उससे कोई शिकायत नहीं। वह आदर्श-पति है, उसके प्रेम में किसे संदेह हो सकता है? लेकिन उसकी प्रेयसी की मृत्यु के तीसरे महीने वह फिर नया विवाह रचाता है। स्त्री के साथ अपने प्रेम को भी चिता मे जला आता है। फिर वही स्वाँग इस नयी प्रेयसी से होने लगते हैं, फिर वही लीला शुरू हो जाती है। मैंने यही प्रेम देखा था और इसी कसौटी पर विनोद कस रही थी। कितनी मन्दबुद्धि हूँ! छिछोरेपन को प्रेम समझे बैठी थी। कितनी स्त्रियाँ जानती हैं कि अधिकांश ऐसे ही गहने, कपड़े और हँसने-बोलने में मस्त रहने वाले जीव लम्पट होते हैं। अपनी लम्पटता को छिपाने के लिए वे यह स्वाँग भरते रहते हैं। कुत्ते

को चुप रखने के लिए उसके सामने हड्डी के टुकड़े फेंक देते हैं। बेचारी भोली-भाली उसे अपना सर्वस्व देकर खिलौने पाती है और उन्हीं में मग्न रहती है। मैं विनोद को उसी काँटे पर तौल रही थी — हीरे को साग के तराजू पर रख देती थी। मैं जानती हूँ, मेरा दृढ़ विश्वास और वह अटल है कि विनोद की दृष्टि कभी किसी पर स्त्री पर नहीं पड़ सकती। उनके लिए मै हूँ, अकेली मै हूँ, अच्छी हूँ या बुरी हूँ, जो कुछ हूँ, मै हूँ। बहन, मेरी तो मारे गर्व और आनन्द से छाती फूल उठी है। इतना बड़ा साम्राज्य — इतना अचल, इतना स्वरक्षित, किसी हृदयेश्वरी को नसीब हुआ है! मुझे तो सन्देह है। और मैं इस पर भी असन्तुष्ट थी, यह न जानती थी कि ऊपर बबूले तैरते हैं, मोती समुद्र की तह मे मिलते हैं। हाय! मेरी इस मूर्खता के कारण, मेरे प्यारे विनोद को कितनी मानसिक वेदना हो रही है। मेरे जीवन-धन, मेरे जीवन-सर्वस्व न जाने कहाँ मारे-मारे फिरते होंगें, न जाने किस दशा में होगें, न-जाने मेरे प्रति उनके मन में कैसी-कैसी शंकाएँ उठ रही होंगी — प्यारे! तुमने मेरे साथ कुछ कम अन्याय नहीं किया। अगर मैने तुम्हें निष्ठुर समझा, तो तुमने तो मुझे उससे कहीं बदतर समझा — क्या अब भी पेट नहीं भरा? तुमने मुझे इतनी गयी-गुजरी समझ लिया कि इस अभागे भुवन— मै ऐसे-ऐसे एक लाख भुवनों को तुम्हारे चरणों पर भेंट कर सकती हूँ। मुझे तो संसार में ऐसा

कोई प्राणी ही नहीं नजर आता, जिस पर मेरी निगाह उठ सके। नहीं, तुम मुझे इतनी नीच, इतनी कलंकिनी नहीं समझ सकते — शायद वह नौबत आती, तो तुम और मैं दो में से एक भी इस संसार में न होता।

बहन, मैंने विनोद को बुलाने की, खींच लाने की, पकड़ मँगवाने की एक तरकीब सोची है। क्या कहूँ, पहले ही दिन यह तरकीब क्यों न सूझी? विनोद को दैनिक पत्र पढ़े बिना चैन नहीं आता और वह कौन-सा पत्र पढ़ते हैं, मैं यह भी जानती हूँ। कल के पत्र में यह खबर छपेगी — 'पद्मा मर रही है', और परसों विनोद यहाँ होंगे — रुक ही नहीं सकते। फिर खूब झगड़े होंगे, खूब लड़ाइयाँ होंगी।

अब कुछ तुम्हारे विषय में। क्या तुम्हारी बुढ़िया सचमुच तुमसे इसलिए जलती है कि तुम सुन्दर हो, शिक्षित हो? खूब! और तुम्हारे आनन्द भी विचित्र जीव मालूम होते हैं। मैने सुना है कि पुरुष कितना ही कुरूप हो, उसकी निगाह अप्सराओं ही पर जाकर पड़ती है। फिर आनन्द बाबू तुमसे क्यों बिचकते है? जरा गौर से देखना, कहीं राधा और कृष्ण के बीच में कोई कुब्जा तो नहीं? अगर सासजी यों ही नाक में दम करती रहें, तो मैं तो यही सलाह दूँगी कि अपनी झोंपड़ी अलग बना लो। मगर जानती हूँ, तुम मेरी यह सलाह न मानोगी, किसी तरह न मानेगी। इस सहिष्णुता के

लिए मैं तुम्हें बधाई देती हूँ। पत्र जल्द लिखना। मगर शायद तुम्हारा पत्र आने के पहले ही मेरा दूसरा पत्र पहुँचे।

तुम्हारी,

पद्मा।

12

काशी

10-2-26

प्रिय पद्मा,

कई दिन तक तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करने के बाद आज यह खत लिख रही हूँ। मैं अब भी आशा कर रही हूँ कि विनोद बाबू घर आ गये होगें, मगर अभी वह न आये हों और तुम रो-रोकर अपनी आँखें फोड़ डालती हो, तो मुझे जरा भी दुःख न होगा! तुमने उनके साथ जो अन्याय किया है, उसका यही दण्ड है। मुझे तुमसे जरा भी सहानुभूति नहीं है। तुम गृहिणी होकर वह कुटिल क्रीड़ा करने चली थीं, जो प्रेम का सौदा करने वाली स्त्रियों को ही शोभा देती है। मैं तो जब खुश होती कि विनोद ने तुम्हारा गला घोंट

दिया होता और भुवन के कुसंस्कारों को सदा के लिए शांत कर देते। तुम चाहे मुझसे रूठ ही क्यों न जाओ पर मैं इतना जरूर कहूँगी कि तुम विनोद के योग्य नहीं हो। शायद तुमने अंग्रेजी किताबों मे पढ़ा होगा कि स्त्रियाँ छैले रसिकों पर ही जान देती हैं और यह पढ़कर तुम्हारा सिर फिर गया है। तुम्हें नित्य कोई सनसनी चाहिए, अन्यथा तुम्हारा जीवन शुष्क हो जायेगा। तुम भारत की पतिपरायणा रमणी नहीं, यूरोप की आमोदप्रिय युवती हो। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है। तुमने अब तक रूप को ही आकर्षण का मूल समझ रखा है। रूप में आकर्षण है, मानती हूँ। लेकिन उस आकर्षण का नाम मोह है, वह स्थायी नहीं, केवल धोखे की टट्टी है। प्रेम का एक ही मूल मंत्र है, और वह है सेवा। यह मत समझो कि जो पुरूष तुम्हारे ऊपर भ्रमर की भाँति मँडराया करता है, वह तुमसे प्रेम करता है। उसकी यह रूपासक्ति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। प्रेम का अंकुर रूप में है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है। मुझे विश्वास नहीं आता कि विनोद को बाहर से थके-माँदे, पसीने मे तर देखकर तुमने कभी पंखा झला होगा। शायद टेबुल-फैन लगाने की बात भी न सूझी होगी। सच कहना, मेरा अनुमान ठीक या नहीं? बतलाओ, तुमने की उनके पैरों में चंपी की है? कभी उनके सिर में तेज डाला है? तुम कहोगी, यह खिदमतगारों का काम है,

लेडियाँ यह मरज नहीं पालती। तुमने उस आनन्द का अनुभव ही नहीं किया। तुम विनोद को अपने अधिकार में रखना चाहती हो, मगर उसका साधन नहीं करतीं। विलासिनी मनोरंजन कर सकती है, चिरसंगिनी नहीं बन सकती। पुरूष के गले से लिपटी हुई भी वह उससे कोसों दूर रहती है। मानती हूँ, रूपमोह मनुष्य का स्वभाव है, लेकिन रूप से हृदय की प्यास नहीं बुझती, आत्मा की तृप्ति नहीं होती। सेवाभाव रखने वाली रूप-विहीन स्त्री का पति किसी स्त्री के रूप-जाल मे फँस जाय, तो बहुत जल्द निकल भागता है, सेवा का चस्का पाया हुआ मन केवल नखरों और चोंचलों पर लट्टू नहीं होता। मगर मैं तो तुम्हें उपदेश करने बैठ गयी, हालाँकि तुम मुझसे दो-चार महीने बड़ी होगी। क्षमा करो बहन, यह उपदेश नहीं है। ये बातें हम-तुम सभी जानते हैं, केवल कभी-कभी भूल जाते हैं। मैंने केवल तुम्हें याद दिला दिया हैं। उपदेश मे हृदय नहीं होता, लेकिन मेरा उपदेश मेरे मन की वह व्यथा है, जो तुम्हारी इस नयी विपत्ति से जागरित हुई है।

अच्छा, अब मेरी रामकहानी सुनो। इस एक महीने में यहाँ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गयीं। यह तो मैं पहले ही लिख चुकी हूँ कि आनन्द बाबू और अम्माजी में कुछ मनमुटाव रहने लगा। वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती थी। दिन में दो-एक बार माँ बेटे में चोंचें हो जाती थी। एक दिन मेरी छोटी ननदजी मेरे

कमरे से एक पुस्तक उठा ले गयीं। उन्हें पढ़ने का रोग है। मैंने कमरे में किताब न देखी, तो उनसे पूछा। इस जरा-सी बात पर वह भले-मानस बिगड़ गयी और कहने लगी — तुम तो मुझे चोरी लगाती हो। अम्मा ने उन्हीं का पक्ष लिया और मुझे खूब सुनायी। संयोग की बात, अम्माजी मुझे कोसने ही दे रही थीं कि आनन्द बाबू घर में आ गये। अम्माजी उन्हें देखते ही और जोर से बकने लगीं, बहू की इतनी मजाल! वह तूने सिर पर चढ़ा रखा है और कोई बात नहीं। पुस्तक क्या उसके बाप की थी? लड़की लायी, तो उसने कौन गुनाह किया? जरा भी सब्र न हुआ, दौड़ी हुई उसके सिर पर जा पहुँची और उसके हाथों से किताब छीनने लगी।

बहन, मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मुझे पुस्तक के लिए इतनी उतावली न करनी चाहिए थी। ननदजी पढ़ चुकने पर आप ही दे जातीं। न भी देतीं तो उस एक पुस्तक के न पढ़ने से मेरा क्या बिगड़ा जाता था। मगर मेरी शामत कि उनके हाथों से किताब छीनने लगी थी। अगर इस बात पर आनन्द बाबू मुझे डाँट बताते, तो मुझे जरा भी दुःख न होता मगर उन्होंने उल्टे मेरा पक्ष लिया और त्योरियाँ चढ़ाकर बोले — किसी की चीज कोई बिना पूछे लाये ही क्यों? यह तो मामूली शिष्टाचार है।

इतना सुनना था कि अम्मा के सिर पर भूत-सा सवार हो गया। आनन्द बाबू भी बीच-बीच मे फुलझड़ियाँ छोड़ते रहे और मैं अपने कमरे में बैठी रोती रही कि कहाँ-से-कहाँ मैंने किताब माँगी। न अम्माजी ही ने भोजन किया, न आनन्द बाबू ने ही। और मेरा तो बार-बार यही जी चाहता था कि जहर खा लूँ। रात को जब अम्माजी लेटी तो मैं अपने नियम के अनुसार उनके पाँव दबाने गई। मुझे देखते ही उन्होंने मुझे दुतकार दिया, लेकिन मैंने उसने पाँव पकड़ लिये। मैं पैंताने की ओर तो थी ही। अम्माजी ने जो पैर से मुझे ढकेला तो मैं चारपाई के नीचे गिर पड़ी। जमीन पर कई कटोरियाँ पड़ी हुई थीं। मैं उन कटोरियों पर गिरी, तो पीठ और कमर में बड़ी चोट आयी। मैं चिल्लाना न चाहती थी, मगर न जाने कैसे मेरे मुँह से चीख निकल गयी। आनन्द बाबू अपने कमरे में आ गये थे, मेरी चीख सुनकर दौड़े पड़े और अम्माजी के द्वार पर आकर बोले — क्या उसे मारे डालती हो, अम्मा? अपराधी तो मैं हूँ; उसकी जान क्यों ले रही हो? यह कहते हुए वह कमरे में घुस गये और मेरा हाथ पकड़ कर जबरदस्ती खींच ले गये। मैंने बहुत चाहा कि अपना हाथ छुड़ा लूँ, पर आनन्द ने न छोड़ा! वास्तव में इस समय उनका हम लोगों के बीच में कूद पड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता था। वह न आ जाते, तो मैंने रो-धोकर अम्माजी को मना लिया होता। मेरे गिर पड़ने से उनका क्रोध

कुछ शान्त हो चला था। आनन्द का आ जाना गजब हो गया। अम्माजी कमरे के बाहर निकल आयीं और मुँह चिढ़ाकर बोली — हाँ, देखो, मरहम-पट्टी कर दो, कहीं कुछ टूट-फूट न गया हो!

आनन्द ने आँगन में रुककर कहा — क्या तुम चाहती हो कि तुम किसी को मार डालो और मैं न बोलूँ?

'हाँ, मैं तो डायन हूँ, आदमियों को मार डालना ही तो मेरा काम है। ताज्जुब है कि मैंने तुम्हें क्यों न मार डाला।'

'तो पछतावा क्यों हो रहा है, धेले की संखिया में तो काम चलता है।'

'अगर तुम्हें इस तरह औरत को सिर चढ़ाकर रखना है, तो कहीं और ले जाकर रखो। इस घर में उसका निर्वाह अब न होगा।'

'मैं खुद इसी फ्रिक में हूँ, तुम्हारे कहने की जरूरत नहीं।'

'मैं भी समझ लूँगी कि मैंने लड़का ही नहीं जना।'

'मैं भी समझ लूँगा कि मेरी माता मर गयी।'

मैं आनन्द का हाथ पकड़कर जोर से खींच रही थी कि उन्हें वहाँ से हटा ले जाऊँ, मगर वह बार-बार मेरा हाथ झटक देते थे। आखिर जब अम्माँजी अपने कमरे में चली गयीं, तो वह अपने कमरे में आये और सिर थामकर बैठ गये।

मैंने कहा — यह तुम्हें क्या सूझी?

आनन्द ने भूमि की ओर ताकते हुए कहा — अम्माँ ने आज नोटिस दे दिया।

'तुम खुद ही उलझ पड़े, वह बेचारी तो कुछ बोली नहीं।'

'मैं ही उलझ पड़ा!'

'और क्या। मैंने तो तुमसे फरियाद न की थी।'

'पकड़ न लाता, तो अम्माँ ने तुम्हें अधमरा कर दिया होता। तुम उनका क्रोध नहीं जानती।'

'यह तुम्हारा भ्रम है। उन्होंने मुझे मारा नहीं, अपना पैर छुड़ा रही थीं। मैं पट्टी पर बैठी थी, जरा-सा धक्का खाकर गिर पड़ी। अम्माँ मुझे उठाने ही जा रही थीं कि तुम पहुँच गये।'

'नानी के आगे ननिहाल का बखान न करो, मैं अम्माँ को खूब जानता हूँ। मैं कल ही दूसरा घर ले लूँगा, यह मेरा निश्चय है। कहीं-न-कहीं नौकरी मिल ही जायेगी। ये लोग समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर पड़ा हुआ हूँ। इसी से यह मिजाज है!'

मैं जितना ही उनको समझती थी, उतना वह और बफरते थे। आखिर मैंने झुंझलाकर कहा — तो तुम अकेले जाकर दूसरे घर में रहो। मैं न जाऊँगी। मुझे यहीं पड़ी रहने दो।

आनन्द ने मेरी ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा — यही लातें खाना अच्छा लगता है?

‘हाँ, मुझे यही अच्छा लगता है।’

‘तो तुम खाओ, मैं नहीं खाना चाहता। यही फायदा क्या थोड़ा है कि तुम्हारी दुर्दशा आँखों से न देखूँगा, न पीड़ा होगी।’

‘अलग रहने लगोगे, तो दुनिया क्या कहेगी।’

‘इसकी परवाह नहीं। दुनियां अन्धी है।’

‘लोग यही कहेंगे कि स्त्री ने यह माया फैलायी है।’

‘इसकी भी परवाह नहीं, इस भय से अपना जीवन संकट में नहीं डालना चाहता।’

मैंने रोकर कहा — तुम मुझे छोड़ दोगे, तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं है। बहन, और किसी समय इस प्रेम-आग्रह से भरे हुए शब्दों ने न जाने क्या कर दिया होता। ऐसे ही आग्रहों पर रियासतें मिटती हैं, नाते टूटते हैं, रमणी के पास इससे बढ़कर दूसरा अस्त्र नहीं। मैंने आनन्द के गले में बाँहें डाल दी थीं और उनके कन्धे पर सिर रखकर रो रही थी। मगर इस समय आनन्द बाबू इतने कठोर हो गये थे कि यह आग्रह भी उन पर कुछ असर न कर सका। जिस माता न जन्म दिया, उसके प्रति

इतना रोष! हम अपनी माता की एक कड़ी बात नहीं सह सकते, इस आत्माभिमान का कोई ठिकाना है। यही वे आशाएँ हैं, जिन पर माता ने अपने जीवन के सारे सुख-विलास अर्पण कर दिये थे, दिन का चैन और रात की नींद अपने ऊपर हराम कर ली थी! पुत्र पर माता का इतना भी अधिकार नहीं!

आनन्द ने उसी अविचलित कठोरता से कहा — अगर मुहब्बत का यही अर्थ है कि मैं इस घर में तुम्हारी दुर्गति कराऊँ, तो मुझे वह मुहब्बत नहीं है।

प्रातःकाल वह उठकर बाहर जाते हुए मुझसे बोले — मैं जाकर घर ठीक किये आता हूँ। ताँगा भी लेता आऊँगा, तैयार रहना।

मैंने दरवाजा रोककर कहा — क्या अभी तक क्रोध शान्त नहीं हुआ?

'क्रोध की बात नहीं, केवल दूसरों के सिर से अपना बोझ हटा लेने की बात है।'

'यह अच्छा काम नहीं कर रहे हो। सोचो, माता जी को कितना दुःख होगा। ससुरजी से भी तुमने कुछ पूछा?'

'उनसे पूछने की कोई जरूरत नहीं। कर्ता-धर्ता जो कुछ हैं, वह अम्माँ हैं। दादाजी मिट्टी के लोंदे हैं।'

‘घर के स्वामी तो हैं?‘

‘तुम्हें चलना है या नहीं, साफ कहो।’

‘मैं तो अभी न जाऊँगी।’

‘अच्छी बात है, लात खाओ।’

मैं कुछ नहीं बोली। आनन्द ने एक क्षण के बाद फिर कहा — तुम्हारे पास कुछ रूपये हो, तो मुझे दो।

मेरे पास रुपये थे, मगर मैंने इनकार कर दिया। मैंने समझा, शायद इसी असमंजस में पड़कर वह रूक जायँ। मगर उन्होंने बात मन में ठान ली थी। खिन्न होकर बोले — अच्छी बात है, तुम्हारे रुपयों के बगैर भी मेरा काम चल जायगा। तुम्हें यह विशाल भवन, यह सुख-भोग, ये नौकर-चाकर, ये ठाट-बाट मुबारक हों। मेरे साथ क्यों भूखों मरोगी। वहाँ यह सुख कहाँ! मेरे प्रेम का मूल्य ही क्या!

यह कहते हुए वह चले गये। बहन, क्या कहूँ, उस समय अपनी बेबसी पर कितना दुःख हो रहा था। बस, यही जी में आता था कि यमराज आकर मुझे उठा ले जायें। मुझे कल-कलंकिनी के कारण माता और पुत्र में यह वैमनस्य हो रहा था। जाकर अम्माजी के पैरों पर गिर पड़ी और रो-रोकर आनन्द बाबू के चले

जाने का समाचार कहा। मगर माताजी का हृदय जरा भी न पसीजा। मुझे आज मालूम हुआ कि माता भी इतनी वज्र-हृदया हो सकती है। फिर आनन्द बाबू का हृदय क्यों न कठोर हो। अपनी माता ही के पुत्र तो हैं।

माताजी ने निर्दयता से कहा — तुम उसके साथ क्यों न चली गयी? जब वह कहता था तब चला जाना चाहिए था। कौन जाने, यहाँ मैं किसी दिन तुम्हें विष दे दूँ।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा — अम्माजी, उन्हें बुला भेजिए, आपके पैरों पड़ती हूँ। नहीं तो कहीं चले जायेंगे।

अम्मा उसी निर्दयता से बोलीं — जाय चाहे रहे, वह मेरा कौन है। अब तो जो कुछ हो, तुम हो, मुझे कौन गिनता है। आज जरा-सी बात पर यह इतना झल्ला रहा है। और मेरी अम्माजी ने मुझे सैंकड़ों ही बार पीटा होगा। मैं भी छोकरी न थी, तुम्हारी ही उम्र की थी, पर मजाल न थी कि तुम्हारे दादाजी से किसी के सामने बोल सकूँ। कच्चा ही खा जातीं! मार खाकर रात-भर रोती रहती थी, पर इस तरह घर छोड़कर कोई न भागता था। आजकल के लौंडे ही प्रेम करना नहीं जानते, हम भी प्रेम करते थे, पर इस तरह नहीं कि माँ-बाप, छोटे-बड़े किसी को कुछ न समझें।

यह कहती हुई माताजी पूजा करने चली गयी। मैं अपने कमरे में आकर नसीबों को रोने लगी। यही शंका होती थी कि आनन्द किसी तरफ की राह न लें। बार-बार जी मसोसता था कि रूपये क्यों न दे दिये। बेचारे इधर-उधर मारे-मारे फिरते होंगे। अभी हाथ-मुँह भी नहीं धोया, जलपान भी नहीं किया। वक्त पर जलपान न करेंगे तो, जुकाम हो जायेगा, और उन्हें जुकाम होता है, तो हरारत भी हो जाती है। महरी से कहा — जरा जाकर देख तो बाबूजी कमरे में हैं?

उसने आकर कहा — कमरे में तो कोई नहीं, खूँटी पर कपड़े भी नहीं है।

मैंने पूछा — क्या और भी कभी इस तरह अम्माँजी से रूठे हैं?

महरी बोली — कभी नहीं बहू ऐसा सीधा तो मैंने लड़का ही नहीं देखा। मालकिन के सामने कभी सिर नहीं उठाते थे। आज न-जाने क्यों चले गए।

मुझे आशा थी कि दोपहर को भोजन के समय वह आ जायँगे। लेकिन दोपहर कौन कहे; शाम भी हो गयी और उनका पति नहीं। सारी रात जागती रही। द्वार की ओर कान लगे हुए थे। मगर रात भी उसी तरह गुजर गयी। बहन, इस प्रकार पूरे तीन बीत गये। उस वक्त तुम मुझे देखतीं, तो पहचान न सकतीं।

रोते-रोते आँखें लाल हो गयी थीं। इन तीन दिनों में एक पल भी नहीं सोयी और भूख का तो जिक्र ही क्या, पानी तक न पिया। प्यास ही न लगती थी। मालूम होता था, देह में प्राण ही नहीं हैं। सारे घर में मातम-सा छाया हुआ था। अम्माजी भोजन करने दोनों वक्त जाती थीं, पर मुँह जूठा करके चली आती थी। दोनों ननदों की हँसी और चुहर भी गायब हो गयी थी। छोटी ननदजी तो मुझसे अपना अपराध क्षमा कराने आयी।

चौथे दिन सबेरे रसोइये ने आकर मुझसे कहा — बाबूजी तो अभी मुझे दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैं उन्हें देखते ही लपककर उनके पास आ पहुँचा और बोला — भैया, घर क्यों नहीं चलते? सब लोग घबड़ाये हुए हैं। बहूजी ने तीन दिन से पानी तक पिया। उनका हाल बहुत बुरा है। यह सुनकर वह कुछ सोच में पड़ गये, फिर बोले — बहूजी ने क्यों दाना-पानी छोड़ रखा है? जाकर कह देना, जिस आराम के लिए उस घर को न छोड़ सकी, उससे क्या इतनी जल्द जी-भर गया!

अम्माजी उसी समय आँगन में आ गयी। महाराज की बातों की भनक कानों में पड़ गयी, बोली — क्या है अलगू, क्या आनन्द मिला था?

महाराज — हाँ, बड़ी बहू, अभी दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैंने कहा — घर क्यों नहीं चलते, तो बोले — उस घर में मेरा कौन बैठा हुआ है?

अम्मा — कहा नहीं और कोई अपना नहीं है, तो स्त्री तो अपनी है, उसकी जान क्यों लेते हो?

महाराज — मैंने बहुत समझाया बड़ी बहू, पर वह टस-से-मस न हुए।

अम्मा — करता क्या है?

महाराज — यह तो मैंने नहीं पूछा, पर चेहरा बहुत उतरा हुआ था।

अम्मा — ज्यों-ज्यों तुम बूढ़े होते हो, शायद सठियाते जाते हो। इतना तो पूछा होता, कहाँ रहते हो, कहाँ खाते-पीते हो। तुम्हें चाहिए था, उसका हाथ पकड़ लेते और खींचकर ले आते। मगर तुम नमकहरामों को अपने हलवे-मांडे से मतलब, चाहे कोई मरे या जिये। दोनों वक्त बढ़-बढ़कर हाथ मारते हो और मूँछों पर ताव देते हो। तुम्हें इसकी क्या परवाह है कि घर में दूसरा कोई खाता है या नहीं। मैं तो परवाह न करती, वह आये या न आये। मेरा धर्म पालना-पोसना था, पाल पोस दिया। अब जहाँ चाहे रहे। पर इस बहू का क्या करूँ, जो रो-रोकर प्राण दिये डालती है।

तुम्हें ईश्वर ने आँखें दी हैं, उसकी हालत देख रहे हो। क्या मुँह से इतना भी न फूटा कि बहू अन्न जल त्याग किये पड़ी हुई।

महाराज — बहूजी, नारायण जानते हैं, मैंने बहुत तरह समझाया, मगर वह तो जैसे भागे जाते थे। फिर मैं क्या करता।

अम्मा — समझाया नहीं, अपना सिर। तुम समझाते और वह यों ही चला जाता। क्या सारी लच्छेदार बातें मुझी से करने को है? इस बहू को मैं क्या कहूँ। मेरे पति ने मुझसे इतनी बेरुखी की होती, तो मैं उसकी सूरत न देखती। पर, इस पर उसने न-जाने कौन-सा जादू कर दिया है। ऐसे उदासियों को तो कुलटा चाहिए, जो उन्हें तिगनी का नाच नचाये।

कोई आध घंटे बाद कहार ने आकर कहा — बाबूजी आकर कमरे में बैठे हुए हैं।

मेरा कलेजा धक-धक करने लगा। जी चाहता था कि जाकर पकड़ लाऊँ, पर अम्माँजी का हृदय सचमुच वज्र है। बोली — जाकर कह दे, यहाँ उनका कौन बैठा हुआ है, जो आकर बैठे हैं!

मैंने हाथ जोड़कर कहा — अम्माँजी, उन्हें अन्दर बुला लीजिए, कहीं फिर न चले जाएँ।

अम्मा — यहाँ उनका कौन बैठा हुआ है, जो आयेगा। मैं तो अन्दर कदम न रखने दूँगी।

अम्माजी तो बिगड़ रही थी, उधर छोटी ननदजी जाकर आनन्द बाबू को लायी। सचमुच उनका चेहरा उतरा हुआ था, जैसे महीनों का मरीज हो। ननदजी उन्हें इस तरह खीचें लाती थी, जैसे कोई लड़की ससुराल जा रही हो। अम्माजी ने मुस्कराकर कहा — इसे यहाँ क्यों लायीं? यहाँ इसका कौन बैठा हुआ है?

आनन्द सिर झुकाये अपराधियों की भाँति खड़े थे। जबान न खुलती थी। अम्माँजी ने फिर पूछा — चार दिन से कहाँ थे?

'कहीं नही, यहीं तो था।'

'खूब चैन से रहे होगे।'

'जी हाँ, कोई तकलीफ न थी।'

'वह तो सूरत ही से मालूम हो रहा है।'

ननदजी जलपान के लिए मिठाई लायीं। आनन्द मिठाई खाते इस तरह झेंप रहे थे मानों ससुराल आये हों, फिर माताजी उन्हें लिए अपने कमरे में चली गयीं। वहाँ आध घंटे तक माता और पुत्र में बातें होती रही। मैं कान लगाये हुए थी, पर साफ कुछ न सुनायी देता था। हाँ, ऐसा मालूम होता था कि कभी माताजी रोती हैं और

कभी आन्नद। माताजी जब पूजा करने निकलीं, तो उनकी आँखें लाल थीं। आनन्द वहाँ से निकले, तो सीधे मेरे कमरे में आये। मैं उन्हें आते देख चटपट मुँह ढाँपकर चारपाई पर रही, मानो बेखबर सो रही हूँ। वह कमरे में आये, मुझे चारपाई पर पड़े देखा, मेरे समीप आकर एक बार धीरे पुकारा और लौट पड़े। मुझे जगाने की हिम्मत न पड़ी। मुझे जो कष्ट हो रहा था, इसका एकमात्र कारण अपने को समझकर वह मन-ही-मन दुःखी हो रहे थे। मैंने अनुमान किया था, वह मुझे उठायेंगे, मैं मान करूँगी, वह मनायेंगे, मगर सारे मंसूबे खाक में मिल गए। उन्हें लौटते देखकर मुझसे न रहा गया। मैं हकबकाकर उठ बैठी और चारपाई से नीचे उतरने लगी, मगर न-जाने क्यों, मेरे पैर लड़खड़ाये और ऐसा जान पड़ा मैं गिरी जाती हूँ। सहसा आनन्द ने पीछे फिर कर मुझे संभाल लिया और बोले — लेट जाओ, लेट जाओ, मैं कुरसी पर बैठा जाता हूँ। यह तुमने अपनी क्या गति बना रखी है?

मैंने अपने को सँभालकर कहा — मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ। आपने कैसे कष्ट किया?

'पहले तुम कुछ भोजन कर लो, तो पीछे मैं कुछ बात करूँगा।'

'मेरे भोजन की आपको क्या फिक्र पड़ी है। आप तो सैर सपाटे कर रहे हैं!'

'जैसे सैर-सपाटे मैंने किये हैं, मेरा दिल जानता है। मगर बातें पीछे करूँगा, अभी मुँह-हाथ धोकर खा लो। चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। राम! राम!'

'यह आपसे किसने कहा कि मैंने चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। जब आपको मेरी परवाह न थी, तो मैं क्यों दाना-पानी छोड़ती?'

'वह तो सूरत ही कहे देती हैं। फूल—से मुरझा गये।'

'जरा अपनी सूरत जाकर आईने में देखिए।'

'मैं पहले ही कौन बड़ा सुन्दर था। ठूँठ को पानी मिले तो क्या और न मिले तो क्या। मैं न जानता था कि तुम यह अनशन-व्रत ले लोगी, नहीं तो ईश्वर जानता है, अम्मा मार-मारकर भगातीं, तो भी न जाता।'

मैंने तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा — तो क्या सचमुच तुम समझे थे कि मैं यहाँ केवल आराम के विचार से रह गयी?

आनन्द ने जल्दी से अपनी भूल सुधरी — नहीं, नहीं प्रिये, मैं इतना गधा नहीं हूँ, पर यह मैं कदापि न समझता था कि तुम बिलकुल

दाना-पानी छोड़ दोगी। बड़ी कुशल हुई कि मुझे महाराज मिल गया, नहीं तो तुम प्राण ही दे देती। अब ऐसी भूल कभी न होगी। कान पकड़ता हूँ। अम्माजी तुम्हारा बखान कर-करके रोती रही।

मैंने प्रसन्न होकर कहा — तब तो मेरी तपस्या सफल हो गयी।

'थोड़ा-सा दूध पी लो, तो बातें हों। जाने कितनी बातें करनी है।'

'पी लूँगी, ऐसी क्या जल्दी है।'

'जब तक तुम कुछ खा न लोगी, मैं यही समझूँगा कि तुमने मेरा अपराध क्षमा नहीं किया।'

'मैं भोजन जभी करूँगी, जब तुम यह प्रतिज्ञा करो कि फिर कभी इस तरह रूठकर न जाओगे।'

'मैं सच्चे दिल से यह प्रतिज्ञा करता हूँ।'

बहन, तीन दिन कष्ट तो हुआ, पर मुझे उसके लिए जरा भी पछतावा नहीं है। इन तीन दिनों के अनशन ने दिलों मे जो सफाई कर दी, वह किसी दूसरी विधि से कदापि न होती। अब मुझे विश्वास है कि हमारा जीवन शांति से व्यतीत होगा। अपने समाचार शीघ्र, अति शीघ्र लिखना।

तुम्हारी

चन्दा।

13

दिल्ली

20-2-26

प्यारी बहन,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आयी। तुम मुझे कितना ही बुरा कहो, पर मैं अपनी यह दुर्गति किसी तरह न सह सकती, किसी तरह नहीं। मैंने या तो अपने प्राण ही दे दिये होते, या फिर उस सास का मुँह न देखती। तुम्हारा सीधापन, तुम्हारी सहनशीलता, तुम्हारी सास-भक्ति तुम्हें मुबारक हो। मैं तो तुरन्त आनन्द के साथ चली जाती और चाहे भीख ही क्यों न माँगनी पड़ती उस घर में कदम न रखती। मुझे तुम्हारे ऊपर दया ही नहीं आती, क्रोध भी आता है, इसलिए कि तुममें स्वाभिमान नहीं है। तुम-जैसी स्त्रियों ने ही सासों और पुरूषों का मिजाज आसमान चढ़ा दिया है। 'जहन्नुम में जाय ऐसा घर — जहाँ अपनी इज्जत नहीं।' मैं पति-प्रेम भी इन दामों न लूँ। तुम्हें उन्नीसवीं सदी में जन्म लेना चाहिए था। उस वक्त तुम्हारे गुणों की प्रशंसा होती।

इस स्वाधीनता और नारी-स्वत्व के नवयुग में तुम केवल प्राचीन इतिहास हो। यह सीता और दमयन्ती का युग नहीं। पुरूषों ने बहुत दिनों तक राज्य किया। अब स्त्री-जाति का राज्य होगा। मगर अब तुम्हें अधिक न कोसूँगी।

अब मेरा हाल सुनो। मैंने सोचा था, पत्रों में अपनी बीमारी का समाचार छपवा दूँगी। लेकिन फिर ख्याल आया; यह समाचार छपते ही मित्रों का ताँता लग जायेगा। कोई मिजाज पूछने आयेगा। कोई देखने आयेगा। फिर मैं कोई रानी तो हूँ नहीं, जिसकी बीमारी का बुलेटिन रोजाना छापा जाय। न जाने लोगों के दिल में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हों। यह सोचकर मैंने पत्र में छपवाने का विचार छोड़ दिया। दिन-भर मेरे चित्त की क्या दशा रही, लिख नहीं सकती। कभी मन में आता, जहर खा लूँ, कभी सोचती, कहीं उड़ जाऊँ। विनोद के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। अब मुझे ऐसी कितनी ही बातें याद आने लगीं, जब मैंने विनोद के प्रति उदासीनता का भाव दिखाया था। मैं उनसे सब कुछ लेना चाहती थी; देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझ पर मँडराते रहें, पतंग की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबों और पत्रों में मग्न बैठे देखकर मुझे झुँझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकांश समय अपने ही बनाव-सिंगार में कटता था, उनके विषय में मुझे

कोई चिन्ता ही न होती थी। अब मुझे मालूम हुआ कि सेवा का महत्व रूप से कहीं अधिक है। रूप मन को मुग्ध कर सकता है, पर आत्मा को आनन्द पहुँचाने वाली कोई दूसरी ही वस्तु है।

इस तरह एक हफ्ता गुजर गया। मैं प्रातःकाल मैके जाने की तैयारियाँ कर रही थी — यह घर फाड़े खाता था — कि सहसा डाकिये ने मुझे एक पत्र लाकर दिया। मेरा हृदय धक-धक करने लगा। मैंने काँपते हुए हाथों से पत्र लिया, पर सिरनामे पर विनोद की परिचित हस्तलिपि न थी, लिपि किसी स्त्री की थी, इसमें सन्देह न था, पर मैं उससे सर्वथा अपरिचित थी। मैंने तुरन्त पत्र खोला और नीचे की तरफ देखा तो चौंक पड़ी — वह कुसुम का पत्र था। मैंने एक ही साँस में सारा पत्र पढ़ लिया। लिखा था —

'बहन, विनोद बाबू तीन दिन यहाँ रहकर बम्बई चले गये। शायद विलायत जाना चाहते हैं। तीन-चार दिन बम्बई रहेंगे। मैंने बहुत चाहा कि उन्हें दिल्ली वापस कर दूँ, पर वह किसी तरह न राजी हुए। तुम उन्हें नीचे लिखे पते से तार दे दो। मैंने उनसे यह पता पूछ लिया था। उन्होंने मुझे ताकीद कर दी थी कि इस पते को गुप्त रखना, लेकिन तुमसे क्या परदा। तुम तुरन्त तार दे दो, शायद रुक जायँ। वह बात क्या हुई! मुझसे विनोद ने तो बहुत पूछने पर भी नहीं बताया, पर वह दुःखी बहुत थे। ऐसे आदमी को भी तुम अपना न बना सकी, इसका मुझे आश्चर्य है; पर मुझे

इसकी पहले ही शंका थी। रूप और गर्व में दीपक और प्रकाश का सम्बन्ध है। गर्व रूप का प्रकाश है।' —

मैंने पत्र रख दिया और उसी वक्त विनोद के नाम तार भेज दिया कि बहुत बीमार हूँ, तुरन्त आओ। मुझे आशा थी कि विनोद तार द्वारा जवाब देंगे, लेकिन सारा दिन गुजर गया और कोई जवाब न आया। बँगले के सामने से कोई साइकिल निकलती, तो मैं तुरन्त उसकी ओर ताकने लगती थीं कि शायद तार का चपरासी हो। रात को भी मैं तार का इन्तजार करती रही। तब मैंने अपने मन को इस विचार से शांत किया कि विनोद आ रहे हैं, इसलिए तार भेजने की जरूरत न समझी।

अब मेरे मन में फिर शंकाएँ उठने लगी। विनोद कुसुम के पास क्यों गये, कहीं कुसुम से उन्हें प्रेम तो नहीं हैं? कहीं उसी प्रेम के कारण तो वह मुझसे विरक्त नहीं हो गये? कुसुम कोई कौशल तो नहीं कर रही हैं? उसे विनोद को अपने घर ठहराने का अधिकार ही क्या था? इस विचार से मेरा मन बहुत क्षुब्ध हो उठा। कुसुम पर क्रोध आने लगा। अवश्य दोनों में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार होता रहा होगा। मैंने फिर कुसुम का पत्र पढ़ा और अबकी उसके प्रत्येक शब्द में मेरे लिए कुछ सोचने की सामग्री रखी हुई थी। निश्चय किया कि कुसुम को एक पत्र लिखकर खूब कोसूँ। आधा पत्र लिख भी डाला, पर उसे फाड़ डाला। उसी वक्त विनोद

को एक पत्र लिखा। तुमसे कभी भेंट होगी, तो वह पत्र दिखलाऊँगी; जो कुछ मुँह में आया बक डाला। लेकिन इस पत्र की भी वही दशा हुई जो कुसुम के पत्र की हुई थी। लिखने के बाद मालूम हुआ कि वह किसी विक्षिप्त हृदय की बकवाद है। मेरे मन में यही बात बैठती जाती थी वह कुसुम के पास हैं। वही छलिनी उन पर अपना जादू चला रही है। यह दिन भी बीत गया। डाकिया कई बार आया, पर मैंने उसकी ओर आँख भी नहीं उठायी। चन्दा, मैं नहीं कह सकती, मेरा हृदय कितना तिलमिला रहा था। अगर कुसुम इस समय मुझे मिल जाती, तो मैं न-जाने क्या कर डालती।

रात को लेटे-लेटे ख्याल आया, कहीं वह यूरोप न चले गये हों। जी बेचैन हो उठा। सिर में ऐसा चक्कर आने लगा, मानों पानी में डूबी जाती हूँ। अगर वह यूरोप चले गये, तो फिर कोई आशा नहीं — मैं उसी वक्त उठी और घड़ी पर नजर डाली। दो बजे थे। नौकर को जगाया और तार-घर जा पहुँची। बाबूजी कुरसी पर लेटे-लेटे सो रहे थे। बड़ी मुश्किल से उनकी नींद खुली। मैंने रसीदी तार दिया। जब बाबूजी तार दे चुके, तो मैंने पूछा — इसका जवाब कब तक आयेगा?

बाबू ने कहा — यह प्रश्न किसी ज्योतिषी से कीजिए। कौन जानता है, वह कब जवाब दें। तार का चपरासी जबरदस्ती तो

उनसे जवाब नहीं लिखा सकता। अगर कोई और कारण न हो, तो आठ-नौ बजे तक जवाब आ जाना चाहिए।

घबराहट में आदमी की बुद्धि पलायन कर जाती है। ऐसा निरर्थक प्रश्न करके मैं स्वयं लज्जित हो गयी। बाबूजी ने अपने मन में मुझे कितना मूर्ख समझा होगा; खैर, मैं वहीं एक बेंच पर बैठ गयी और तुम्हें विश्वास न आयेगा, नौ बजे तक वहीं बैठी रही। सोचो, कितने घंटे हुए? पूरे सात घंटे। सैकड़ों आदमी आये और गये, पर मैं वहीं जमी बैठी रही। जब तार का डमी खटकता, मेरे हृदय में धड़कन होने लगती। लेकिन इस भय से कि बाबूजी झल्ला न उठें, कुछ पूछने का साहस न करती थीं। जब दफ्तर की घड़ी में नौ बजे, तो मैंने डरते-डरते बाबू से पूछा — क्या अभी तक जवाब नहीं आया।

बाबू ने कहा — आप तो यहीं बैठी हैं, जवाब आता तो क्या मैं खा डालता? मैंने बेहयाई करके फिर पूछा — तो क्या अब न आवेगा? बाबू ने मुँह फेरकर कहा — और दो-चार घंटे बैठी रहिए।

बहन, यह वाग्बाण शर के समान हृदय में लगा। आँखें भर आयीं। लेकिन फिर मैं वह टली नहीं। अब भी आशा बँधी हुई थी कि शायद जवाब आता हो। जब दो घंटे और गुजर गये, तब

मैं निराश हो गयी। हाय! विनोद ने मुझे कहीं का न रखा। मैं घर चली, तो आँखें से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। रास्ता न सूझता था।

सहसा पीछे से एक मोटर का हार्न सुनायी दिया। मैं रास्ते से हट गयी। उस वक्त मन में आया, इसी मोटर के नीचे लेट जाऊँ और जीवन का अन्त कर दूँ। मैंने आँखें पोंछकर मोटर की ओर देखा, भुवन बैठा हुआ था और उसकी बगल में बैठी थी कुसुम! ऐसा जान पड़ा, अग्नि की ज्वाला मेरे पैरों से समाकर सिर से निकल गयी। मैं उन दोनों की निगाहों से बचना चाहती थी, लेकिन मोटर रुक गयी और कुसुम उतर कर मेरे गले से लिपट गयी। भुवन चुपचाप मोटर में बैठा रहा, मानो मुझे जानता ही नहीं। निर्दयी, धूर्त!

कुसुम ने पूछा — मैं तो तुम्हारे पास जाती थी, बहन? वहाँ से कोई खबर आयी?

मैंने बात टालने के लिए कहा — तुम कब आयीं?

भुवन के सामने मैं अपनी विपत्ति-कथा न कहना चाहती थी।

कुसुम — आओ, कार में बैठ जाओ।

'नहीं, मैं चली जाऊँगी। अवकाश मिले, तो एक बार चली आना।'

कुसुम ने मुझसे आग्रह न किया। कार में बैठकर चल दी। मैं खड़ी ताकती रह गयी! यह वही कुसुम है या कोई और? कितना बड़ा अन्तर हो गया है?

मैं घर चली, तो सोचने लगी — भुवन से इसकी जान-पहचान, कैसे हुई? कहीं ऐसा तो नहीं है कि विनोद ने इसे मेरी टोह लेने को भेजा हो! भुवन से मेरे विषय में कुछ पूछने तो नहीं आयी हैं?

मैं घर पहुँचकर बैठी ही थी कि कुसुम आ पहुँची। अब की वह मोटर में अकेली न थी — विनोद बैठे हुए थे। मैं उन्हे देखकर ठिठक गयी! चाहिए तो यह था कि मैं दौड़कर उनका हाथ पकड़ लेती और मोटर से उतार लाती, लेकिन मैं जगह से हिली तक नहीं। मूर्ति की भाँति अचल बैठी रही। मेरी मानिनी प्रकृति अपना उद्दण्ड-स्वरूप दिखाने के लिए विकल हो उठी। एक क्षण में कुसुम ने विनोद को उतारा और उनका हाथ पकड़े हुये ले आयी। उस वक्त मैंने देखा कि विनोद का मुख बिलकुल पीला पड़ गया है और वह इतने अशक्त हो गये हैं कि अपने सहारे खड़े भी नहीं रह सकते, मैंने घबराकर पूछा — क्यों तुम्हारा यह क्या हाल है?

कुसुम ने कहा — हाल पीछे पूछना, जरा इनकी चौपाई चटपट बिछा दो और थोडा-सा दूध मँगवा लो।

मैंने तुरन्त चारपाई बिछायी और विनोद को उस पर लेटा दिया। और दूध तो रखा हुआ था। कुसुम इस वक्त मेरी स्वामिनी बनी हुई थी। मैं उसके इशारे पर नाच रही थी। चन्दा, इस वक्त मुझे ज्ञात हुआ कि कुसुम पर विनोद को जितना विश्वास है, वह मुझ पर नहीं। मैं इस योग्य हूँ ही नहीं। मेरा दिल सैकड़ों प्रश्न पूछने के लिए तड़फड़ा रहा था, लेकिन कुसुम एक पल के लिए भी विनोद के पास से ने टलती थी। मैं इतनी मूर्ख हूँ कि अवसर पाने पर इस दशा में भी मैं विनोद से प्रश्नों का ताँता बाँध देती।

विनोद को जब नींद आ गयी, मैंने आँखों में आँसू भरकर कुसुम से पूछा — बहन, इन्हें क्या शिकायत है? मैंने तार भेजा। उसका जवाब नहीं आया। रात दो बजे एक जरूरी और जवाबी तार भेजा। दस बजे तक तार-घर बैठी जवाब की राह देखती रही। वहीं से लौट रही थी, जब तुम रास्ते में मिली। यह तुम्हें कहाँ मिल गये?

कुसुम मेरा हाथ पकड़कर दूसरे कमरे में ले गयी और बोली — पहले तुम यह बताओं कि भुवन का क्या मुआमला था? देखो, साफ, कहना।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा — कुसुम, तुम यह प्रश्न पूछकर मेरे साथ अन्याय कर रही हो। तुम्हें खुद समझ लेना चाहिए था कि इस बात में कोई सार नहीं है! विनोद को केवल भ्रम हो गया।

‘बिना किसी कारण के?’

‘हाँ, मेरी समझ में तो कोई कारण न था।’

‘मैं इसे नहीं मानती। यह क्यों नहीं कहतीं कि विनोद को जलाने, चिढ़ाने और जगाने के लिए तुमने यह स्वाँग रचा था।’

कुसुम की सूझ पर चकित होकर मैंने कहा — वह तो केवल दिल्लगी थी।

‘तुम्हारे लिए दिल्लगी थी, विनोद के लिए वज्रपात था। तुमने इतने दिनों उनके साथ रहकर भी उन्हें नहीं समझा! तुम्हें अपने बनाव-सँवार के आगे उन्हें समझने की कहाँ फुरसत? कदाचित् तुम समझती हो कि तुम्हारी यह मोहनी मूर्ति ही सब कुछ है। मैं कहती हूँ, इसका मूल्य दो-चार महीने के लिए हो सकता है। स्थायी वस्तु कुछ और ही है।’

मैंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा — विनोद को मुझसे कुछ पूछना तो चाहिए था?

कुसुम ने हँसकर कहा — यही तो वह नही कर सकते। तुमसे ऐसी बात पूछना उनके लिए असम्भव है। वह उन प्राणियों में है, जो स्त्री की आँखें से गिरकर जीते नहीं रह सकते। स्त्री या पुरूष किसी के लिए भी वह किसी प्रकार का धार्मिक या नैतिक बन्धन नहीं रखना चाहते। वह प्रत्येक प्राणी के लिए पूर्ण स्वाधीनता के समर्थक हैं। मन और इच्छा के सिवा वह कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते। इस विषय पर मेरी उनसे खूब बातें हुई हैं। खैर, मेरा पता उन्हें मालूम था ही, यहाँ से सीधे मेरे पास पहुँचे। मैं समझ गई कि आपस में पटी नहीं। मुझे तुम्हीं पर सन्देह हुआ।

मैंने पूछा — क्यों? मुझ पर तुम्हें क्यों सन्देह हुआ?

'इसलिए कि मैं तुम्हें पहले देख चुकी थी।'

'अब तो तुम्हें मुझ पर सन्देह नहीं।'

'नहीं, मगर इसका कारण तुम्हारा संयम नहीं, परम्परा है। मैं इस समय स्पष्ट बातें कर रहीं हूँ, इसके लिए क्षमा करना।'

'तुम समझती हो कि मुझे विनोद से प्रेम नहीं है?'

'नहीं, विनोद से तुम्हें जितना प्रेम है, उससे अधिक अपने-आपसे है। कम-से-कम दस दिन पहले यही बात थी। अन्यथा यह नौबत ही

क्यों आती? विनोद यहाँ से सीधे मेरे पास गये और दो-तीन दिन रहकर बम्बई चले गये। मैंने बहुत पूछा, पर कुछ बतलाया नहीं। वहाँ उन्होंने एक दिन विष खा लिया।'

मेरे चेहरे का रंग उड़ गया।

'बम्बई पहुँचते ही उन्होंने मेरे पास एक खत लिखा था। उसमें यहाँ की सारी बातें लिखी थीं और अन्त में लिखा था — मैं इस जीवन से तंग आ गया हूँ, अब मेरे लिए मौत के सिवा और कोई उपाय नहीं है।'

मैंने एक ठंडी साँस ली।

'मैं यह पत्र पाकर घबरा गयी और उसी वक्त बम्बई रवाना हो गयी। जब वहाँ पहुँची, तो विनोद को मरणासन्न पाया। जीवन की कोई आशा नहीं थी। मेरे एक सम्बन्धी वहाँ डॉक्टरी करते हैं। उन्हें लाकर दिखाया तो वह बोले — इन्होंने जहर खा लिया है। तुरन्त दवा दी गयी। तीन दिन तक डाक्टर साहब न दिन-को-दिन और रात-को-रात न समझा, और मैं तो एक क्षण के लिए विनोद के पास से न हटी। बारे तीसरे दिन इनकी आँख खुली। तुम्हारा पहला तार मुझे मिला था, पर उसका जवाब देने की किसे फुरसत थी? तीन दिन और बम्बई रहना पड़ा। विनोद इतने कमजोर हो गये थे कि इतना लम्बा सफर करना उनके लिए

असम्भव था। चौथे दिन मैंने जब उनसे यहाँ आने का प्रस्ताव किया, तो बोले — मैं अब वहाँ न जाऊँगा। जब मैंने बहुत समझाया, तब इस शर्त पर राजी हुए ताकि मैं पहले आकर यहाँ की परिस्थिति देख जाऊँ।'

मेरे मुँह से निकला — हा! ईश्वर, मैं ऐसी अभागिनी हूँ।

'अभागिनी नहीं हो बहन, केवल तुमने विनोद को समझा न था। वह चाहते थे कि मैं अकेली जाऊँ, पर मैंने उन्हें इस दशा में वहाँ छोड़ना उचित न समझा। परसों हम दोनों वहाँ चले। यहाँ पहुँचकर विनोद तो वेटिंग-रूम में ठहर गये, मैं पता पूछती हुई भुवन के पास पहुँची। भुवन को मैंने इतना फटकारा कि वह रो पड़ा। उसने मुझसे यहाँ तक कह डाला कि तुमने उसे बुरी तरह दुत्कार दिया है। आँखों का बुरा आदमी है, पर दिल का बुरा नहीं। उधर से जब मुझे सन्तोष हो गया और रास्ते में तुमसे भेंट हो जाने पर रहा-सहा भ्रम भी दूर हो गया, तो मैं विनोद को तुम्हारे पास लायी। अब तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपती हूँ। मुझे आशा है, इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर नौबत न आयेगी। आत्मसमर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुन्दरी हो, आनन्दमय जीवन का यही मूल मंत्र है। मैं डींग नहीं मारती, लेकिन चाहूँ तो आज विनोद को तुमसे छीन सकती हूँ। लेकिन रूप में मैं तुम्हारे तलुओं के बराबर भी नहीं।

रूप के साथ अगर तुम सेवा-भाव धारण कर सको, तो तुम अजेय हो जाओगी।'

मैं कुसुम के पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली — बहन, तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसके लिए मरते दम तक तुम्हारी ऋणी रहूँगी। तुमने न सहायता की होती, तो आज न-जाने क्या गति होती।

बहन, कुसुम कल चली जायगी। मुझे तो अब वह देवी-सी दीखती है। जी चाहता है, उसके चरण धो-धोकर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्त्तव्य-ज्ञान भी मिला है। आज से मेरे जीवन का नवयुग आरम्भ होता है, जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।

तुम्हारी,

पद्मा।

माँगे की घड़ी

मेरी समझ में आज तक यह बात न आई कि लोग ससुराल जाते हैं, तो इतना ठाट-बाट क्यों बनाते हैं, आखिर इसका उद्देश्य क्या होता हैं? हम अगर लखपति हैं तो क्या, और रोटियों को मुहताज हैं तो क्या, विवाह तो हो ही चुका, अब ठाट का हमारे ऊपर क्या असर पड़ सकता हैं। विवाह के पहले उससे कुछ काम निकल सकता हैं, हमारी सम्पन्नता बातचीत पक्की करने में बहुत-कुछ सहायक हो सकती हैं लेकिन तब विवाह हो गया, देवीजी हमारे घर का सारा रहस्य जान गई और निःसन्देह अपने माता-पिता से रो-रोकर अपने दुर्भाग्य की कथा भी कह सुनाई, तो हमारा यह ठाट हानि के सिवा लाभ नहीं पहुँचा सकता। फटेहालों देखकर, सम्भव हैं, हमारी सासजी को कुछ दया आ जाती और विदाई के बहाने कोई माकूल रकम हमारे हाथ लग जाती। यह ठाट देखकर तो वह अवश्य ही समझेंगी कि इसका सितारा चमक उठा है, जरूर कहीं-न-कहीं से माल मार लाया हैं। उधर नाई और कहार इनाम के लिए बड़े-बड़े मुँह फैलाऐंगे, वह अलग। देवीजी को भी भ्रम हो सकता हैं, मगर यह सब जानते और

समझते हुए मैंने परसाल होलियों में ससुराल जाने के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ की। रेशमी अचकन जिन्दगी में कभी न पहनी थी, फ्लैक्स के बूटों का भी स्वप्न देखा करता था। अगर नकद रुपए देने का प्रश्न होता, तो शायद यह स्वप्न ही रहता, पर एक दोस्त की कृपा से दोनो चीजें उधर मिल गई, चमड़े का सूटकेस एक मित्र से माँग लाया, दरी फट गई थी, और नई दरी उधार मिल भी सकती थी लेकिन बिछावन ले जाने की जरूरत न समझी, अब केवल रिस्ट-वाच की और कमी थी, यों तो दोस्तों में कितनों ही के पास रिस्ट-वाच थी, मेरे सिवा ऐसे अभागे बहुत कम होंगे, जिनके पास रिस्ट-वाच न हो, लेकिन मैं सोने की घड़ी चाहता था और वह केवल दानू के पास थी, मगर दानू से मेरी बेतकल्लुकी न थी, दानू रूखा आदमी था, मंगनी की चीजों का लेना और देना दोनों ही पाप समझता था, ईश्वर ने माना हैं, वह इस सिद्धान्त का पालन कर सकता हैं, मैं कैसे कर सकता हूँ, जानता था कि वह साफ इंकार करेगा, पर दिल न माना। खुशामद के बल पर मैंने अपने जीवन में बड़े-बड़े काम कर दिखाए हैं, इसी खुशामद की बदौलत आज महीने 30 रुपए फटकारता हूँ, एक हजार ग्रेजुएटों से कम उम्मीदवार न थे, लेकिन सब मुँह ताकते रह गए और बन्दा मूँछों पर ताव देता हुआ घर आया, जब इतना बड़ा पाला मार लिया, तो दो-चार दिन के लिए

घड़ी माँग लाना कौन-सा बड़ा मुश्किल काम था। शाम को जाने की तैयारी थी, प्रातःकाल दानू के पास पहुँचा और उनके छोटे बच्चे को, जो बैठक के सामने सहन में खेल रहा था, गोद में उठाकर भींच-भींचकर प्यार करने, दानू ने पहले तो मुझे आते देखकर जरा त्योरियाँ चढ़ाई थी, लेकिन मेरा यह वात्सल्य देखकर कुछ नरम पड़े, उनके होठों के किनारे जरा फैल गए फिर बोले — खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता हैं, मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।

मैंने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखाकर कहा — मेरा कुर्ता मैला हो रहा हैं न, आप इसकी क्यों फ्रिक करते हैं। वाह, ऐसा फूल-सा बालक और उसकी यह कदर, तुम जैसों को तो ईश्वर नाहक ही सन्तान देता हैं, तुम्हें भारी मालूम होता हैं, तो लाओ मुझे दे दो।

यह कहकर मैंने बालक को कंधे पर बैठा लिया और सहन में कोई पन्द्रह मिनट तक उचकता फिरा, बालक खिलखिलाता था और मुझे दम न लेने देता था। यहाँ तक की दानू ने उसे मेरे कंधे से उतारकर जमीन पर बैठा दिया और बोले — कुछ पान-पत्ता तो लाया नहीं, उल्टे सवारी कर बैठा। जा, अम्मा से पान बनवा ला।

बालक मचल गया। मैंने उसे शान्त करने के लिए दानू को हल्के दो-तीन धप जमाए और उनकी रिस्ट-वाच से सुसज्जित कलाई पकड़कर बोला — ले लो बेटा, इनकी घड़ी ले लो। यह बहुत मारा करते है तुम्हें। आप तो घड़ी लगाकर बैठे है और हमारे मुन्ने के पास नहीं।

मैंने चुपके से रिस्ट-वाच खोलकर बालक की बाँह में बाँध दी और तब उसे गोद में उठाकर बोला — भैया, अपनी घड़ी हमें दे दो।

सयाने बाप के बेटे भी सयाने होते है। बालक ने घड़ी को दूसरे हाथ से छिपा कर कहा — तुमको नहीं देंगे।

मगर मैंने अन्त में उसे फुसलाकर घड़ी ले ली और अपनी कलाई पर बाँध ली। बालक पान लेने चला गया। दानू बाबू अपनी घड़ी के अलौकिक गुणों की प्रशंसा करने लगे। ऐसी सच्ची समय बताने वाली घड़ी आज तक कम-से-कम मैंने नहीं देखी।

मैंने अनुमोदन किया — है भी तो स्विस।

दानू — अजी, स्विस होने से क्या होता है। लाखों स्विस घड़ियाँ देख चुका हुई, किसी को सर्दी, किसी को जुकाम, किसी को गठिया, किसी को लकवा। जब देखिए, तब अस्पताल में पड़ी है। घड़ी की पहचान चाहिए और यह कोई आसान काम नहीं। कुछ लोग

समझते है, बहुत दाम खर्च कर देने से अच्छी घड़ी मिल जाती है। मैं कहता हूँ तुम गधे हो। दाम खर्च करने से ईश्वर नहीं मिला करते। ईश्वर मिलता है, ज्ञान से और घड़ी मिलती है ज्ञान से। फासेट साहब को तो जानते होगे। बस, बन्दा ऐसों ही की खोज में रहता है। एक दिन आकर बैठ गया। शराब की चाट थी, जेब में रुपए नदारद। मैं 25 रुपए में यह घड़ी ले ली। इसकी तीन साल होते है और आज तक एक मिनट का फर्क नहीं पड़ा। कोई इसके सौ आँकता है, कोई दो सौ, कोई साढे तीन सौ, कोई पौने पाँच सौ। मगर मैं कहता हूँ, तुम सब गधे हो। एक हजार से नीचे ऐसी घड़ी नहीं मिल सकती। पत्थर पर पटक दो, क्या मजाल की बाल भी आए।

मैंने कहा — तब तो यार एक दिन के लिए मंगनी दे दो। बाहर जाना है। औरों को भी इसकी करामात सुनाऊँगा।

दानू — मंगनी तो तुम जानते हो। मैं कोई चीज नहीं देता। क्यों नहीं देता, इसकी कथा सुनाने बैठूँ, तो अलिफलैला की दास्तान हो जाए। उसका सारांश यह है कि मंगनी में चीज देना मित्रता की जड़ खोदना, मुरौवत का गला घोंटना और अपने घर में आग लगना है। आप बहुत उत्सुक मालूम होते है, इसलिए दो-एक घटनाएँ सुना हू दूँ। आपको फुरसत है न? हाँ, आज तो दफ्तर बन्द है। तो सुनिए — एक साहब लालटेनें मंगनी ले गए।

लौटाने आए, तो चिमनियाँ सब टूटी हुई। पूछा, यह आपने क्या किया? सो बोले — जैसी गई थी, वैसी आई। यह तो आपने न कहा था कि उनके बदले नई लालटेनें लूँगा।

'वाह साहब वाह, यह अच्छा रोजगार निकाला। बताइए, क्या करता। एक दूसरे महाशय कालीन ले गए। बदले में एक फटी हुई दरी ले आए। पूछा, तो बोले — साहब, आपको तो यह दरी मिल भी गई। मैं किसके सामने जाकर रोऊँ, मेरी पाँच कालीनों का पता नहीं। कोई साहब सब समेट ले गए।

'बताइए, उनसे क्या कहता? तब से मैंने कान पकड़े कि अब किसी के साथ यह व्यवहार ही न करूँगा। सारा शहर मुझे बेमुरौवत, मक्खीचूस और जाने क्या-क्या कहता है। पर मैं परवाह नहीं करता लेकिन आप बाहर जा रहे है और बहुत-से आदमियों से आपकी मुलाकात होगी। सम्भव हैं, कोई इस घड़ी का गाहक जाए। इसलिए आपके साथ इतनी सख्ती न करूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं इसे निकालना चाहता हूँ और आपसे मुझे सहायता मिलने की पूरी उम्मीद है। अगर कोई दाम लगाए, तो मुझसे आकर कहिएगा।'

मैं यहाँ से कलाई पर घड़ी बाँधकर चला, तो जमीन पर पाँव न पड़ते थे। घड़ी मिलने की इतनी खुशी न थी, जितनी एक मुड्ढ पर

विजय पाने की। कैसा फाँसा है बच्चा को वह समझते थे कि मैं ही बड़ा सयाना हूँ। यह नहीं जानते थे यहाँ उनके भी गुरुघंटाल है।

2

उसी दिन शाम को मैं ससुराल जा पहुँचा। अब यह गुत्थी खुली कि लोग क्यों ससुराल जाते वक्त इतना ठाट-बाट करते है। सारे घर में हलचल पड़ गई। मुझ पर किसी की निगाह न थी, सभी मेरा साज-सामान देख रहे थे। कहार पानी लेकर दौड़ा, एक साला मिठाई की तश्तरी लाया, दूसरा पान की। नाइन झाँककर देख गई और ससुरजी की आँखों में तो ऐसा गर्व झलक रहा था, मानो संसार को उनके निर्वाचन-कौशल पर सिर झुकाना चाहिए। मैं 30 रुपए महीने का नौकर इस शान से बैठा हुआ था, जैसे बड़े बाबू दफ्तर मे बैठते है। कहार पंखा झल रहा है, नाइन पाँव धो रही थी, एक साला बिछावन बिछा रहा था, दूसरा धोती लिए खड़ा था कि मैं पाजामा उतारूँ। यह सब उसी ठाट की करामात थी।

रात को देवीजी ने पूछा — सब रुपए उड़ा आए कि कुछ बचा भी है?

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया। न क्षेम, न कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत, बस हाय, रुपए, हाय रुपए। जी में आया कि इसी वक्त उठकर चल दूँ, लेकिन जब्त कर गया। बोला — मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम ही है।

'मैं क्या जानूँ, तुम्हारी क्या आमदनी है, कमाते होंगे अपने लिए मेरे लिए क्या करते हो? तुम्हें तो भगवान ने औरत बनाया होता, तो अच्छा होता। रात-दिन कंघी-चोटी किया करते, तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक-सिंगार से बचत ही नहीं, दूसरों की फ़िक्र तुम क्या करोगे?'

मैंने झुँझलाकर कहा — क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक्त चला जाऊँ?

देवीजी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा — चले क्यों नहीं जाते, मैं तो तुम्हें बुलाने न गई थी, या मेरे लिए कोई रोकड़ लाए हो?

मैंने चिन्तित स्वर में कहा — तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं, जो कुछ है, वह रोकड़ ही है?

देवीजी ने त्योरियाँ चढ़ाए हुए स्वर में कहा — प्रेम अपने-आपसे करते होंगे, मुझसे तो नहीं करते।

'तुमने पहले तो यह शिकायत कभी न थी।'

'इससे यह तो तुमको मालूम हो ही गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती, लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे-चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ, लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो और मैं मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम उतना सहनशील नही हैं।'

सालों और नौकरों ने मेरा जो आदर-सम्मान किया था, उसे देखकर मैं अपने ठाट पर फूला न समाया था। अब यहाँ मेरी जो अवहेलना हो रही थी, उसे देखकर मैं पछता रहा था कि व्यर्थ ही यह स्वांग भरा। अगर साधारण कपड़े पहने, रोनी सूरत बनाए आता, तो बाहर वाले चाहे अनादर करते लेकिन देवीजी तो प्रसन्न रहतीं पर अब भूल हो गई थी। देवीजी की बातों पर मैंने गौर किया, तो मुझे उनसे सहानुभूति हो गई। यदि देवीजी पुरुष होतीं और मैं उनकी स्त्री, तो क्या मुझे यह किसी तरह भी सह्य होता कि वह तो छैला बने घूमें और मैं पिंजरे में बन्द दाने और पानी को तरसूँ। चाहिए यह था कि देवीजी से सारा रहस्य कह सुनाता, पर आत्मगौरव ने इसे किसी तरह स्वीकार न किया। स्वाँग भरना सर्वथा अनुचित था, लेकिन पर्दा खोलना तो भीषण पाप था। आखिर मैंने फिर उसी खुशामद से काम लेने का निश्चय किया,

जिसने इतने कठिन अवसरों पर मेरा साथ दिया था। प्रेम पुलकित कंठ से बोला — प्रिय, सच कहता हूँ, मेरी दशा अब भी वही है लेकिन तुम्हारे दर्शनों की इच्छा इतनी बलबती हो गई थी कि उधार कपड़े लिए, यहाँ तक कि अभी सिलाई भी नहीं दी। फटेहाल आते संकोच होता था कि सबसे पहले तुमको दुःख होगा और तुम्हारे घरवाले भी दुखी होंगे। अपनी दशा जो कुछ है, वह तो है ही, उसकी ढिंढोरा पीटना तो और भी लज्जा की बात है।

देवीजी ने शान्त होकर कहा — तो उधार लिया?

'और नकद कहाँ धरा था?'

'घड़ी भी उधार ली?'

'हाँ, एक जान-पहचान की दुकान से ले ली।'

'कितने की है?'

बाहर किसी ने पूछा होता, तो मैंने 500 रुपए से कौड़ी कम न बताया होता, लेकिन यहाँ मैंने 25 रुपए बताया।

'तब तो सस्ती मिल गई।'

'और नहीं तो मैं फँसता ही क्यों?'

'इसे मुझे देते जाना।'

ऐसा जान पड़ा मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। सारे अवयव निस्पन्द हो गए। इंकार करता हूँ, तो नहीं बचता, स्वीकार करता हूँ, तो भी नहीं बचता। आज प्रातःकाल यह घड़ी मंगनी पाकर मैं फूला न समाया था। इस समय यह ऐसी मालूम हुई, मानो कौड़ियाला (जहरीला साँप) कुंडली मारे बैठा हो। बोला — तुम्हारे लिए कोई अच्छी घड़ी ले लूँगा।

'जी नहीं, माफ कीजिए, आप ही दूसरी घड़ी ले लीजिएगा। मुझे तो यही अच्छी लगती है। कलाई पर बाँधे रहूँगी, जब-जब इस पर आँखें पड़ेगी, तुम्हारी याद आएगी। देखो, तुमने आज तक मुझे फूटी कौड़ी भी कभी नहीं दी। अब इंकार करोगे, तो फिर कोई चीज न माँगूँगी।'

देवीजी ने कोई चीज माँगने से मुझे किसी विशेष हानि का भय न होना चाहिए था, बल्कि उनके इस विराग का स्वागत करना चाहिए था, पर न जाने क्यों मैं डर गया। कोई ऐसी युक्ति सोचने लगा कि यह राजी हो जाए और घड़ी भी न देनी पड़े। फिर बोला — घड़ी क्या चीज है तुम्हारे लिए जान हाजिर है। प्रिय लाओ, तुम्हारी कलाई पर बाँध दूँ, लेकिन बात यह है कि वक्त का ठीक-ठीक अन्दाज न होने से कभी-कभी दफ्तर पहुँचने में देर हो जाती है और व्यर्थ की फटकार सुननी पड़ती है। घड़ी तुम्हारी है, किन्तु जब तक दूसरी घड़ी न ले लूँ, इसे मेरे पास रहने दो।

मैं बहुत जल्द कोई सस्ते दामों की घड़ी अपने लिए ले लूँगा। और तुम्हारी घड़ी तुम्हारे पास भेज दूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा — राम जाने, तुम बड़े चकमेबाज हो। बातें बनाकर काम निकालना चाहते हो। यहाँ ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली है। यहाँ से जाकर दो-चार दिन में दूसरी घड़ी ले लेना। दो-चार दिन जरा सबेरे दफ्तर चले जाना।

अब मुझे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। कलाई से घड़ी जाते ही हृदय पर चिन्ता का पहाड़-सा बैठ गया। ससुराल में दो दिन रहा, पर उदास और चिन्तित। दानू-बाबू को क्या जवाब दूँगा, यह प्रश्न किसी गुप्त वेदना की भाँति चित्त को मसोसता रहा।

3

घर पहुँचकर जब मैंने सजल नेत्र होकर दानू बाबू से कहा — घड़ी तो कहीं खो गई, तो खेद या सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से निकालने के बदले उन्होंने बड़ी निर्दयता से कहा —

इसीलिए मैं तुम्हें घड़ी न देता था। आखिर वही हुआ, जिसकी मुझे शंका थी। मेरे पास वह घड़ी तीन साल रही, एक दिन ही इधर-उधर न हुई। तुमने तीन दिन में वारा-न्यारा कर दिया, आखिर कहाँ गए थे?

मैं तो डर रहा था कि दानू बाबू न जाने कितनी घुड़कियाँ सुनाएँगे। उनकी यह क्षमाशीलता देखकर मेरी जान-में-जान आई। बोला — जरा ससुराल चला गया था।

'तो भाभी को लिवा लाए?'

'जी, भाभी को लिवा लाता, अपना गुजर होता नहीं, भाभी को लिवा लाता?'

'आखिर तुम इतना कमाते हो, उसका क्या करते हो?'

'कमाता क्या हूँ, अपना सिर! 30 रुपए महीने का नौकर हूँ।'

'तो तीसों खर्च कर डालते हो?'

'क्या 30 रुपए मेरे लिए बहुत है?'

'जब तुम्हारी कुल आमदनी 30 रुपया है, तो यह सब अपने ऊपर खर्च करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बीवी कब तक मैके में पड़ी रहेगी।'

'जब तक और तरक्की नहीं होती, तब तक मजबूरी है, किस बिरते पर बुलाऊँ?'

'और तरक्की दो-चार साल न हो तो?'

'यह तो ईश्वर ही ने कहा है, इधर तो ऐसी आशा नहीं है।'

'शाबाश, तब तो तुम्हारी पीठ ठोकनी चाहिए, और कुछ काम क्यों नहीं करते? सुबह को क्या करते हो?'

'सारा वक्त नहाने-धोने, खाने-पीने में निकल जाता है। फिर दोस्तों से मिलना-जुलना भी तो है।'

'तो भाई, तुम्हारा रोग असाध्य है। ऐसे आदमी के साथ मुझे लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं हो सकती। आपको मालूम है, मेरी घड़ी 500 रुपए की थी। सारे रुपए आपको देने होंगे। आप अपने लिए 15 रुपए रखकर बाकी 15 रुपए महीना मेरे हवाले रखते जाइए। तीस महीने या ढाई साल में मेरे रुपए कट जाएँगे, तो खूब जी खोलकर दोस्तों से मिलिएगा, समझ गए न? मैंने 50 रुपए छोड़ दिए है, इससे अधिक रियायत नहीं कर सकता।'

'15 रुपए में मेरा गुजर कैसे होगा?'

'गुजर तो लोग 5 रुपए में भी करते है और 500 रुपए में भी, इसकी न चलाओ, अपनी सामर्थ्य देख लो।'

दानू बाबू ने जिस निष्ठुरता से ये बातें की, उससे मुझे विश्वास हो गया कि अब इनके सामने रोना-धोना व्यर्थ है। यह अपनी पूरी रकम लिए बिना न मानेंगे। घड़ी अधिक-से-अधिक 200 रुपए की थी, लेकिन इससे क्या होता है, उन्होंने तो पहले ही उसका दाम बता दिया था। अब इस विषय में मीन-मेष विचारने का मुझे साहस कैसे हो सकता था। किस्मत ठोककर घर आया। यह विवाह करने का मजा है। उस वक्त कैसे प्रसन्न थे, मानो चारों पदार्थ मिले जा रहे थे। अब नानी के नाम को रोओ। घड़ी का शौक चर्राया था। उसका फल भोगो। न घड़ी बाँधकर जाते तो ऐसी कौन-सी किरकिरी हुई जाती थी। मगर तब तुम किसकी सुनते थे। देखें 15 रुपए में कैसे गुजर करते हो? 30 रुपए में तो तुम्हारा पूरा ही न पड़ता था, अब 15 रुपए में तुम क्या भुना लोगे?

इन्हीं चिन्ताओं में पड़ा-पड़ा सो गया, भोजन करने की भी रुचि न रही।

जरा सुन लीजिए कि 30 रुपए में मैं कैसे गुजर करता था। 20 रुपए तो होटल को देता था, 5 रुपए नाश्ते का खर्च था, बाकी 5 रुपए में पान, सिगरेट, कपड़े, जूते सब कुछ, मैं कौन राजसी ठाट से रहता था। कौन-सी फिजूलखर्ची करता था कि अब खर्च में कमी करता। मगर दानू बाबू का कर्ज तो चुकाना ही था। रोकर चुकाता या हँसकर। एक बार जी में आया कि ससुराल जाकर घड़ी उठा लाऊँ, लेकिन दानू बाबू से कह चुका था कि घड़ी खो गई। अब घड़ी लेकर जाऊँगा तो यह मुझे झूठा और लबाड़िया समझेंगे, मगर क्या मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने समझा था कि घड़ी खो गई, ससुराल गया तो उसका पता चल गया। मेरी बीवी ने उड़ा दी थी। हाँ, यह चाल अच्छी थी लेकिन देवीजी से क्या बहाना करूँगा? उसे कितना दुःख होगा, घड़ी पाकर कितनी खुश हो गई थी, अब जाकर घड़ी छीन लाऊँ, तो शायद फिर मेरी सूरत भी न देखे। हाँ, यह हो सकता था कि दानू बाबू के पास जाकर रोता, मुझे विश्वास था कि आज क्रोध में उन्होंने चाहे कितनी ही निष्ठुरता दिखाई हो लेकिन दो-चार दिन के बाद जब उसका क्रोध शान्त हो जाए और मैं जाकर उनके सामने रोने लगूँ, तो उन्हें अवश्य दया आ जाएगी। बचपन की मित्रता हृदय से निकल नहीं सकती, लेकिन मैं इतना आत्मगौरव-शून्य न था और न हो सकता था।

मैं दूसरे दिन एक सस्ते होटल में चला गया। यहाँ 12 रुपए में ही प्रबन्ध हो गया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था, अब छटाँक-भर चनों पर बसर होने लगी। 12 रुपए तो यों बचें। पान-सिगरेट आदि मद में 3 रुपए और कम किए और महीने में साफ 15 रुपए बचा लिए। यह विकट समस्या थी, इन्द्रियों का निर्दय दमन ही नहीं, पूरा संन्यास था। पर जब मैंने ये 15 रुपए ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रक्खे, तो ऐसा जान पड़ा, मानो मेरा मस्तक ऊँचा हो गया। ऐसे गौरव-पूर्ण आनन्द का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ।

दानू बाबू ने सहृदयता के स्वर में कहा — बचाए या किसी से माँग लाए?

'बचाया है भई, माँगता किससे?'

'कोई तकलीफ तो नहीं हुई?'

'कुछ नहीं, अगर कुछ तकलीफ हुई भी, तो इस वक्त भूल गया।'

'सुबह को तो अब भी खाली रहते हो? आमदनी कुछ और बढ़ाने की फिक्र क्यों नहीं करते?'

'चाहता तो हूँ कोई काम मिल जाए, तो कर लूँ पर मिलता ही नहीं।'

यहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय में एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अब तक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था। जब उनकी ओर ध्यान भी न जाता था, जिस पान की दुकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था, उसके सामने से मैं सिर उठाए निकल जाता था, मानो अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमें से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल, बस, इसके सिवा मेरे लिए और सभी चीजें त्याज्य थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन से विशेष रुचि हो गई थी। मैं जिन्दगी से बेजार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे आभास होता था कि मैं जीवन में कुछ कर सकता हूँ।

एक मित्र ने एक दिन मुझसे पान खाने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर मैंने न खाया। तब वह बोले — तुमने तो यार, पान छोड़कर कमाल कर दिया, मैं अनुमान ही न कर सकता था कि तुम पान छोड़ दोगे। हमें भी कोई तरकीब बताओ।

मैंने मुस्कराकर कहा — इसकी तरकीब यही है कि पान न खाओ।

'जी तो नहीं मानता।'

'आप ही मान जाएगा।'

'बिना सिगरेट पिए तो मेरा पेट फूलने लगता है।'

'फूलने दो आप चिपक जाएगा।'

'अच्छा तो लो, आज से मैंने पान और सिगरेट छोड़ा।'

'तुम क्या छोड़ोगे? तुम नहीं छोड़ सकते।'

मैंने उनको उत्तेजित करने के लिए यह शंका की थी। इसका यथेष्ठ प्रभाव पड़ा, वह दृढ़ता से बोले — तुम यदि छोड़ सकते हो, तो मैं भी छोड़ सकता हूँ। मैं तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ।

'अच्छी बात है, देखूँगा।'

'देख लेना।'

मैंने इन्हें आज तक पान या सिगरेट का सेवन करते नहीं देखा।

पाँचवें महीने में जब मैं रुपए लेकर दानू बाबू के पास गया, तो सच मानो, वह टूटकर मेरे गले से लिपट गए। फिर बोले — हो यार, तुम धुन के पक्के, मगर सच कहना मुझे मन में कोसते तो नहीं।

मैंने हँसकर कहा — अब तो नहीं कोसता, मगर पहले जरूर कोसता था।

'अब क्यों इतनी कृपा करने लगे?'

'इसलिए कि मुझ-जैसी स्थिति के आदमी तो जिस तरह रहना चाहिए, वह तुमने सिखा दिया। मेरी आमदनी में आधा मेरी स्त्री का है, पर अब तक मैं उसका हिस्सा भी हड़प कर जाता था। अब मैं इस योग्य हो रहा हूँ कि उसका हिस्सा उसे दे दूँ, या स्त्री को अपने साथ रक्खूँ। तुमने मुझे बहुत अच्छा पाठ दे दिया।'

'अगर तुम्हारी आमदनी कुछ बढ़ जाए, तो फिर उसी तरह रहने लगोगे?'

'नहीं, कदापि नहीं, अपनी स्त्री को बुला लूँगा।'

'अच्छा, तो खुश हो जाओ, तुम्हारी तरक्की हो गई है।'

मैंने अविश्वास के भाव से कहा — मेरी तरक्की अभी क्या होगी, अभी मुझसे पहले के लोग पड़े नाक रगड़ रहे है।

'कहता हूँ मान जाओ, मुझसे तुम्हारे बड़े बाबू कहते थे।'

मुझे अब भी विश्वास न आया, पर मारे कुतूहल के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उधर दानू बाबू अपने घर गए, इधर मैं बड़े बाबू के घर पहुँचा। बड़े बाबू बैठे अपनी बकरी दुह रहे थे, मुझे देखा, तो

झेंपते हुए बोले — क्या करें भाई, आज ग्वाला नहीं आया इसलिए यह बला गले पड़ी, चलो, बैठो।

मैं कमरे में गया, बाबूजी भी कोई आधा घंटे के बाद हाथ में गुडगुड़ी लिए निकले और इधर-उधर की बातें करने लगे। आखिर मुझसे न रहा गया फिर बोला — मैंने सुना है मेरी कुछ तरक्की हो गई है।

बड़े बाबू ने प्रसन्नमुख होकर कहा — हाँ भई, हुई तो है, तुमसे दानू बाबू ने कहा होगा?

'जी हाँ, अभी कहा है, मगर मेरा नम्बर तो अभी नहीं आया, तरक्की कैसे हुई?'

'यह न पूछो, अफसरों की निगाह चाहिए, नम्बर-नम्बर कौन देखता है।'

'लेकिन आखिर मुझे किसकी जगह मिली? अभी कोई तरक्की का मौका भी तो नहीं।'

'कह दिया, भई, अफसर लोग सब कुछ कर सकते है, साहब एक दूसरी मद से तुम्हें 15 रुपया महीना देना चाहते है, दानू बाबू ने शायद साहब से कहा-सुना होगा।'

'किसी दूसरे का हक मारकर तो मुझे ये रुपए नहीं दिए जा रहे है?'

'नहीं, यह बात नहीं, मैं खुद इसे न मंजूर करता।'

महीना गुजरा। मुझे 45 रुपए मिले, मगर रजिस्टर में मेरे नाम के सामने वही 30 रुपए लिखे थे। बड़े बाबू ने अकेले में बुलाकर मुझे रुपए दिए और ताकीद कर दी कि किसी से कहना मत, नहीं तो दफ्तर में बावेला मच जाएगा, साहब का हुक्म है कि यह बात गुप्त रखी जाए।

मुझे सन्तोष हो गया कि किसी सहकारी का गला घोंटकर मुझे रुपए नहीं दिए गए। खुश-खुश रुपए लिए हुए सीधा दानू बाबू के पास पहुँचा। वह मेरी बाछें खिला देखकर बोले — मार लाए तरक्की, क्यों?

'हाँ यार, रुपए तो 15 मिले, लेकिन तरक्की नहीं हुई, किसी और मद से दिए गए है।'

'तुम्हें रुपए से मतलब है, चाहे किसी मद से मिलें, तो अब बीवी को लेने जाओगे?'

'नहीं अभी नहीं।'

'तुमने तो कहा था, आमदनी बढ़ जाएगी, तो बीवी को लाऊँगा, अब क्या हो गया?'

'मैं सोचता हूँ, पहले आपके रुपए कटा दूँ, अब से 30 रुपए महीने देता जाऊँगा, साल-भर में पूरे रुपए कट जाएँगे, तब मुक्त हो जाऊँगा।'

दानू बाबू की आँखें सजल हो गई, मुझे आज अनुभव हुआ कि उनकी इस कठोर आकृति के नीचे कितना कोमल हृदय छिपा हुआ था। बोले — नहीं, अबकी मुझे कुछ मत दो, रेल का खर्च पड़ेगा, वह कहाँ से दोगे? जाकर अपनी स्त्री को ले आओ।

मैंने दुविधा में पड़कर कहा — यार, अभी न मजबूर करो, शायद किश्त न अदा कर सकूँ तो?

दानू बाबू ने मेरा हाथ पकड़कर कहा — तो कोई हरज नहीं, सच्ची बात यह है कि मैं अपनी घड़ी के दाम पा चुका, मैंने तो उसके 25 रुपए ही दिए थे, उस पर तीन साल काम ले चुका था, मुझे तुमसे कुछ न लेना चाहिए था, अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित हूँ।

मेरी आँखें भी भर आई, जी में तो आई, घड़ी का सारा रहस्य कह सुनाऊँ। लेकिन जब्त कर गया, गदगद कंठ से बोला — नहीं, दानू बाबू, मुझे रुपए अदा कर लेने दो, आखिर तुम उस घड़ी को

चार-पाँच सौ में बेच सकते थे या नहीं? मेरे कारण इतना नुकसान क्यों हो?

'भई, अब घड़ी की चर्चा न करो, यह बताओ कि कब जाओगे?'

'अरे, तो पहले रहने का तो ठीक कर लूँ।'

'तुम जाओ, मैं मकान का प्रबन्ध कर रखूँगा।'

'मगर मैं 5 रुपए से ज्यादा किराया न दे सकूँगा। शहर से जरा हटकर मकान सस्ता मिल जाएगा।'

'अच्छी बात है, मैं सब ठीक कर रक्खूँगा, किस गाड़ी से लौटोगे?'

'यह अभी क्या मालूम? बिदाई का मामला है, साइत बने या न बने या लोग एक-आध दिन रोक ही ले, तुम इस झंझट में क्यों पड़ोगे? मैं दो-चार दिन में मकान ठीक करके चला जाऊँगा।'

'जी नहीं, आप आज जाइए और कल आइए।'

'तो उतरूँगा कहाँ?'

'मैं मकान ठीक कर लूँगा, मेरा आदमी तुम्हें स्टेशन पर मिलेगा।' मैंने बहुत हील-हवाले किए, पर उस भले आदमी ने एक न सुनी, उसी दिन मुझे ससुराल जाना पड़ा।

5

मुझे ससुराल में तीन दिन लग गए। चौथे दिन पत्नी के साथ चला, जी में डर रहा था कि कहीं दानू ने कोई आदमी ने भेजा हो, तो कहाँ उतरूँगा, कहाँ जाऊँगा। आज चौथा दिन है, उन्हें इतनी क्या गरज पड़ी है कि बार-बार स्टेशन पर अपना आदमी भेजें। गाड़ी में सवार होते समय इरादा हुआ कि दानू को तार से अपने आने की सूचना दे दूँ, लेकिन 11 रुपए का खर्च था, इससे हिचक गया।

मगर जब गाड़ी बनारस पहुँची, तो देखता हूँ कि दानू बाबू स्वयं हैट-कैट लगाए, दो कुलियों के साथ खड़े है। मुझे देखते ही दौड़ और बोले — ससुराल की रोटियाँ बड़ी प्यारी लग रही थीं क्या? तीन दिन से रोज दौड़ रहा हूँ, जुर्माना देना पड़ेगा।

देवीजी सिर से पाँव तक चादर ओढ़े गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर खड़ी हो गई थी। मैं चाहता था, जल्दी से गाड़ी में बैठकर यहाँ से चल दूँ। घड़ी उनकी कलाई पर बँधी हुई थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं उन्होंने हाथ बाहर निकाला और दानू की निगाह घड़ी पर पड़ गई, तो बड़ी झेंप होगी। मगर तकदीर का लिखा कौन टाल सकता है?

मैं देवीजी से दानू बाबू की सज्जनता का खूब बखान कर चुका था। अब जो दानू बाबू उसके समीप आकर संदूक उठवाने लगे, तो देवीजी ने दोनों हाथों से उन्हें नमस्कार किया। दानू ने उनकी कलाई पर घड़ी देख ली। उस वक्त तो क्या बोलते, लेकिन ज्योंही देवीजी को एक तांगे पर बिठाकर हम दोनों दूसरे तांगे पर बैठकर चले, दानू ने मुस्कराकर कहा — क्या घड़ी देवीजी ने छिपा दी थी?

मैंने शर्माते हुए कहा — नहीं यार, मैं ही दे आया था। दे क्या आया था, उन्होंने मुझसे छीन ली थी।

दानू ने तिरस्कार करके कहा — तो मुझसे झूठ क्यों बोले?

'फिर क्या करता'

'अगर तुमने साफ कर दिया होता, तो शायद मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि तुमसे उसका तावान वसूल करता। लेकिन खैर, ईश्वर का कोई काम मसलहत से खाली नहीं होता, तुम्हें कुछ दिनों ऐसी तपस्या की जरूरत थी।'

'मकान कहाँ ठीक किया है?'

'वहीं तो चल रहा हूँ।'

'क्या तुम्हारे घर के पास ही है? तब तो बड़ा मजा रहेगा।'

'हाँ, मेरे घर से मिला हुआ है मगर बहुत सस्ता।'

दानू बाबू के द्वार पर दोनों तांगे रुके। आदमियों ने दौड़कर असबाब उतारना शुरू किया। एक क्षण में दानू बाबू की देवीजी घर से निकलकर तांगे के पास आई और पत्नी जी को साथ ले गई, मालूम होता था, यह सारी बातें पहले ही से सधी-बधी थीं।

मैंने कहा — तो यह कहो कि हम तुम्हारे बिन बुलाए मेहमान है।

'अब तुम अपनी मर्जी का कोई मकान ढूँढ़ लेना, दस-पाँच दिन तो यहाँ रहो।'

लेकिन मुझे यह जबरदस्ती की मेहमानी अच्छी न लगी। मैंने तीसरे दिन एक मकान तलाश कर लिया। बिदा होते समय दानू ने 100 रुपए लाकर मेरे सामने रख दिए और कहा — यह तुम्हारी अमानत है, लेते जाओ।

मैंने विस्मय से कहा — मेरी अमानत कैसी?

दानू ने कहा — 15 रुपए के हिसाब से 6 महीने के 90 रुपए हुए और 10 रुपए सूद।

मुझे दानू की यह सज्जनता बोझ के समान लगी। बोला — तो तुम घड़ी ले लेना चाहते हो?

'फिर घड़ी का जिक्र किया तुमने, उसका नाम मत लो।'

'तुम मुझे चारों ओर से दबाना चाहते हो।'

'हाँ, दबाना चाहता हूँ, तुम्हें आदमी बना देना चाहता हूँ, नहीं तो उम्रभर तुम यहाँ होटल की रोटियाँ तोड़ते और देवीजी वहाँ बैठी तुम्हारे नाम को रोती, कैसी शिक्षा दी है, इसका अहसान तो न मानोगे?'

'यों कहो, तो आप मेरे गुरू बने हुए थे?'

'जी हाँ, ऐसे गुरू की तुम्हें जरूरत थी।'

मुझे विवश होकर घड़ी का जिक्र करना पड़ा। डरते-डरते बोला — तो भई, घड़ी...।

'फिर घड़ी का नाम लिया।'

'फिर तुमने घड़ी का नाम लिया।'

'तुम खुद मुझे मजबूर कर रहे हो।'

'यह मेरी ओर से भाभीजी को उपहार है।'

'और ये 100 रुपए मुझे उपहार मिले है।'

'जी हाँ, यह इम्तहान में पास होने का ईनाम है।'

'तब तो डबल उपहार मिला।'

'तुम्हारी तकदीर ही अच्छी है, क्या करूँ?'

मैं रुपए तो न लेता, पर दानू ने मेरी जेब में डाल दिए, लेने पड़े। इन्हें मैंने सेविंग बैंक में जमा कर दिया। 10 रुपए महीने पर मकान लिया था, 30 रुपए खर्च करता था, 5 रुपए बचने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि दानू बाबू ने मुझसे 6 महीने तक यह तपस्या न कराई होती, तो सचमुच मैं न-जाने कितने दिनों तक देवीजी को मैके में पड़ा रहने देता। उसी तपस्या की बरकत थी कि आराम से जिन्दगी कट रही थी। ऊपर से कुछ-न-कुछ जमा होता जाता था, मगर घड़ी का किस्सा मैंने आज तक देवीजी से नहीं कहा। पाँचवें महीने में मेरी तरक्की का नम्बर आया। तरक्की का परवाना मिला। मैं सोच रहा था कि देखूँ, अबकी दूसरी मद वाले 15 रुपए मिलते है या नही। पहली तारीख को वेतन मिला, वही 45 रुपए। मैं एक क्षण के लिए खड़ा रहा कि शायद बड़े बाबू दूसरी मद वाले रुपए भी दें। जब और लोग अपने-अपने वेतन लेकर चले गए, तो बड़े बाबू बोले — क्या अभी लालच घेरे हुए है? अब और कुछ न मिलेगा।

मैंने लज्जित होकर कहा — जी नहीं, इस ख्याल से नहीं खड़ा हूँ। साहब ने इतने दिनों तक परवरिश की, यह क्या थोड़ा है, मगर कम-से-कम इतना तो बता दीजिए कि किस मद से वह रुपया दिया जाता था?

बड़े बाबू — पूछकर क्या करोंगे?

'कुछ नहीं, यों ही जानने को जी चाहता है?'

'जाकर दानू बाबू से पूछो।'

'दफ्तर का हाल दानू बाबू क्या जान सकते है?'

'नहीं, वह हाल वही जानते है।'

मैंने बाहर आकर एक तांगा लिया और दानू बाबू के पास पहुँचा, और पूरे दस महीने के बाद मैंने तांगा किराए पर किया था। इस रहस्य को जानने के लिए मेरा दम घुट रहा था। दिल में तय कर लिया था कि अगर बच्चा ने यह षडयंत्र रचा होगा, तो बुरी तरह खबर लूँगा। वह अपने बगीचे में टहल रहे थे। मुझे देखा तो घबराकर बोले — कुशल तो है, कहाँ से भागे आते हो?

मैंने कृत्रिम क्रोध दिखाकर कहा — मेरे यहाँ तो कुशल है, लेकिन तुम्हारी कुशल नहीं।

'क्यों भई, क्या अपराध हुआ है?'

'आप बतलाइए कि पाँच महीने तक मुझे जो 15 रुपए वेतन के ऊपर से मिलते थे, वह कहाँ से आते थे?'

'तुमने बड़े बाबू से नहीं पूछा? तुम्हारे दफ्तर का हाल मैं क्या जानूँ?'

मैं आज दानू से बेतकल्लुफ हो गया था फिर बोला — देखो दानू, मुझसे उड़ोगे, तो अच्छा न होगा, क्यों नाहक मेरे हाथों पिटोगे?

'पीटना चाहो, तो पीट लो भई। सैंकड़ों ही बार पीटा है, एक बार और सही। बार पर से जो ढकेल दिया था, उसका निशान बना हुआ है, यह देखो।'

'तुम टाल रहे हो और मेरा दम घुट रहा है, सच बताओ, क्या बात थी?'

'बात-वात कुछ नहीं थी, मैं जानता था कि कितनी भी किफायत करोगे, 30 रुपए में तुम्हारा गुजर होगा, और न सही, दोनों वक्त रोटियाँ तो हो, बस इतनी बात है, अब इसके लिए जो चाहो दंड दो।'

स्मृति का पुजारी

महाशय होरीलाल की पत्नी का जब से देहान्त हुआ वह एक तरह से दुनिया से विरक्त हो गये हैं। यों रोज कचहरी जाते हैं अब भी उनकी वकालत बुरी नहीं है। मित्रों से राह-रस्म भी रखते हैं, मेलों-तमाशों में भी जाते हैं; पर इसलिए कि वे भी मनुष्य हैं और मनुष्य एक सामाजिक जीव है। जब उनकी स्त्री जीवित थी, तब कुछ और ही बात थी। किसी-न-किसी बहाने से आये-दिन मित्रों की दावतें होती रहती थीं। कभी गार्डन-पार्टी है, कभी संगीत है, कभी जन्माष्टमी है, कभी होली है। मित्रों का सत्कार करने में जैसे उन्हें मजा आता था। लखनऊ से सुफेदे आये हैं। अब, जब तक दोस्तों को खिला न लें, उन्हें चैन नहीं। कोई अच्छी चीज खरीदकर उन्हें यही धुन हो जाती थी कि उसे किसी को भेंट कर दें। जैसे और लोग अपने स्वार्थ के लिए तरह-तरह के प्रपंच रचा करते हैं, वह सेवा के लिए षड्यन्त्र रचते थे। आपसे मामूली जान-पहचान है, लेकिन उनके घर चले जाइए तो चाय और फलों से आपका सत्कार किये बिना न रहेंगे। मित्रों के हित के लिए प्राण देने को तैयार और बड़े ही खुशमिजाज। उनके कहकहे

ग्रामोफोन में भरने लायक होते थे। कोई संतान न थी, लेकिन किसी ने उन्हें दुखी या निराश नहीं देखा। मुहल्ले के सारे बच्चे उनके बच्चे थे। और स्त्री भी उसी रंग में रँगी हुई। आप कितने ही चिंतित हों, उस देवी से मुलाकात होते ही आप फूल की तरह खिल जायँगे। न जाने इतनी लोकोक्तियाँ कहाँ से याद कर ली थीं। बात-बात पर कहावतें कहती थी। और जब किसी को बनाने पर आ जाती, तो रुलाकर छोड़ती थीं। गृह-प्रबन्ध में तो उसका जोड़ न था, दोनों एक-दूसरे के आशिक थे, और उनका प्रेम पौधों के कलम की भाँति दिनों के साथ और भी घनिष्ठ होता जाता था। समय की गति उस पर जैसे आशीर्वाद का काम कर रही थी। कचहरी से छुट्टी पाते ही वह प्रेम का पथिक दीवानों की तरह घर भागता था। आप कितना ही आग्रह करें पर उस वक्त रास्ते में एक मिनट के लिए भी न रुकता था और अगर कभी महाशयजी के आने में देर हो जाती थी तो वह प्रेम-योगिनी छज्जे पर खड़ी होकर उनकी राह देखा करती थी। और पचीस साल के अभिन्न सहचर ने उनकी आत्माओं में इतनी समानता पैदा कर दी थी कि जो बात एक के दिल में आती थी, वही दूसरे के दिल में बोल उठती थी। यह बात नहीं कि उनमें मतभेद न होता हो। बहुत-से विषयों में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था और अपने पक्ष के समर्थन और परपक्ष के खण्डन में

उनमें खूब झाँव-झाँव होती थी। कोई बाहर का आदमी सुने तो समझे कि दोनों लड़ रहे हैं और अब हाथापाई की नौबत आनेवाली है; मगर उनके मुबाहसे मस्तिष्क के होते थे। हृदय दोनों के एक, दोनों सहृदय, दोनों प्रसन्नचित्त, स्पष्ट कहनेवाले, निःस्पृह। मानो देवलोक के निवासी हों; इसलिए पत्नी का देहांत हुआ, तो कई महीने तक हम लोगों को यह अन्देशा रहा कि यह महाशय आत्महत्या न कर बैठें। हम लोग सदैव उनकी दिलजोई करते रहते, कभी एकांत में न बैठने देते। रात को भी कोई-न-कोई उनके साथ लेटता था। ऐसे व्यक्तियों पर दूसरों को दया आती ही है। मित्रों की पत्नियाँ तो इन पर जान देती थीं। इनकी नजरों में वह देवताओं के भी देवता थे। उनकी मिसाल दे-देकर अपने पुरुषों से कहतीं इसे कहते हैं प्रेम! ऐसा पुरुष हो, तो क्यों न स्त्री उसकी गुलामी करे। जब से बीवी मरी है गरीब ने कभी भरपेट भोजन नहीं किया, कभी नींद-भर नहीं सोया। नहीं तो तुम लोग दिल में मनाते रहते हो कि यह मर जाय, तो नया ब्याह रचायें। दिल में खुश होगे कि अच्छा हुआ मर गयी, रोग टला, अब नयी-नवेली स्त्री लायेंगे।

और अब महाशयजी का पैंतालीसवाँ साल था, सुगठित शरीर था, स्वास्थ्य अच्छा, रूपवान्, विनोदशील, सम्पन्न। चाहते तो तुरन्त दूसरा ब्याह कर लेते। उनके हाँ करने की देर थी। गरज के

बावले कन्यावालों ने सन्देश भेजे, मित्रों ने भी उजड़ा घर बसाना चाहा; पर इस स्मृति के पुजारी ने प्रेम के नाम को दाग न लगाया। अब हफ्तों बाल नहीं बनते; कपड़े नहीं बदले जाते। घसियारों-सी सूरत बनी हुई है, कुछ परवाह नहीं। कहाँ तो मुँह-अँधेरे उठते थे और चार मील का चक्कर लगा आते थे, कभी अलसा जाते थे तो देवीजी घुड़कियाँ जमातीं और उन्हें बाहर खदेड़कर द्वार बन्द कर लेतीं। कहाँ अब आठ बजे तक चारपाई पर पड़े करवटें बदल रहे हैं। उठने का जी नहीं चाहता। खिदमतगार ने हुक्का लाकर रख दिया, दो-चार कश लगा लिये। न लाये, तो गम नहीं। चाय आयी पी ली, न आये तो परवाह नहीं। मित्रों ने बहुत गला दबाया, तो सिनेमा देखने चले गये; लेकिन क्या देखा और क्या सुना, इसकी खबर नहीं। कहाँ तो अच्छे-अच्छे सूटों का खब्त था, कोई खुशनुमा डिजाइन का कपड़ा आ जाय, आप एक सूट जरूर बनवायेंगे। वह क्या बनवायेंगे, उनके लिए देवीजी बनवायेंगी। कहाँ अब पुराने-धुराने बदरंग, सिकुड़े-सिकुड़ाये, ढीले-ढाले कपड़े लटकाये चले जा रहे हैं, जो अब दुबलेपन के कारण उतारे-से लगते हैं और जिन्हें अब किसी तरह सूट नहीं कहा, जा सकता। महीनों बाजार जाने की नौबत नहीं आती। अबकी कड़ाके का जाड़ा पड़ा, तो आपने एक रुईदार नीचा लबादा बनवा लिया और खासे भगतजी बन गये। सिर्फ कंटोप की कसर

थी। देवीजी होतीं, तो यह लबादा छीनकर किसी फकीर को दे देतीं; मगर अब कौन देखनेवाला है। किसे परवाह है, वह क्या पहनते हैं और कैसे रहते हैं। 45 की उम्र में जो आदमी 35 का लगता था, वह अब 50 की उम्र में 60 का लगता है, कमर भी झुक गयी है, बाल भी सफेद हो गये हैं, दाँत भी गायब हो गये। जिसने उन्हें तब देखा हो, आज पहचान भी न सके।

मजा यह है कि तब जिन विषयों पर देवीजी से लड़ा करते थे, वही अब उनकी उपासना के अंग बन गये हैं। मालूम नहीं उनके विचारों में क्रांति हो गयी है या मृतात्मा ने उनकी आत्मा में लीन होकर भिन्नताओं को मिटा दिया है। देवीजी को विधवा-विवाह से घृणा थी। महाशयजी इसके पक्के समर्थक थे; लेकिन अब आप भी विधवा-विवाह का विरोध करते हैं। आप पहले पश्चिमी या नयी सभ्यता के भक्त थे और देवीजी का मजाक उड़ाया करते थे। अब इस सभ्यता की उनसे ज्यादा तीव्र आलोचना शायद ही कोई कर सके। इस बार यों ही अँग्रेजों के समय-नियन्त्रण की चर्चा चल गयी। मैंने कहा — इस विषय में हमें अंग्रेजों से सबक लेना चाहिए।' बस, आप तड़पकर उठ बैठे और उन्मत्त स्वर में बोले — कभी नहीं, प्रलय तक नहीं। मैं इस नियन्त्रण को स्वार्थ का स्तम्भ, अहंकार का हिमालय और दुर्बलता का सहारा समझता हूँ। एक व्यक्ति मुसीबत का मारा आपके पास आता है। मालूम

नहीं, कौन-सी जरूरत उसे आपके पास खींच लायी है; लेकिन आप फरमाते हैं मेरे पास समय नहीं। यह उन्हीं लोगों का व्यवहार है, जो धन को मनुष्यता के ऊपर समझते हैं, जिनके लिए जीवन केवल धन है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह कभी इस नीति को पसन्द न करेगा। हमारी सभ्यता धन को इतना ऊँचा स्थान नहीं देती थी। हम अपने द्वार हमेशा खुले रखते थे। जिसे जब जरूरत हो, हमारे पास आये। हम पूर्ण तन्मयता से उसका वृत्तान्त सुनेंगे और उसके हर्ष या शोक में शरीक होंगे। अच्छी सभ्यता है! जिस सभ्यता की स्पिरिट स्वार्थ हो, वह सभ्यता नहीं है; संसार के लिए अभिशाप है, समाज के लिए विपत्ति है।

इस तरह धर्म के विषय में भी दम्पति में काफी वितंडा होता रहता था। देवीजी हिन्दू धर्म की अनुगामिनी थीं, आप इस्लामी सिद्धान्तों के कायल थे; मगर अब आप भी पक्के हिन्दू हैं, बल्कि यों कहिए कि आप मानवधर्मी हो गये हैं। एक दिन बोले — मेरी कसौटी तो है मानवता! जिस धर्म में मानवता को प्रधानता दी गयी है, बस, उसी धर्म का मैं दास हूँ। कोई देवता हो या नबी या पैगम्बर, अगर वह मानवता के विरुद्ध कुछ कहता है, तो मेरा उसे दूर से सलाम है। इस्लाम का मैं इसलिए कायल था कि वह मनुष्यमात्र को एक समझता है, ऊँच-नीच का वहाँ कोई स्थान नहीं है; लेकिन अब मालूम हुआ कि यह समता और भाईपन

व्यापक नहीं, केवल इस्लाम के दायरे तक परिमित है। दूसरे शब्दों में, अन्य धर्मों की भाँति यह भी गुटबन्दी है और इसके सिद्धान्त केवल उस गुट या समूह को सबल और संगठित बनाने के लिए रचे गये हैं। और जब मैं देखता हूँ कि यहाँ भी जानवरों की कुरबानी शरीयत में दाखिल है और हरेक मुसलमान के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेड़, बकरी, गाय, या ऊँट की कुरबानी फर्ज बतायी गयी है, तो मुझे उसके अपौरुषेय होने में सन्देह होने लगता है। हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय पशु-बलि को अपना धर्म समझता है। यहूदियों, ईसाइयों और अन्य मतों ने भी कुरबानी की बड़ी महिमा गायी है। इसी तरह एक समय नर-बलि का भी रिवाज था। आज भी कहीं-कहीं उस सम्प्रदाय के नामलेवा मौजूद हैं, मगर क्या सरकार ने नर-बलि को अपराध नहीं ठहराया और ऐसे मजहबी दीवानों को फाँसी नहीं दी? अपने स्वाद के लिए आप भेड़ को जबह कीजिएगा, या गाय, ऊँट या घोड़े को? मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन धर्म के नाम पर कुरबानी मेरी समझ में नहीं आती। अगर आज इन जानवरों का राज हो जाय, तो कहिए, वे इन कुरबानियों के जवाब में हमें और आपको कुरबान कर दें या नहीं? मगर हम जानते हैं, जानवरों में कभी यह शक्ति न आयेगी, इसलिए हम बेधड़क कुरबानियाँ करते हैं और समझते हैं, हम बड़े धर्मात्मा हैं। स्वार्थ और लोभ के लिए हम चौबीसों घंटे

अधर्म करते हैं। कोई गम नहीं, लेकिन कुरबानी का पुन लूटे बगैर हमसे नहीं रहा जाता। तो जनाब, मैं ऐसे रक्तशोषक धर्मों का भक्त नहीं। यहाँ तो मानवता के पुजारी हैं, चाहे इस्लाम में हो या हिन्दू-धर्म में या बौद्ध में या ईसाइयत में; अन्यथा मैं विधर्मी ही भला। मुझे किसी मनुष्य से केवल इसलिए द्वेष तो नहीं है कि यह मेरा सहधर्मी नहीं। मैं किसी का खून तो नहीं बहाता, इसलिए कि मुझे पुन होगा।

इस तरह के कितने ही परिवर्तन महाशयजी के विचारों में आ गये। और महाशयजी के पास सम्भाषण का केवल एक ही विषय है, जिससे वह कभी नहीं थकते और वह है उस स्वर्गवासिनी का गुणगान। कोई मेहमान आ जाय, आप बावले-से इधर-उधर दौड़ रहे हैं, कुछ नहीं सूझता, कैसे उसकी खातिर करें। क्षमा-याचना के लिए शब्द ढूँढ़ते फिरते हैं 'भाईजान, मैं आपकी क्या खातिर करूँ, जो आपकी सच्ची खातिर करता, वह नहीं रहा। इस वक्त तक आपके सामने चाय और टोस्ट और बादाम का हलवा आ जाता। सन्तरे और सेब छिले-छिलाये तश्तरियों में रख दिये जाते। मैं तो निरा उल्लू हूँ, भाईसाहब, बिलकुल काठ का उल्लू। मुझमें जो कुछ अच्छा था, वह सब उनका प्रसाद था। उसी की बुद्धि से मैं बुद्धिमान् था, उसी की सज्जनता से सज्जन, उसी की उदारता से उदार। अब तो निरा मिट्टी का पुतला हूँ भाई साहब, बिलकुल

मुर्दा। मैं उस देवी के योग्य न था। न-जाने किन शुभ-कर्मों के फल से वह मुझे मिली थी। आइए, आपको उसकी तसवीर दिखाऊँ। मालूम होता है, अभी-अभी उठकर चली गयी है। भाई साहब, आपसे साफ कहता हूँ, मैंने ऐसी सुन्दरी कभी नहीं देखी। उसके रूप में केवल रूप की गरिमा ही न थी, रूप का माधुर्य भी था और मादकता भी, एक-एक अंग सहृचे में ढला था। साहब! आप उसे देखकर कवियों के नख-सिख को लात मारते।'

आप उत्सुक नेत्रों से वह तसवीर देखते हैं। आपको उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं मिलता। स्थूल शरीर है, चौड़ा-सा मुँह, छोटी-छोटी आँखें, रंग-ढंग से दहकानीपन झलक रहा है। उस तसवीर की खूबियाँ कुछ इस अनुराग और इस आडम्बर से बयान किये जाते हैं कि आपको सचमुच इस चित्र में सौन्दर्य का आभास होने लगता है। इस गुणानुवाद में कितना समय जाता है, वही महाशयजी के जीवन के आनन्द की घड़ियाँ हैं। इतनी ही देर वह जीवित रहते हैं। शेष जीवन निरानन्द है, निस्पन्द है। पहले कुछ दिनों तक तो वह हमारे साथ हवा खाने जाते रहे वह क्या जाते रहे, मैं जबरदस्ती ठेल-ठालकर ले जाता रहा, लेकिन रोज आधे घण्टे तक उनका इन्तजार करना पड़ता था। किसी तरह घर से निकलते भी तो जनवासे वाली चाल से चलते और आधा मील में ही हिम्मत हार जाते और लौट चलने का तकाजा करने

लगते। आखिर मैंने उन्हें साथ ले जाना छोड़ दिया। और तबसे उनकी चहलकदमी चालीस कदम की रह गयी है। सैर क्या है बेगार है और वह भी इसलिए कि देवीजी के सामने उनका यह नियम था।

एक दिन उनके द्वार के सामने से निकला, तो देखा कि ऊपर की खिड़कियाँ, जो बरसों से बन्द पड़ी थीं, खुली हुई हैं! अचरज हुआ। द्वार पर नौकर बैठा नारियल पी रहा था। उससे पूछा — तो मालूम हुआ, आप घूमने गये हैं। मुझे मीठा विस्मय हुआ। आज यह नई बात क्यों! इतने सबेरे तो यह कभी नहीं उठते। जिस तरफ वह गये थे, उधर ही मैंने भी कदम बढ़ाये। इधर एक हफ्ते के लिए मैं एक नेवते में चला गया था। इस बीच यह क्या कायापलट हो गयी! जरूर कोई-न-कोई रहस्य है। और भला आदमी निकल कितनी दूर गया? दो मील तक कहीं पता नहीं! मैं निराश हो गया, मगर यह महाशय रास्ते में कहाँ रह गये, यहाँ तो किसी से उनकी मुलाकात भी नहीं है, जहाँ ठहर गये हों? कुछ चिन्ता भी हो रही थी। कहीं कुएँ में तो नहीं कूद पड़े! मैं लौटने ही वाला था कि आप लौटते हुए नजर आये। चित्त शान्त हुआ। आज तो कैड़ा ही और था। बाल नये फैशन से कटे हुए, मूँछें साफ, दाढ़ी चिकनी, चेहरा खिला हुआ, चाल में चपलता, सूट पुराना, पर ब्रश किया हुआ और शायद इस्तरी भी की हुई, बूट पर ताजा

पालिश। मुस्कराते चले आते थे। मुझे देखते ही लपककर हाथ मिलाया और बोले — आज कई दिन के बाद मिले! कहीं गये थे क्या?

मैंने अपनी गैरहाजिरी का कारण बताकर कहा — मैं डरता हूँ, आज तुम्हें नजर न लग जाय। अब मैं नित्य तुम्हारे साथ घूमने आया करूँगा। आज बहुत दिनों के बाद तुमने आदमी का चोला धारण किया है।

झेंपकर बोले — नहीं भई, मुझे अकेला ही रहने दो! तुम लगोगे दौड़ने और ऊपर से घुड़कियाँ जमाओगे। मैं अपने हौले-हौले चला जाता हूँ। जब थक जाता हूँ, कहीं बैठ लेता हूँ। मेरा-तुम्हारा क्या साथ?

'यह दशा तो तुम्हारी एक सप्ताह पहले न थी। आज तो तुम बिलकुल अप-टु-डेट हो। इस चाल से तो शायद मैं तुमसे पीछे ही रहूँगा।'

'तुम तो बनाने लगे।'

'मैं कल से तुम्हारे साथ घूमने आऊँगा। मेरा इन्तजार करना।'

'नहीं भई, मुझे दिक न करो। मैं आजकल बहुत सबेरे उठ जाता हूँ। रात को नींद नहीं आती। सोचता हूँ, टहल ही आऊँ। तुम मेरे साथ क्यों परेशान होगे?'

मेरा विस्मय बढ़ता जा रहा था। यह महाशय हमेशा मेरे पैरों पड़ते रहते थे कि मुझे भी साथ ले लिया करो। जब मैंने इनकी मन्थरता से हारकर इनका साथ छोड़ दिया, तब इन्हें बड़ा दुछ्ख हुआ। दो-एक बार मुझसे शिकायत भी की 'हाँ भई, अब क्यों साथ दोगे? अभागों का साथ किसने दिया है, या तुम कोई नयी रीति निकालोगे? जमाने का दस्तूर है, जो लँगड़ाता हो उसे ढकेल दो, जो बीमार हो, उसे जहर दे दो' और वही आदमी आज मुझसे पीछा छुड़ा रहा है? यह क्या रहस्य है? यह चपलता, प्रसन्नता और सजीवता कहाँ से आ गयी? कहीं आपने बन्दर की गिल्टी तो नहीं लगवा ली! यह नया सिविल सर्जन गिल्टी-आरोपण-कला में सिद्धहस्त है। मुमकिन है, तुम्हें किसी ने सुझा दिया हो और आपने हजार-पाँच सौ खर्च करके गिल्टी बदलवा ली हो। इस पहेली को बूझे बगैर चैन कहाँ। उनके साथ ही लौट पड़ा।

दो-चार कदम चलकर मैंने पूछा — सच बताओ, भाईजान! गिल्टी-विल्टी तो नहीं लगवा ली? '

उन्होंने प्रश्न की आँखों से देखा — क़ैसी गिल्टी? मैं नहीं समझा।

'मुझे सन्देह हो रहा है कि तुमने बन्दर की गिल्टियाँ लगवा ली हैं।'

'अरे यार, क्यों कोसते हो? गिल्टियाँ किसलिए लगवाता? मुझे तो इसका कभी खयाल भी नहीं आया।'

'तो क्या कोई बिजली का यन्त्र मँगवा लिया है?'

'तुम आज मेरे पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हो? विधवा भी तो कभी सिंगार कर लेती है? जी ही तो है! एक दिन मुझे अपने आलस्य और बेदिली पर खेद हुआ। मैंने सोचा, जब संसार में रहना है, तो जिंदों की तरह क्यों न रहूँ। मुर्दों की तरह जीने से क्या फायदा। बस और न कोई बात है, न रहस्य।'

मुझे इस व्याख्या से सन्तोष न हुआ। दूसरे दिन जरा और सबेरे आकर मुंशीजी के द्वार पर आवाज दी; लेकिन आप आज भी निकल चुके थे। मैं उनके पीछे भागा। जिद पड़ गयी कि इसे अकेले न जाने दूँगा। देखूँ, कब तक मुझसे भागता है। कोई रहस्य है अवश्य। अच्छा बचा, आधी रात को आकर बिस्तर से न उठाऊँ तो सही। दौड़ तो न सका; लेकिन जितना तेज चल सकता था, चला। एक मील के बाद आप नजर आये। बगटुट

भागे चले जा रहे थे। अब मैं बार-बार पुकार रहा हूँ — हजरत, जरा ठहर जाइए, मेरी साँस फूल रही है; मगर आप हैं कि सुनते ही नहीं। आखिर जब मैंने अपने सिर की कसम दिलायी, तब जाकर आप रुके। मैं झपाटे से पहुँचा, तो तिनककर बोले — मैंने तुमसे कह दिया था, मेरे घर मत आना, फिर क्यों आये और क्यों मेरे पीछे पड़े? मुझे आप धीरे-धीरे घूमने दो। तुम अपना रास्ता लो।

मैंने उनका हाथ पकड़कर जोर से झटका दिया और बोला — देखो, होरीलाल, मुझसे उड़ो नहीं, वरना मुझे जानते हो, कितना बेमुरौवत आदमी हूँ। तुम यह धीरे-धीरे टहल रहे हो या डबल मार्च कर रहे हो! मेरी पिंडलियों में दर्द होने लगा और पसलियाँ दुख रही हैं। डाक का हरकारा भी तो इस चाल से नहीं दौड़ता। उस पर गजब यह कि तुम थके नहीं हो, अब भी उसी दम-खम के साथ चले जा रहे हो। अब तो तुम डण्डे लेकर भगाओ, तो भी तुम्हारा दामन न छोड़ूँ। तुम्हारे साथ दो मील भी चलूँगा, तो अच्छी-खासी कसरत हो जायगी, मगर अब साफ-साफ बतलाओ, बात क्या है? तुममें यह जवानी कहाँ से आ गयी? अगर किसी अकसीर का सेवन कर रहे हो, तो मुझे भी दो। कम-से-कम उसे मँगाने का पता बता दो, मैं मँगवा लूँगा; अगर किसी दुआ-ताबीज की करामात है, तो मुझे भी उस पीर के पास ले चलो।

मुस्कराकर बोले — तुम तो पागल हो, झूठ-मूठ मुझे दिक कर रहे हो। बूढ़े हो गये, मगर लड़कपन न गया। क्या तुम चाहते हो कि मैं हमेशा उसी तरह मुर्दा पड़ा रहूँ। इतना भी तुमसे नहीं देखा जाता! तब तो तुम्हारे मिजाज ही न मिलते थे। कितनी चिरौरी की कि भाईजान, मुझ भकुवे को भी साथ ले लिया करो। मगर आप नखरे दिखाने लगे। अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो? यह समझ लो, जो अपनी मदद आप करता है, उसकी मदद परमात्मा भी करते हैं। मित्रों और बन्धुओं की मुरौवत देख ली! अब अपने बूते पर चलूँगा।

वह इसी तरह मुझे कोसते जा रहे थे और मैं उन्हें छेड़-छेड़कर और भी उत्तेजित कर रहा था कि एकाएक उन्होंने उँगली मुँह पर रखकर मुझे चुप रहने का इशारा किया। और जरा कद और सीधा करके और चेहरे पर प्रसन्नता और पुरुषार्थ का रंग भर मस्तानी चाल से चलने लगे। मेरी समझ में जरा भी न आया, यह संकेत और बहुरूप किसलिए? वहाँ तो दूसरा कोई था भी नहीं। हाँ, सामने से एक स्त्री चली आ रही थी; मगर उसके सामने इस पर्देदार की क्या जरूरत? मैंने तो उसे कभी देखा भी न था। आसमानी रंग की रेशमी साड़ी, जिस पर पीला लैस टँका था, उस पर खूब खिल रही थी। रूपवती कदापि न थी, मगर रूप से ज्यादा मोहक थी उसकी सरलता और प्रसन्नता। एक बहुत ही

मामूली शक्ल-सूरत की औरत इतनी नयनाभिराम हो सकती है, यह मैं न समझ सकता था।

उसने होरीलाल के बराबर आकर नमस्कार किया। होरीलाल ने जवाब में सिर तो झुका दिया; मगर बिना कुछ बोले आगे बढ़ना चाहते थे कि उसने कोयल के स्वर में कहा — क्या अब लौटिएगा नहीं? आप अपनी सीमा से आगे बढ़े जा रहे हैं। और हाँ, आज तो आपने मुझे देवीजी की तसवीर देने का वादा किया था। शायद भूल गये, आपके साथ चलूँ?'

महाशयजी कुछ ऐसे बौखलाये हुए थे, कि मामूली शिष्टाचार भी न कर सके। यों वह बड़े ही भद्र पुरुष हैं और शिष्टाचार में निपुण; लेकिन इस वक्त जैसे उनके हाथ-पाँव फूले हुए थे। एक कदम और आगे बढ़कर बोले — आप क्षमा कीजिए। मैं एक काम से जा रहा हूँ।

महिला ने कुछ चिढ़ाकर कहा — आप तो जैसे भागे जा रहे हैं। मुझे तसवीर दीजिएगा या नहीं?

महाशयजी ने मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा — तलाश करूँगा।

सुन्दरी ने शिकायत के स्वर में कहा — आपने तो फरमाया था कि वह हमेशा आपकी मेज पर रहती है। और अब आप कहते

हैं तलाश करूँगा। आपकी तबीयत तो अच्छी है? जब से आपने उनका चरित्र सुनाया है, मैं उनके दर्शनों के लिए व्याकुल हो रही हूँ। अगर आप यों न देंगे, मैं आपकी मेज पर से उठा लाऊँगी। (मेरी ओर देखकर) आप मेरी मदद कीजिएगा महाशय। यद्यपि मैं जानती हूँ, आप इनके मित्र हैं और इनके साथ दगा न करेंगे। आपको ताज्जुब हो रहा होगा, यह कौन औरत महाशयजी से इतनी निस्संकोच होकर बातें कर रही है। इनसे पहली बार मेरा परिचय सब्जी मंडी में हुआ था। मैं शाक-भाजी खरीदने गयी हुई थी। अपनी भाजी मैं खुद लाती हूँ, जिस चीज पर जीवन का आधार है, उसे नौकरों के हाथ नहीं छोड़ना चाहती। भाजी लेकर मैंने दाम देने के लिए रुपया निकाला, तो कुँजड़े ने उसे टंकारकर कहा, दूसरा रुपया दो, यह खोटा है। अब मैंने जो खुद टंकारा, तो मालूम हुआ, सचमुच कुछ ठस है। अब क्या करूँ! मेरे पास दूसरा रुपया न था, यद्यपि इस तरह के कटु अनुभव मुझे कितनी बार हो चुके हैं; मगर घर से रुपया लेकर चलते वक्त मुझे उसे परख लेने की याद नहीं रहती। न किसी से लेती ही बार परखती हूँ। इस वक्त मेरे संदूक में ज्यादा नहीं तो बीस-पचीस खोटे रुपये पड़े होंगे, और रेजगारियाँ तो सैकड़ों की ही होंगी। मेरे लिए अब इसके सिवा दूसरा उपाय न था कि भाजी लौटाकर खाली हाथ चली आऊँ। संयोग से महाशयजी उसी दूकान पर भाजी लेने

आये थे। मुझे इस विपत्ति में देखकर आपने तुरन्त एक रुपया निकालकर दे दिया ... ।'

महाशयजी ने बात काटकर कहा — तो इस वक्त आप वह सारी कथा क्यों सुना रही हैं? हम दोनों एक जरूरी काम से जा रहे हैं। व्यर्थ में देर हो रही है।

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा। मुझे उनकी यह अभद्रता बुरी लगी। कुछ-कुछ इसका रहस्य भी समझ में आ गया। बोला — तो आप जाइए; मुझे ऐसा कोई जरूरी काम नहीं है, मैं भी अब लौटना चाहता हूँ।

महाशयजी ने दाँत पीस लिए, अगर वह सुन्दरी वहाँ न होती, तो न-जाने मेरी क्या दुर्दशा करते। एक क्षण मेरी ओर अग्नि-भरे नेत्रों से ताकते रहे, मानो कह रहे हों अच्छा, इसका मजा न चखाया, तो कहना और चल दिये।

मैं देवी के साथ लौटा। सहसा उसने हिचकिचाते हुए कहा — मगर नहीं, आप जाइए, मैं उनके साथ जाऊँगी। शायद मुझसे नाराज हो गये हैं। आज एक सप्ताह से मेरा और उनका रोज साथ हो जाता है और अब अपनी जीवन-कथा सुनाया करते हैं। कैसी नसीब वाली थी, वह औरत, जिसका पति आज भी उसके

नाम की पूजा करता है। आपने तो उन्हें देखा होगा। क्या सचमुच इन पर जान देती थी?

मैंने गर्व से कहा — दोनों में इश्क था।

'और जब से उनका देहान्त हुआ, यह दुनिया से मुँह मोड़ बैठे?'

'इससे भी अधिक! उसकी स्मृति के सिवा जीवन में उनके लिए कोई रस ही न रहा।'

'वह रूपवती थी?'

'इनकी दृष्टि में तो उससे बढ़कर रूपवती संसार में न थी।'

उसने एक मिनट तक किसी विचार में मग्न रहकर कहा — अच्छा आप जायँ। मैं उनके साथ बात करूँगी। ऐसे देवता पुरुष की मुझसे जो सेवा हो सकती है, उसमें क्यों देर करूँ? मैं तो इनका वृत्तान्त सुनकर सम्मोहित हो गयी हूँ।

मैं अपना-सा मुँह लेकर घर चला आया। इत्तफ़ाक से उसी दिन मुझे एक जरूरी काम से दिल्ली जाना पड़ा। वहाँ से एक महीने में लौटा। और सबसे पहला काम जो मैंने किया, वह महाशय होरीलाल का क्षेम-कुशल पूछना था। इस बीच में क्या-क्या नयी बातें हो गयीं यह जानने के लिए अधीर हो रहा था। दिल्ली से इन्हें एक पत्र लिखा था; पर इन हजरत में यह बुरी आदत है कि

पत्रों का जवाब नहीं देते। सुन्दरी से इनका अब क्या संबंध है, आमदरफ्त जारी है, या बन्द हो गयी, उसने इनके पत्नी-व्रत का क्या पुरस्कार दिया, या देनेवाली है? इस तरह के प्रश्न दिल में उबल रहे थे।

मैं महाशयजी के घर पहुँचा, तो आठ बज रहे थे। खिड़कियों के पट बन्द थे। सामने बरामदे में कूड़े-करकट का ढेर था। ठीक वही दशा थी, जो पहले नजर आती थी। चिन्ता और बढ़ी। ऊपर गया तो देखा, आप उसी फर्श पर पड़े हुए जहाँ दुनिया-भर की चीजें बेढंगेपन से अस्त-व्यस्त पड़ी हुई हैं एक पत्रिका के पन्ने उलट रहे हैं। शायद एक सप्ताह से बाल नहीं बने थे। चेहरे पर जर्दी छायी थी।

मैंने पूछा — आप सैर करके लौट आये क्या?

सिटपिटाकर बोले अजी — सैर-सपाटे की कहाँ फुर्सत है भई, और फुर्सत भी हो, तो वह दिल कहाँ है! तुम तो कहीं बाहर गये थे?

'हाँ, जरा देहली तक गया था। अब सुन्दरी से आपकी मुलाकात नहीं होती?'

'इधर तो बहुत दिनों से नहीं हुई।'

'कहीं चली गयी क्या?'

'मुझे क्या खबर!'

'मगर आप तो उस पर बेतरह रीझे हुए थे।'

'मैं उस पर रीझा था! आप सनक तो नहीं गये हैं! जिस पर रीझा था, जब उसी ने साथ न दिया, तो अब दूसरों पर क्या रीझूँगा?'

मैंने बैठकर उसकी गर्दन में हाथ डाल दिया और धमकाकर बोला — देखो होरीलाल, मुझे चकमा न दो। पहले मैं तुम्हें जरूर व्रतधारी समझता था, लेकिन तुम्हारी वह रसिकता देखकर, जिसका दौरा तुम्हारे ऊपर एक महीना पहले हुआ था, मैं यह नहीं मान सकता कि तुमने अपनी अभिलाषाओं को सदा के लिए दफन कर दिया है। इस बीच में जो कुछ हुआ है, उसका पूरा-पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाना पड़ेगा। वरना समझ लो, मेरी और तुम्हारी दोस्ती का अन्त है।

होरीलाल की आँखें सजल हो गयीं। हिचक-हिचककर बोले — मेरे साथ इतना बड़ा अन्याय मत करो, भाईजान! अगर तुम्हीं मुझपर ऐसे सन्देह करने लगोगे, तो मैं कहीं का न रहूँगा। उस स्त्री का नाम मिस इंदिरा है। यहाँ जो लड़कियों का हाईस्कूल है, उसी की हेड मिस्ट्रेस होकर आयी है। मेरा उससे कैसे परिचय हुआ, यह तो तुम्हें मालूम ही है। उसकी सहृदयता ने मुझे उसका प्रेमी बना दिया। इस उम्र में और शोक का यह भार सिर पर

रखे हुए, सहृदयता के सिवा मुझे उसकी ओर कौन-सी चीज खींच सकती थी? मैं केवल अपनी मनोव्यथा की कहानी सुनाने के लिए नित्य विरहियों की उमंग के साथ उसके पास जाता था। वह रूपवती है, खुशमिजाज है, दूसरों का दुःख समझती है और स्वभाव की बहुत कोमल है, लेकिन तुम्हारी भाभी से उसकी क्या तुलना! वह तो स्वर्ग की देवी थी। उसने मुझ पर जो रंग जमा दिया, उस पर अब दूसरा रंग क्या जमेगा। मैं उसी ज्योति से जीवित था। उस ज्योति के साथ मेरा जीवन भी विदा हो गया। अब तो मैं उसी प्रतिमा का उपासक हूँ, जो मेरे हृदय में है। किसी हमदर्द की सूरत देखता हूँ, तो निहाल हो जाता हूँ और अपनी दुःख-कथा सुनाने दौड़ता हूँ। यह मेरी दुर्बलता है, यह जानता हूँ, मेरे सभी मित्र इसी कारण मुझसे भागते हैं, यह भी जानता हूँ। लेकिन क्या करूँ भैया, किसी-न-किसी को दिल की लगी सुनाये बगैर मुझसे नहीं रहा जाता। ऐसा मालूम होता है, मेरा दम घुट जायगा। इसलिए जब मिस इंदिरा की मुझ पर दया-दृष्टि हुई; तो मैंने इसे दैवी अनुरोध समझा और उस धुन में ज़ो मेरे मित्रवर्ग दुर्भाग्यवश उन्माद समझते हैं — वह सब-कुछ कह गया, जो मेरे मन में था और है एवं मरते दम तक रहेगा। उन शुभ दिनों की याद कैसे भुला दूँ? मेरे लिए तो वह अतीत वर्तमान से भी ज्यादा सजीव और प्रत्यक्ष है। मैं तो अब भी उसी अतीत में रहता हूँ। मिस इंदिरा

को मुझ पर दया आ गयी, एक दिन उन्होंने मेरी दावत की और कई स्वादिष्ट खाने अपने हाथ से बनाकर खिलाये। दूसरे दिन मेरे घर आयीं और यहाँ की सारी चीजों को व्यवस्थित रूप में सजा गयीं। तीसरे दिन कुछ कपड़े लायीं और मेरे लिए खुद एक सूट तैयार किया! इस कला में बड़ी चतुर हैं।

एक दिन शाम को क्वींस पार्क में मुझसे बोलीं — आप अपनी शादी क्यों नहीं कर लेते?

मैंने हँसकर कहा — इस उम्र में अब क्या शादी करूँगा, इंदिरा! दुनिया क्या कहेगी!

मिस इंदिरा बोलीं — आपकी उम्र अभी ऐसी क्या है। आप चालीस से ज्यादा नहीं मालूम होते।

मैंने उनकी भूल सुधारी — मेरा पचासवाँ साल है।

उन्होंने मुझे प्रोत्साहन देकर कहा — उम्र का हिसाब साल से नहीं होता, महाशय, सेहत से होता है। आपकी सेहत बहुत अच्छी है। कोई आपको पान की तरह फेरने वाला चाहिए। किसी युवती के प्रेम-पाश में फँस जाइए। फिर देखिए, यह नीरसता कहाँ गायब हो जाती है।

मेरा दिल धड़-धड़ करने लगा। मैंने देखा मिस इंदिरा के गोरे मुख-मंडल पर हलकी-सी लाली दौड़ गयी है। उनकी आँखें शर्म से झुक गयी हैं और कोई बात बार-बार उनके ओंठों तक आकर लौट जाती है! आखिर उन्होंने आँख उठायी और मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोलीं — अगर आप समझते हों कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकती हूँ, तो मैं हर तरह हाजिर हूँ, मुझे आपसे जो भक्ति और प्रेम है, वह इसी रूप में चरितार्थ हो सकता है।

मैंने धीरे से अपना हाथ छुड़ा लिया और काँपते हुए स्वर में बोला — मैं तुम्हारी इस कृपा का कहाँ तक धन्यवाद दूँ, मिस इंदिरा; मगर मुझे खेद है कि मैं सजीव मनुष्य नहीं, केवल मधुर समृतियों का पुतला हूँ। मैं उस देवी की स्मृति को अपनी लिप्सा और तुम्हारी सहानुभूति को अपनी आसक्ति से भ्रष्ट नहीं करना चाहता।

मैंने इसके बाद बहुत-सी चिकनी-चुपड़ी बातें कीं, लेकिन वह जब तक यहाँ रहीं, मुँह से कुछ न बोलीं। जाते समय भी उनकी भँवें तनी हुई थीं। मैंने अपने आँसुओं से उनकी ज्वाला को शांत करना चाहा; लेकिन कुछ असर न हुआ। तब से वह नजर नहीं आयीं। न मुझे हिम्मत पड़ी कि उनको तलाश करता, हालाँकि चलती बार उन्होंने मुझसे कहा था, जब आपको कोई कष्ट हो और आप मेरी जरूरत समझें तो मुझे बुला लीजिएगा।

होरीलाल ने अपनी कथा समाप्त करके मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा जो चाहती थीं कि मैं उनके व्रत और संतोष की प्रशंसा करूँ; मगर मैंने उनकी भर्त्सना की — कितने बदनसीब हो तुम होरीलाल, मुझे तुम्हारे ऊपर दया भी आती है और क्रोध भी! अभागे, तेरी जिन्दगी सँवर जाती। वह स्त्री नहीं थी ईश्वर की भेजी कोई देवी थी, जो तेरे अंधेरे जीवन को अपनी मधुर ज्योति से आलोकित करने के लिए आयी थी, तूने स्वर्ण का-सा अवसर हाथ से खो दिया।

होरीलाल ने दीवार पर लटके हुए अपनी पत्नी के चित्र की ओर देखा और प्रेम-पुलकित स्वर में बोले — मैं तो उसी का आशिक हूँ भाईजान, और उसी का आशिक रहूँगा।

• • •